संस्थापक
शिव वर्मा
संपादकीय परामर्श
दूधनाथ सिंह
ज़ुबैर रज़वी
संपादक
मुरली मनोहर प्रसाद सिंह
चंचल चौहान
संपादकीय सहयोग
कांतिमोहन 'सोज़'
रेखा अवस्थी
जवरीमल्ल पारख
संजीव कुमार
आवरण चित्र
के. रवींद्र
कंपोज़िंग सहयोग
कंचन सिन्हा
इस अंक की सहयोग राशि
साठ रुपये
(डाक ख़र्च अलग)
कार्यालय सहयोग
सुजीत कुमार
संपादकीय कार्यालय
42, अशोक रोड
नयी दिल्ली–110001
Email : jlsind@gmail.com
फ़ोन : 011-23738015
मो. : 9818859545, 9811119391
Website: www.jlsindia.org
प्रकाशन, संपादन, प्रबंधन पूर्णतः ग़ैरव्यावसायिक और अवैतनिक।
पत्रिका में प्रकाशित विचार लेखकों के अपने हैं, जलेस की सहमति आवश्यक नहीं।

जनवादी लेखक संघ की केंद्रीय पत्रिका

नया पथ

वर्ष 29 अक्टूबर '14-मार्च '15 (संयुक्तांक) अंक 1

अनुक्रम

संपादकीय : झांसों का कारोबार / 3

व्याख्यान

डॉ. अंबेडकर की विरासत और हमारे समय की चुनौतियां : *तुलसीराम* / 5

विशेष

क्यों लिखें? : *ज्यां पॉल सार्त्र* / 16

वाचिक

चढ़िये हाथी ग्यान को, सहज दुलीचा डारि : *(नामवर सिंह से योगेश तिवारी और सुखप्रीत कौर की बात-चीत)* / 30

चिरयुवा साठोत्तरी पीढ़ी : *शेखर जोशी* / 48

आलेख

औपनिवेशिक भारत में परंपरा का संघटन : हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान : *वसुधा डालमिया* / 53

'अंधेरे में' : अस्मिता और आत्मनिर्वासन के प्रश्न : *चंचल चौहान* / 78

'पीके' के बहाने अ-धर्म चर्चा : *जवरीमल्ल पारख* / 100

दलित साहित्य की भाषिक सैद्धांतिकी : *टेकचंद* / 107

बेगम अख़्तर की जन्मशती पर

लेकिन अभी तक याद के साये नहीं जाते : *कांतिमोहन 'सोज़'* / 114

कहानियां

लटकी हुई शर्त : *प्रह्लाद चन्द्र दास* / 127

यह इन्हीं दिनों की बात है : *मनोज कुलकर्णी* / 133

हासिलजमा : *परमानन्द आर्य* / 143

कविताएं

पांच कविताएं : *प्रमोद तिवारी* / 154

पांच कविताएं : *विपिन कुमार शर्मा* / 163

तीन कविताएं : *रतीनाथ योगेश्वर* / 168

अब : *विनीताभ* / 172

रेखाएं : *भावना मिश्र* / 176

समीक्षाएं

लेडीज़ क्लब : एक समस्या उपन्यास : *चंचल चौहान* / 179

ठहराव के भ्रम और गति की वास्तविकता के बीच : *संजीव कुमार* / 182

सहज, सुग्राह्य भाषा में संप्रेषणीय कविताएं : *अजय कुमार पाण्डेय* / 188

संभावनाशाली कवि निशांत की कविताई : *अमीर चन्द वैश्य* / 192

अनहद का शेखर जोशी अंक : *हितेश कुमार सिंह* / 200

स्मृति-शेष

बिपन चन्द्र होने के मायने : *आलोक बाजपेयी* / 204

दस्तावेज़

नवगठित कार्यकारिणी की पहली बैठक में पारित सम्मेलन में पेश की गयी केंद्र की रिपोर्ट / 209

रपट

जनवादी लेखक संघ (दिल्ली राज्य) का आठवां राज्य सम्मलेन : *अरविन्द मिश्र* / 224

उत्तर प्रदेश जनवादी लेखक संघ का सातवां राज्य सम्मलेन मुरादाबाद में संपन्न : *नलिन रंजन सिंह* / 226

पिछले कुछ महीनों में अनेक लेखक-पत्रकार-संस्कृतिकर्मी एवं समाजकर्मी हमारे बीच नहीं रहे : डॉ. तुलसीराम, कामरेड गोविंद पानसारे, वी.आर. कृष्ण अय्यर, आर.के. लक्ष्मण, विनोद मेहता, अशोक सेकसरिया, नंद चतुर्वेदी, गिरीश रस्तोगी, कामरेड जितेन्द्र रघुवंशी, कृष्णदत्त पालीवाल, प्रेमचंद सहजवाला, विद्याधर शुक्ल, सैयद हामिद, राजेंद्र पुरी, भवानीशंकर थपलियाल, मीरा कोसंबी। *नया पथ* परिवार इन सभी को विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

संपादकीय

झांसों का कारोबार

पिछले बरस इलाहाबाद में जनवादी लेखक संघ के आठवें राष्ट्रीय सम्मेलन में हमने अपने समाज के सामने आसन्न ख़तरे की जो चर्चा केंद्रीय विषय के रूप में की थी और जिसको लेकर अन्य संगठनों व अनेक लेखकों के साथ साझा प्रपत्र 'इलाहाबाद घोषणा' के नाम से जारी किया था, उसमें निहित सारी आशंकाएं आज एक एक कर सामने आ रही हैं। सांप्रदायिक-फ़ासीवादी ताक़तों ने छलपूर्ण नारों, वायदों और कॉरपोरेट धनबल से धुंआधार प्रचार करके केंद्र में सत्ता हासिल कर ली। देश के अवाम के सिर्फ़ 31 प्रतिशत वोटों से भाजपा को इतनी सीटें हासिल हो गयीं कि उसे पूर्ण बहुमत मिल गया, क्योंकि हमारी पूंजीवादी-सामंती व्यवस्था का चुनावतंत्र इसी प्रकार का है। देश की वामपंथी व जम्हूरियतपसंद, धर्मनिपेक्ष राजनीतिक ताक़तें इतनी बिखरी हुई थीं कि वे कांग्रेस की जनविरोधी नीतियों के ख़िलाफ़ कोई वैकल्पिक नीतियों वाला विश्वसनीय गठबंधन जनता के सामने पेश नहीं कर सकीं। अपनी अपनी ढपली और अपना अपना राग अलापते हुए सारे दल जनता के बीच गये, मगर उन पर जनता ने भरोसा नहीं जताया। देशी-विदेशी कारपोरेट घरानों के धनबल और हिंदुत्ववादी संगठनों की सांप्रदायिक ध्रुवीकरण की गतिविधियों व धुंआधार प्रचार से अवाम के सामने और कोई विकल्प ही नहीं आ पा रहा था, सो वही हुआ जिसकी आशंका हम चुनाव से कुछ महीने पहले इलाहाबाद में जता रहे थे।

सत्ता में आने से पहले 'हिंदुत्ववादी' संगठन जो सांप्रदायिक हिंसा की गतिविधियां कर रहे थे, उनकी सरकार के केंद्र में आने के साथ उनमें और अधिक तेज़ी आ गयी। मोदी सरकार के मंत्री हर रोज़ ऐसे बयान देने लगे जिनसे सांप्रदायिक नफ़रत को बढ़ावा मिले। इस नफ़रत के इज़हार के लिए एक मंत्री ने 'रामज़ादे' और 'हरामज़ादे' जैसी गाली-गलौजवाली शब्दावली हवा में उछाली, संविधान की जगह हिंदूधर्म की एक संस्कृत पुस्तक को 'राष्ट्रीय पुस्तक' का दर्जा देने की मांग एक दूसरे मंत्री ने पेश कर दी। एक और मंत्री ने कह दिया कि देश के सभी नागरिक 'हिंदू' हैं।

दरअसल, ये सारे कारनामे अवाम की मूल समस्याओं से ध्यान हटाने के लिए हर रोज़ किये जा रहे हैं। झांसा देनेवाले लोग और कर ही क्या सकते हैं! सत्य यह है कि आर एस एस-भाजपा सरकार आर्थिक स्तर पर 1991 से चली आ रही उसी पूंजीपरस्त 'नवउदारवादी' और 'सुधारवादी' नीति को कहीं ज़्यादा खूंखार तरीक़े से लागू करने में लग गयी है जो अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी की गुलामी करते हुए पहले कांग्रेस ने अपनायी और उसी पर पहली एनडीए सरकार चली। दोनों ने ही बारी बारी से लोकलुभावन नारे दिये, जनता को ठगा और देशी विदेशी कॉरपोरेट घरानों को मालामाल किया। मनमोहन सिंह ने 100 दिन में मंहगाई कम करने का वादा किया और अमल उससे ठीक उल्टा। मोदी ने 100 दिन में विदेश से काला धन भारत लाकर हर नागरिक के बैंक खाते में 15 लाख रुपये जमा कराने का वादा किया, अब बग़लें झांक रहे हैं। कांग्रेस की तरह यह सरकार भी तमाम जनविरोधी क़ानून संसद में ला रही है

जिनसे पूंजीपतियों को बेहिसाब फ़ायदा पहुंचेगा और अवाम की हालत और ज़्यादा ख़स्ता होगी। किसानों की ज़मीन उनकी सहमति के बिना हड़प लेने और उद्योगपतियों को सौंप देने का क़ानून लाया गया। बीमा, रेलवे, प्रतिरक्षा आदि सरकारी क्षेत्र के उद्यमों में विदेशी पूंजी निवेश को 26 प्रतिशत से बढ़ा कर 49 प्रतिशत किया जा रहा है। बीमा क्षेत्र में घुसने के लिए देशी-विदेशी पूंजीपति कब से बेक़रार थे क्योंकि इस क्षेत्र में कम पूंजी लगाने से अकूत फ़ायदा है। अब उनकी चांदी ही चांदी है। ये सारे काम आइ एम एफ़-विश्वबैंक के आदेशों से किये जा रहे हैं जो विश्वपूंजीवाद को संकट से उबारने के लिए उपायों के रूप में अमल में लाये जा रहे हैं। इसीलिए आर्थिक नीतियों के लिए अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के संस्थानों में काम कर चुके अर्थशास्त्री भारत सरकार पर थोपे जाते हैं। कांग्रेस ने मनमोहन सिंह-मोंटेकसिंह-रघुराम राजन आदि को विश्वबैंक से हमारी अर्थव्यवस्था संचालित करने के लिए रखना स्वीकार किया, मोदी ने भी विश्वबैंक आदि में काम कर चुके अरविंद सुब्रह्मणियन, अरविंद पानागारिया को पहले की आयातित पुरानी टीम की जगह अपना सलाहकार स्वीकार किया, रघुराम राजन तो पहले से हैं ही। देश की अर्थव्यवस्था पर वे ही तत्व क़ाबिज़ हैं, सिर्फ़ कुछ चेहरे बदले हैं, नीतियां नहीं। ये नीतियां ही कांग्रेस के सफ़ाये के लिए ज़िम्मेदार हैं, ये ही नीतियां आनेवाले समय में भाजपा का भी सफ़ाया कर सकती हैं, बशर्ते कोई जनपक्षीय लोकतांत्रिक विश्वसनीय राजनीतिक विकल्प हमारे देश में उभर सके।

जैसे-जैसे आर एस एस-भाजपा सरकार की पोल खुलती जाती है, वैसे-वैसे उसका फ़ासीवादी चरित्र सामने आता जा रहा है। सत्ता में आने से पहले वे अभिव्यक्ति की आज़ादी पर और वैज्ञानिक सोच का प्रसार करने वाली कई पुस्तकों और लेखकों पर हमला बोलने में कामयाब हो चुके थे, दिल्ली विश्वविद्यालय के इतिहास के कोर्स से ए के रामानुजन का 'तीन सौ रामायणें' शीर्षक निबंध हटवाने का मामला हो, वेंडी डोनिगर की पेंगुइन से प्रकाशित किताब को नष्ट करवाने का कुकर्म हो या नरेंद्र दोभालकर और का. गोविंद पानसरे की हत्या, ये सभी मामले आर एस एस के फ़ासीवादी चेहरे को बेनक़ाब करते हैं। ये तत्व लेखकों को शारीरिक और मानसिक पीड़ा पहुंचाने में हिटलरवाहिनी की ही तरह सक्रिय हैं। इनकी करतूतों की कड़ी में तमिल लेखकों, पेरुमल मुरुगन और पुरियुर मुरुगेसन पर हमले का मामला सबसे ताज़ा है, और शायद सबसे भयावह भी। अभिव्यक्ति की आज़ादी को कुचलने में ये किस हद तक जा सकते हैं, इसकी मिसाल हैं ये ताज़ा घटनाएं। ख़बर है कि एक टी वी चैनल पर भी इन्हीं 'हिंदुत्ववादी' तत्वों ने हमला बोला है, जैसे एक समय 'तमस' सीरियल को लेकर दूरदर्शन पर हिंसक हमला बोला था। यू आर अनंतमूर्ति के साथ तो इन्होंने बेहद निंदनीय दुर्व्यवहार किया ही था जिसका आघात वे अपनी मृत्यु तक झेलते रहे। अब ये सांप्रदायिक फ़ासीवादी तत्व सरकार के तमाम संस्थानों पर क़ब्ज़ा कर चुके हैं। जहां वित्तीय संस्थानों पर आर एस एस और विश्वपूंजीवाद के पैरोकार अर्थशास्त्री क़ाबिज़ हैं, वहीं शिक्षा, संस्कृति आदि से जुड़े संस्थानों पर भी आर एस एस ने सीधे सीधे क़ब्ज़ा जमा लिया है। आइ सी एच आर हो, केंद्रीय हिंदी संस्थान हो, नेशनल बुक ट्रस्ट या शिक्षा मंत्रालय हो, सभी जगह 'हिंदुत्ववादी' तत्व बिठा दिये गये हैं। हमारे देश और समाज की मूलभूत समस्याओं के वैज्ञानिक समाधान या तर्कसंगत हल की इन हालात में क्या उम्मीद की जा सकती है? मुक्तिबोध के शब्दों में, 'समस्या एक.../मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों के/सभी मानव/सुखी सुंदर और शोषणमुक्त/कब होंगे?' और यह समस्या जस की तस है।

यह अंक कुछ मजबूरियों की वजह से संयुक्तांक के रूप में आपके सामने हम ला पा रहे हैं, इसके लिए क्षमायाचना।

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह/चंचल चौहान

डॉ. अंबेडकर की विरासत और हमारे समय की चुनौतियां

तुलसीराम

13 फ़रवरी को हम सबके अत्यंत प्रिय डॉ. तुलसीराम इस दुनिया में नहीं रहे। यह इस देश की, और ख़ास तौर से हिंदी प्रदेश की, वाम-जनवादी ताक़तों के लिए एक बड़ा आघात था। तुलसीराम जी लंबे समय से बीमार चल रहे थे। हर हफ़्ते दो बार उन्हें डायलिसिस पर जाना होता था। इसके बावजूद वे सक्रिय थे और देश में सांप्रदायिक दक्षिणपंथ के उभार के ख़िलाफ़, अपनी शारीरिक अशक्तता के बावजूद, लगातार लिख-बोल रहे थे। नवंबर महीने में हुए जनवादी लेख संघ के दिल्ली राज्य सम्मेलन में उन्होंने उद्घाटन-भाषण दिया था और उससे पहले जून महीने में 'आम चुनावों में मीडिया की भूमिका' पर आयोजित जलेस की संगोष्ठी में भी उन्होंने लंबा वक्तव्य दिया था जो इस पत्रिका के अप्रैल-सितंबर 2014 के अंक में अविकल प्रकाशित है। इन दोनों कार्यक्रमों में जिन लोगों ने उन्हें सुना, वे जानते हैं कि दवाइयों के असर से उनका गला बुरी तरह बैठ चुका था, बहुत ज़ोर लगाकर बिल्कुल फंसी हुई आवाज़ में वे बोल पा रहे थे, पर उन्होंने हार नहीं मानी और सांप्रदायिक दक्षिणपंथ के ख़तरों के बारे में विस्तार से बात की। वे शरीर से टूट चुके थे, पर मन पहले की तरह ही, या शायद पहले से भी ज़्यादा, मज़बूत और जिजीविषापूर्ण बना हुआ था।

जनवादी लेखक संघ ने अपने केंद्रीय कार्यालय में 19 फ़रवरी को तुलसीराम जी की याद में एक शोक-सभा रखी थी, जिसमें पारित शोक-प्रस्ताव इस प्रकार है :

> *'डॉ. तुलसीराम की याद में आयोजित यह शोक-सभा उनके प्रति हृदय से श्रद्धांजलि अर्पित करती है। समता और न्याय की लड़ाई के अथक सिपाही तथा अंधविश्वासों के ख़िलाफ़ वैज्ञानिक चेतना के प्रबल पक्षधर डॉ. तुलसीराम बहुत गंभीर चिंतक और रचनाकार थे। उनका विचारलोक बौद्ध-दर्शन, मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद के उज्ज्वल पक्षों का समाहार था। इनसे दिशा हासिल करते हुए उन्होंने एक वैकल्पिक समाज के निर्माण के संघर्ष में अपना अमूल्य वैचारिक योगदान दिया जिसकी प्रासंगिकता और दूरगामी महत्ता संदेह से परे है। वे पिछले दिनों दलित चिंतन में उभरे अस्मितावाद से चिंतित थे और मार्क्सवाद तथा अम्बेडकरवाद की सार्वभौमिक मुक्ति की अवधारणा से उसे जोड़ना चाहते थे। वे एक ऐसे समय में हमें छोड़ गये जब पूंजीवाद अपने सबसे लुटेरे नवउदारवादी अवतार में सामाजिक न्याय और समता की लड़ाई को लगातार पीछे धकेल रहा है और जाति-पांति के उन्मूलन की मुहिम सांप्रदायिकता के संगठित उभार के आगे संकट में है। डॉ. तुलसीराम इन हालात से बेहद चिंतित थे और बड़े से बड़ा मोर्चा बना कर संघर्ष को आगे बढाने के हिमायती थे। उनका नहीं रहना उनके सरोकारों को साझा करनेवाले हम जैसे लोगों के लिए अत्यंत दुखदायी है। हमें विश्वास है कि उनके विचार अलोक-स्तम्भ के सामान हमारा मार्गदर्शन करते रहेंगे।'*

तुलसीराम जी को याद करते हुए हम उनके एक भाषण का लिप्यंकन प्रस्तुत कर रहे हैं। यह 2014 में डॉ. अम्बेडकर के जन्मदिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय में आयोजित एक संगोष्ठी में दिया गया भाषण है। संगोष्ठी किन्हीं कारणों से डॉ. अंबेडकर के जन्मदिन, 14 अप्रैल के बजाय 17 अप्रैल को हो पायी थी। तुलसीराम जी के अनन्य प्रशंसक, युवा लेखक धर्मवीर यादव 'गगन' ने हमें यह लिप्यंकन उपलब्ध कराया। हम उनके शुक्रगुज़ार हैं। —सं.

डॉ. अंबेडकर के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनकारी आंदोलनों की सबसे बड़ी सच्चाई 'जाति व्यवस्था' का विरोध था; यह उनके आंदोलन की आधारभूत विशेषता था। जब *एनाहिलेशन ऑफ़ कास्ट* पुस्तक की चर्चा चलती है, तब बाबा साहब का दिया गया केंद्रीय विचार स्पष्ट होता है। यह केंद्रीय विचार 'जाति' को लेकर है। बाबा साहब ने साफ़-साफ़ लिखा कि 'जाति हिंदू धर्म की सांस है। अगर 'जाति' को हिंदू धर्म से निकाल दिया जाये तो उसकी सांस की रुक जायेगी और यह धर्म मृतप्राय हो जायेगा। वह मर जायेगी, इसीलिए उन्होंने कहा कि हिंदू धर्म कभी 'जाति' नहीं छोड़ सकता। उन्होंने यह भी कहा कि हिंदू धर्म कभी भी मिशनरी धर्म नहीं बन सका। मिशनरी का मतलब है, अपने देश की सीमाओं से आगे बढ़ते हुए अनेक देशों में फैले, सारी दुनिया में फैले, साथ ही वह मानवतावादी और जनतांत्रिक हो। दुनिया के प्रमुख मिशनरी धर्म हैं—भारत का बौद्ध धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म आदि। लेकिन हिंदू धर्म कभी भी मिशनरी धर्म नहीं रहा। यह धर्म के मामले में ऐसा अपवाद है जो दुनिया के किसी देश में नहीं गया। डॉ. अंबेडकर ने इसके कारणों को बताया कि इसमें छुआछूत, ऊंच-नीच और जातिगत आधार पर भेदभाव हैं। हिंदू धर्म का प्रचार करने वाले दुनिया के किसी देश में जाकर किस हिम्मत से यह कहते कि आप अपने सामाज को चार भागों में बांट दीजिए। एक को अछूत घोषित कर दीजिए और एक को सबसे श्रेष्ठ घोषित कर दीजिए। और बताइए कि श्रेष्ठ लोग सीधे ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए हैं। आज भी किसी हिंदू या हिंदू धर्म प्रचारक की यह हिम्मत है कि वह दुनिया के सामने, दुनिया के किसी कोने में जाकर ऐसा कहे? यह बहुत ही विचारणीय प्रश्न है कि हिंदू धर्म मिशनरी धर्म क्यों नहीं बन सका?

हिंदू धर्म सामाजिक-धार्मिक भेदभाव कभी नहीं छोड़ सका। मैं एक दो छोटी-छोटी घटनाओं का ज़िक्र करते हुए अपनी बात कहूंगा। 1937 ई. में पहली बार असेम्बलियों का चुनाव हुआ था। उस समय भारत पाकिस्तान एक थे। कराची की सीट दलितों के लिए रिज़र्व कॉन्स्टिट्युएंसी थी। उस सीट पर 'मालू' नाम के दलित चुनाव जीत गये थे। उस समय उनका स्वागत जुलूस कांग्रेसियों ने निकाला था। सबसे पहले विचार हुआ कि इनका स्वागत कैसे किया जाये? तो कुछ लोगों ने सुझाया कि इनका स्वागत घोड़े पर बैठाकर किया जाना चाहिए। वहां उपस्थित सवर्ण लोगों ने इसका तुरंत विरोध किया और कहा कि एक दलित का 'घोड़े' पर बैठाकर स्वागत किया ही नहीं जा सकता। अंततः इस बात का निर्णय हुआ कि उनको 'गधे' पर बैठा कर घुमाया और स्वागत किया जाये और वैसा ही हुआ। उस ज़माने में यह ख़बर *लंदन टाइम्स* में छपी थी कि भारत में दलितों का स्वागत कैसे किया जाता है?

ऐसी अनेक घटनाएं हैं। मालवा में कुछ साल पहले भूकंप आया था जिसमें हज़ारों लोग दब कर मर गये थे। एक प्रतिभा बेदी नाम की महिला थीं जो बौद्ध भिक्षुणी बन गयी थीं। मानसरोवर झील के बाद पड़ने वाला बौद्धों का देश देखने की उनकी तीव्र इच्छा थी। वह तिब्बत जा रही थीं। वह भी उस भूकंप में दब कर मर गयीं। इस देश के जातिवादी लोग जब मलबे से लाश निकाल रहे थे, उस दौरान एक क्षेत्र विशेष में दबी लाशों को 'नगर पालिका' के लोगों ने निकालने से मना कर दिया। जब उनसे

पूछा गया कि आप ऐसा क्यों कर रहे हैं तो उन लोगों ने बताया कि वहां दलितों की बस्ती थी। इसलिए वहां दबी लाशें दलितों की हैं, जिन्हें हम छू नहीं सकते। इसलिए हम उस मलबे में दबी लाशों को नहीं निकाल रहे हैं।

ये आधुनिक ज़माने का भारतीय समाज है। आप सोचिए कि नेचुरल कैलैमिटी में एकता देखने को मिलती है, उस आपदा में इस तरह का जातीय आधार पर स्पृश्यता भरा व्यवहार सवर्ण हिंदू करते हैं। इस घटना को बहुत दिन नहीं हुए, 1998 की बात है, जब हमारे देश के सबसे बड़े ब्राह्मण नेता अटल बिहारी वाजपेयी जी प्रधानमंत्री थे। इतना ही नहीं, 2003 में गुजरात में जो भूकंप आया था, हज़ारों की संख्या में दलितों के घर नेस्तनाबूद हो गये थे। आज मोदी जी का इतना गुणगान किया जाता है। वे उस समय भी मुख्यमंत्री थे। उन्होंने भूकंप पीड़ितों के लिए टेंट गड़वाये थे। उसमें दलितों का टेंट अलग, सभी टेटों से दूर हट कर गाड़ा गया था। दलितों के अधिकतर टेंट ख़ाली थे, क्योंकि दलितों के टेंट में हिंदुत्ववादी लोग दलितों को जाने नहीं देते थे। दलित सड़क पर रातें बिताते थे। मुफ़्त में बांटी जाने वाली भोजन सामग्री दलितों को नहीं लेने दी जाती थी, क्योंकि भोजन में छूत लग जाती। *इंडियन एक्सप्रेस* न्यूज़ पेपर ने इसको विस्तार से छापा था कि इस तरह की स्थिति में भी इस देश के लोग कैसे सामाजिक भेदभाव का व्यवहार करते हैं। और ये लोग कहते हैं—'गर्व से कहो, हम हिंदू हैं।' इस तरह की बहुत सारी घटनाएं हैं इस ज़माने में भी। एक और घटना मैं बताना चाहूंगा जो 1999 की है। तमिलनाडु के एक गांव में दलित और उच्च जातियों के लोग रहते थे। इस घटना को सुनेंगे तो आप हंसेंगे। एक बार एक दलित बस्ती का कुत्ता सवर्ण बस्ती की कुतिया से मेल कर बैठा। उसके बाद ब्राह्मण दलित बस्ती में आये और फ़रमान जारी किया कि अपनी बस्ती के सारे कुत्तों को मार डालो। दलितों ने कहा, यह कैसे हो सकता है। इसके बाद ब्रह्मणों ने दलितों को ही मारना शुरू कर दिया। सारे दलित गांव छोड़कर भाग गये। अब आप सोचिए कि ये जाति व्यवस्था का ज़हर किस गहराई तक घुल गया है कि सवर्ण बस्ती की कुतिया भी सवर्ण मानी जाती है। हमारे देश में सामाजिक भेदभाव की यह स्थिति है।

अब जहां तक बाबा साहब डॉ. अंबेडकर का सवाल है तो उनके ज़माने में इससे ज़्यादा घटनाएं होती थीं। ख़ुद अंबेडकर ने अपने लेखन में कई जगह ज़िक्र किया है। गांधीजी का *हरिजन* नामक जो पत्र निकलता था, उसमें ऐसी बहुत सारी घटनाओं का उल्लेख है। एक घटना का ज़िक्र अंबेडकर करते हैं कि एक गांव की सवर्ण बस्ती में पशुओं की कोई बीमारी फैली थी। 40 भैंसे बीमारी से मर गयी थीं। इस पर ब्राह्मणों ने कहा—दलितों ने काला जादू कर दिया है, इसलिए हमारी भैंसे मर गयी हैं। पूरी दलित बस्ती के लोगों को मार-मार कर वहां से भगा दिया गया। उस समय ब्रिटिश ज़माना था। सरकार ने हस्तक्षेप करके इस तरह की घटनाओं को रोका। अंबेडकर ने इस तरह की तमाम घटनाओं का उल्लेख किया है।

एक और घटना मैं बताऊं। 1947 में विभाजन के बाद पाकिस्तान से रिफ़्यूजी भाग-भाग कर भारत आ रहे थे। रिफ़्यूजियों के लिए भारतीय पंजाब में टेंट लगाये गये थे। खाद्य सामग्री उन टेंटों में पहुंचायी जा रही थी। उनमें बड़ी संख्या दलित रिफ़्यूजियों की थी। इन दलित रिफ़्यूजियों के साथ वे लोग भी थे जो अपने को हिंदू कहते थे। ये सभी एक ही इलाक़े से चले थे। अपने आप को हिंदू कहने वाले लोग उन दलितों को अच्छे से पहचानते थे। वे भारतीय हिंदुत्ववादियों को चिह्नित करके पाकिस्तान से आये हुए दलित रिफ़्यूजियों की पहचान कराते थे और ये भारतीय हिंदुत्ववादी लोग मार-मार कर दलित

रिफ़्यूजियों को वापस पाकिस्तान खदेड़ रहे थे। किसी तरह यह बात डॉ. अंबेडकर को पता चली। उन्होंने नेहरू जी को चिट्ठी लिखी। नेहरू जी ने आश्वासन दिया कि ऐसा कुछ भी वे होने नहीं देंगे और उन्होंने दलित के स्थान का इंतज़ाम किया। तो सोचिए कि यह दलितों के ऊपर किस स्तर का अत्याचार है। आप सोचिए कि विभाजन के समय कितनी बुरी दशा में रिफ़्यूजी भारत से पाकिस्तान जा रहे थे और पाकिस्तान से भारत आ रहे थे। लाखों लोग मारे गये थे। प्राप्त आंकड़ों के अनुसार दस लाख से ज़्यादा लोग मारे गये थे। लोग भीषण सांप्रदायिक दंगों के शिकार हुए। ऐसी कठिन स्थिति में दलितों के साथ ऐसा व्यवहार होता है। यह बहुत दुखद है। दलितों के साथ आज भी अनेक दुखद स्थितियों में ऐसा व्यवहार किया जाता है।

'बाबा साहब डॉ. अंबेडकर और उनकी विरासत' का जहां तक सवाल है तो 'जाति व्यवस्था' का विरोध उनकी सबसे महत्वपूर्ण विरासत है। 'जाति' के बारे में डॉ. अंबेडकर की तरह किसी भी भारतीय इतिहासकार ने पहले विचार नहीं किया था। जितने भी इतिहासकार थे, वे अन्य पक्षों पर लिखते थे लेकिन जाति के बारे में कुछ भी नहीं लिखते थे। यहां तक कि जो अपने को मार्क्सिस्ट हिस्टोरियन कहते हैं, उन लोगों का भी ध्यान नहीं जाता था। बिपन चंद्रा ने *मॉडर्न इंडिया* नाम से जो किताब लिखी है, उसमें वे अंबेडकर के ऊपर सिर्फ़ एक वाक्य लिखते हैं कि 'पूना पैक्ट गांधी अंबेडकर के बीच हुआ था।' बाक़ी कुछ भी नहीं, कि उन्होंने जाति विरोधी आंदोलन चलाया था, और कौन-कौन से आंदोलन किये थे आदि। तो जाति का सवाल सबके सामने था। इसको छिपाने की कोशिश हमेशा की जाती रही।

आज से दो दिन पहले *द हिंदू* अख़बार ने एक लेख छापा था, जिसका शीर्षक लगाया, *एनशिएंट हिंदू सोसाइटी : ए यूनाइटेड सोसाइटी*। जिस समाज में हर व्यक्ति जाति के आधार पर बंटा हो, आप ही सोचिए वह समाज कितना यूनाइटेट होगा। ऐसे लेखकों को लगता है जैसे कोई सामाजिक जानकारी ही न हो। 'डिवाइड एंड रूल' का सिंबल हमेशा ब्रिटिश लोगों से जोड़ा जाता है। और कहा जाता है कि वे यहां आये और 'डिवाइड एंड रूल' की नीति को लागू करते रहे। डॉ. अंबेडकर ने साफ़-साफ़ लिखा है कि 'डिवाइड एंड रूल' की नीति हिंदू धर्म की देन है, जिसने पूरे समाज को चार भागों में बांटा। उसके बाद उसको विभिन्न जातीयों में बांटा और शासन करना शुरू कर दिया।' तो यह 'डिवाइड एंड रूल' की नीति हिंदू धर्म की ही देन है, न कि ब्रिटिश उपनिवेशवाद की। ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने तो सिर्फ़ उसे लागू किया। और इसीलिए जब जाति का मुद्दा डॉ. अंबेडकर के सामने आया तो उन्होंने कहा, 'जाति व्यवस्था एक चार मंज़िली बिल्डिंग की तरह है जिसमें न तो कोई दरवाज़ा है, न कोई खिड़की है। जिस फ़्लोर पर जो रहता है, उसी पर उसका जीवन बीत जाता है।' यह कितनी बड़ी सच्चाई है कि आज भी जिस जाति में जो पैदा होता है उसी में उसकी मृत्यु होती है। उसकी पूरी ज़िंदगी उन्हीं कर्मकांडों में बीत जाती हैं। इसीलिए डॉ. अंबेडकर ने इसकी तुलना बंद चार मंज़िला बिल्डिंग से की। यह डॉ. अंबेडकर का पहला लेख था, जिसे उन्होंने 1917 में कोलंबिया यूनिवर्सिटी से एम.ए. के दौरान लिखा था। यह उनका जाति व्यवस्था पर लिखा गया 'टर्म पेपर' था, जिसका शीर्षक था, 'ओरीजिन आफ़ कास्ट इंडिया'। उस समय डॉ. अंबेडकर की उम्र मुश्किल से 20-22 साल की थी। एक छात्र की हैसियत से जितना उपलब्ध मैटर वे तलाश कर पाये थे, उसी के आधार पर उन्होंने लिखा था। उसमें उन्होंने 'जाति व्यवस्था' के बारे में एक और महत्वपूर्ण बात पर विचार किया कि 'जाति व्यवस्था भारत में सदियों से क्यों क़ायम रही।' उन्होंने लिखा, इसका एक मात्र कारण था कि जो व्यक्ति जिस जाति में पैदा होता है, उसी में

शादी करता है। इसलिए अगर जाति व्यवस्था को तोड़ना है तो 'इंटरकास्ट' मैरेज बहुत ज़रूरी है। उस समय की जो अंडरस्टैंडिंग थी, उसके अनुसार डॉ. अंबेडकर ने यह बात कही थी। लेकिन अंबेडकर का अध्ययन जैसे-जैसे बढ़ता गया, वैसे वैसे वे इस सोच पर आ गये कि 'जाति व्यवस्था' को लोग 'ईश्वरीय' देन मानते हैं। यानी जाति व्यवस्था ईश्वर ने बनायी है, ऐसा लोग मानते हैं। इस आधार पर शादी-विवाह कोई कहीं भी करे, जब तक लोग इसे ईश्वरीय देन मानेंगे, तब तक जाति व्यवस्था नहीं टूटने वाली है। इसी सवाल पर 1929 के आसपास गांधीजी से डॉ. अंबेडकर का संवाद चलता है। इसके लिए गांधीजी ने ही अंबेडकर को आमंत्रित किया था। धनंजय कीर ने अंबेडकर की बायोग्राफ़ी में 1953 में लिखा कि जिस समय गांधीजी ने अंबेडकर को मिलने के लिए बुलाया उस समय तक डॉ. अंबेडकर *मनुस्मृति* जला चुके थे। जाति व्यवस्था के ख़िलाफ़ सत्याग्रह आंदोलन 'माहाड़ तालाब' से चला चुके थे। इसलिए गांधीजी उन्हें अच्छे से जानने लगे थे। गांधीजी के मन में अंबेडकर के प्रति यह भाव था कि अंबेडकर मेरी ही तरह पढ़ा-लिखा अपर कास्ट का व्यक्ति है जो सिर्फ़ अपने रेशनल इंटेलेक्चुअल कैपेबिलटी के चलते दलितों की बात करता है। तो गांधीजी अंबेडकर को एक सवर्ण समझ कर वार्ता के लिए बुलाते हैं। जब बात होने लगी तब गांधीजी को पता चला कि अंबेडकर तो 'महार' हैं। अतः गांधीजी ने अंबेडकर से कहा कि छुआछूत मिटाने के लिए मैं अब तक 20 लाख रुपया ख़र्च कर चुका हूं। ज़ाहिर है, बिड़ला जी सारा पैदा गांधीजी को देते थे। तब अंबेडकर ने गांधीजी से कहा, पैसे से छुआछूत दूर नहीं होता है। उसके बाद डॉ. अंबेडकर ने एक प्रस्ताव रखा जो उस ज़माने के हिसाब से बहुत क्रांतिकारी था। आज के हिसाब से कोई भी व्यक्ति उस पर हंसेगा। डॉ. अंबेडकर का वह प्रस्ताव था कि सवर्ण लोग अपने घरों में दलितों को रसोइया रखें। तब मैं समझूंगा कि छुआछूत कम और ख़त्म हो रहा है। आज के ज़माने में उस प्रस्ताव का अर्थ नहीं है। आज कोई नहीं चाहेगा कि दलित सवर्ण घरों में जाकर काम करें। इस तरह जाति के सवाल पर डॉ. अंबेडकर ने कहा यह हिंदू धर्म की देन है। वहीं गांधीजी का जाति व्यवस्था के बारे में कहना था कि यह ईश्वर की ही देन हैं। इसलिए इसका विरोध नहीं करना चाहिए। इसीलिए इस सवाल पर अंबेडकर ने गांधीजी का विरोध किया और वहां से चल पड़े यह कहते हुए कि मेरा रास्ता अलग है और आपका रास्ता अलग है।

दूसरी बात कि बहुत सारे लोगों का मानना है कि डॉ. अंबेडकर ने स्वतंत्रता आंदोलन में हिस्सा नहीं लिया। यहां सवाल खड़ा होता है कि उस ज़माने में भी क़रीब-क़रीब एक चौथाई आबादी दलितों की थी। उसमें शत प्रतिशत लोग जातीय भेदभाव, धार्मिक भेदभाव, अस्पृश्य भेदभाव के शिकार थे, जो आज भी बना हुआ है। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान बाबा साहब डॉ. अंबेडकर ने साफ़-साफ़ कहा कि पूरा भारत ब्रिटिश उपनिवेश का शिकार है। लेकिन इस देश के दलित दोहरे उपनिवेश के शिकार हैं। एक ओर ब्रिटिश उपनिवेश के शिकार हैं तो दूसरी तरफ़ सवर्णों की जातिवादी शासन व्यवस्था के शिकार हैं। दलितों के ऊपर यह दोहरा उपनिवेश है। इस तरह सवर्णों के 'जातीय उपनिवेश' को डॉ. अंबेडकर सबसे पहले उठाते हैं। डॉ. अंबेडकर तो दोहरे उपनिवेश से लड़ रहे थे। यह उनकी सबसे बड़ी लड़ाई थी। उनका मिसइन्टरप्रेटेशन चाहे जितना किया जाये। इसी लड़ाई के अनुभव से बाबा साहब अंबेडकर ने गांधीजी से कहा राजनीतिक आंदोलनों पर सामाजिक आंदोलनों का वर्चस्व होना चाहिए। अगर सामाजिक आंदोलनों का राजनीतिक आंदोलनों पर वर्चस्व नहीं रहेगा तो उसका परिणाम यह होगा कि सत्ता तो बदल जायेगी लेकिन जनता की सामाजिक मुक्ति का सवाल वैसा का वैसा ही रह जायेगा। यह

सब से बड़ा मुद्दा गांधीजी के सामने डॉ. अंबेडकर ने उठाया था।

अगली बात कि भारत में क़ानून के तहत शासन किसी का भी हो, लेकिन गांव में जो क़ानूनी व्यवस्था है, वह मनु की व्यवस्था है। वह *मनुस्मृति* के विधान के आधार पर चलती है। *मनुस्मृति* सामाजिक-धार्मिक भेदभाव का प्रतिरूप बन गयी थी। इसीलिए उसे डॉ. अंबेडकर ने 1927 ई. में जलाया। *मनुस्मृति* जलाये जाने के बाद हिंदू धर्म के सभी मठाधीश कांप गये थे। जलगांव की एक घटना बताऊं तो उस गांव के एक कुंए से दलितों को पानी नहीं लेने दिया जाता था। ऐसी घटनाएं तो पूरे देश में घटित हो रही थीं। कुंओं से पानी न लेने देने के कारण दलित नदी नाले से पानी लेते थे। उस गांव के ब्राह्मण दलितों पर बहुत अत्याचार करते थे। इससे तंग आकर डॉ. अंबेडकर ने उस गांव के 12 दलितों को सेलेक्ट किया और उनसे कहा कि तुम लोग मुसलमान बन जाओ। और ऐसा ही हुआ। एक मुल्ला आया और उनको मुसलमान बना दिया। ज्यों ही यह घटना घटी, उस गांव के ब्राह्मणों में खलबली मच गयी और तुरंत दो कुंओं को दलितों के लिए खोल दिया गया। उन ब्राह्मणों ने अंबेडकर से प्रार्थना की कि आज के बाद ये कुंए खुले रहेंगे लेकिन आप दलितों को मुस्लिम बनने से रोकिए। तब अंबेडकर ने कहा, चूंकि आप लोग स्वेच्छा से कुंआ नहीं खोले हैं, हिंदू धर्म को ख़तरे में देखा है इसलिए आपने कुंआ खोला है, हिंदू धर्म को बचाने के लिए आपने कुंआ खोला है, इसलिए आपकी बात हम नहीं मानेंगे। एक बात और है कि डॉ. अंबेडकर दलितों को मुस्लिम बनाने का अभियान नहीं चला रहे थे। यह घटना अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण है। हिंदी के एक महत्वपूर्ण साहित्यकार हुए हैं, चंद्रधर शर्मा गुलेरी। उनकी प्रसिद्ध कहानी है —'उसने कहा था।' उन्होंने बहुत कम लिखा है। उनके साहित्य के दो छोटे-छोटे वॉल्यूम हैं। उन्होंने एक निबंध लिखा है —'कछुआ धर्म'। उसमें उन्होंने हिंदू धर्म को कछुए की तरह बताते हुए लिखा है कि जब कोई ख़तरा नहीं होता है तो घेटी तान कर चलता है और जब ख़तरा होता है तो एकदम घेटी छुपा लेगा। उलट जायेगा, पलट जायेगा। ख़ुद को एकदम मृतप्राय घोषित कर देगा। यही बात अंबेडकर ने कहा था कि जब हिंदू धर्म ख़तरे में होता है, तब वह बहुत उदार हो जाता है।

कई लोगों ने बड़ी ग़लतफ़हमियां भी फैलायीं। एक बड़े हिस्टोरियन ए.एल. बाशम हैं। उन्होंने बहुत ज़्यादा ग़लतफ़हमियां फैलायीं कि हिंदू धर्म बहुत लिबरल है। जिस धर्म में छुआछूत है, जाति है, वर्ण व्यवस्था है, धार्मिक भेदभाव है, वह धर्म कैसे लिबरल हो सकता है। यही बात अंबेडकर बार बार उठाते थे कि जब हिंदू धर्म ख़तरे में होता है तो वह बहुत सारे कन्सेशन देने को तैयार होता है। इस पृष्ठभूमि में याद कीजिए इतिहास को। आप देखिए कि 1927 ई. में डॉ. अंबेडकर ने *मनुस्मृति* को जलाया तो 1932 में हिंदुओं ने 'पूना पैक्ट' को सहर्ष स्वीकार कर लिया। इसे आप ख़तरे में डालिए, दलितों के लिए बहुत बड़ा कन्सेशन मिल जायेगा। इसी कन्सेशन और मानवीय मुक्ति के लिए डॉ. अंबेडकर ने 'बौद्ध धर्म' अपनाया था। अगर सारे दलित बौद्ध धर्म अपना लेते तो जो ये 90% दलित-पिछड़े पानी की कांवाड़िया बना कर हरिद्वार के लिए दौड़ते रहते हैं, यह तो ख़त्म ही हो जाता। ये जितने अंधविश्वास, कर्मकांड हैं, उनमें दलित भी चढ़ावा चढ़ाते हैं।

माननीय कांशीराम ज़िंदा थे। वे एक आंकड़ा देते थे कि प्रतिदिन भारत के दलित 'लम्पसम' 40 करोड़ चढ़ावा चढ़ाते हैं। आप देखिए कि इस देश के मंदिरों में हर बड़े त्यौहार के बाद नोट गिनने की मशीनें लायी जाती हैं। अरबों अरब रुपया आ रहा है। बाबा रामदेव जैसे लोग स्विस बैंक से 'ब्लैक मनी' लाने की बात करते हैं। कितना ब्लैक मनी मंदिरों में इकट्ठा हो गया है, उस पर कोई बात नहीं कहते

हैं। एक दम चुप रहते हैं। यहां के मंदिरों में टनों-टन सोना भरा पड़ा है। दक्षिण भारत का एक मंदिर सोना से भरा पड़ा है। उसे कभी खोला नहीं जाता है। जब खोलने की बात आयी तो उन्ही पुरोहितों ने अफ़वाह फैलायी कि इस मंदिर की रक्षा शेष नाग करते हैं। जो भी खोलेगा, शेषनाग उसको काट लेंगे और मरने के बाद वह नरक में जायेगा। तो धर्मांधता के चलते लोग इस देश में 'धर्म' के मामले में ज़रा भी छेड़छाड़ की कोशिश नहीं करते हैं। यह अंधविश्वास की कमाई है, यह इतना ज़्यादा बढ़ रही है कि इसका कोई हदो-हिसाब नहीं। इस अंधविश्वासी कमाई का कोई सामाजिक उपयोग नहीं है। किसी भी सामाजिक उत्थान के काम में इसे नहीं लगाया जाता है। डॉ. अंबेडकर को अगर इस पृष्ठभूमि में देखा जाये तो वे इस देश के सबसे बड़े 'रैशनल व्यक्ति' थे जिन्होंने धर्म के नकारात्मक रूप के ख़िलाफ़ संघर्ष छेड़ा था।

बाबा साहब डॉ. अंबेडकर की राजनीति के बारे में मार्क्सवादी राजनीतिज्ञों द्वारा अक्सर प्रश्न उठाया जाता है। आप याद कीजिए कि जिस समय डॉ. अंबेडकर हिंदूधर्म विरोधी आंदोलन चला रहे थे—चाहे वह 'कालाराम मंदिर' का आंदोलन हो, 'माहाड़ तालाब' का आंदोलन हो, '*मनुस्मृति* दहन' हो—इन सबके बाद डॉ. अंबेडकर ने जो पहला संगठन बनाया, वह कोई दलित संगठन नहीं था। उस संगठन का नाम 'लेबर पार्टी' था। यह नाम और विचार, दोनों से कम्युनिस्ट संगठन था। यह संगठन और बाबा साहब बॉम्बे के परेल एरिया में मज़दूरों के साथ उनकी बस्ती में काम करते थे। वहां बड़ी संख्या में टेक्सटाइल मज़दूर-कर्मचारी काम करते थे। लेकिन फ़ैक्टरियों में उस समय यूनाइटेड कम्युनिस्ट पार्टी थी। फ़ैक्टरियों में उन्हीं की यूनियन थी। 1929 ई. में जब साइमन कमीशन आया, गांधीजी ने उसके बाईकाट का नारा दिया तो देश भर में बहिष्कार किया गया। उस समय डॉ. अंबेडकर ने साईमन कमीशन के सामने गवाही दी थी। इस आधार पर डॉ. अंबेडकर को देशद्रोही कहा गया। राष्ट्रवादी लोग उनको ब्रिटिश एजेंट कहते हैं। लेकिन यह कोई उल्लेख नहीं करता कि अंबेडकर साइमन कमीशन के सामने क्या बोले? क्या वे अंग्रेज़ों को सपोर्ट करने गये थे या कोई अन्य बात थी। जो सबसे महत्वपूर्ण बात थी, उसे डॉ. अंबेडकर को देशद्रोही कहने वाले बड़ी शिद्दत से छिपाते हैं। वह बात यह थी कि साइमन कमीशन के अंदर कई भारतीय राजा थे। कई भारतीय नरेश तो हमेशा अंग्रेज़ों के साथ रहते थे। इन सवर्ण हिंदू ज़मींदारों, नरेशों और राजाओं को आज की वर्चस्ववादी 'हिंदू राष्ट्रवादी' ताक़तें कभी भी 'देशद्रोही' नहीं कहती हैं। डॉ. अंबेडकर कमीशन के समक्ष सिर्फ़ अपनी बात रखने गये थे। तो उन्हें ये देशद्रोही कहते हैं। कार्ल मार्क्स ने भारत पर छोटे-छोटे कई लेख लिखे हैं। वे लेख बहुत महत्वपूर्ण हैं। उन लेखों में उन्होंने 'सिंधिया' का नाम तक लिखा है। वे लिखते हैं कि 'सिंधिया ब्रिटिश सरकार का सपोर्टर था। उनका एजेंट था।' यह हाल देश के लगभ सारे ज़मींदारों और राजाओं का था।

डॉ. अंबेडकर साइमन कमीशन के अधिकारियों के सामने दलितों और अन्य लोगों की समस्याओं को रखने गये थे। उन्होंने दलितों को व्याख्यापित करते हुए उसे 'डिप्रेस्ड क्लास' कह कर संबोधित किया। साइमन कमीशन के एक मेम्बर लार्ड एटली थे। लार्ड एटली ब्रिटेन की 'लेबर पार्टी' से थे। वे डॉ. अंबेडकर द्वारा बार-बार 'डिप्रेस्ड क्लास, डिप्रेस्ड क्लास' का ज़िक्र सुन रहे थे। तो उन्होंने कहा, 'डिप्रेस्ड क्लास का क्या मतलब होता है?' तब डॉ. अंबेडकर ने 'डिप्रेस्ड क्लास' को परिभाषित किया और यह बताया कि यह वह जाति है जो अपवित्रता पैदा करती है।' यह बात एटली की समझ में नहीं आयी। तो डॉ. अंबेडकर ने कहा कि आप के यहां फ़ैक्टरियों में मज़दूर काम करते हैं। तो लार्ड एटली ने कहा, 'हां'। उसी के

साथ एटली ने कहा, 'फिर ये अपवित्रता कैसे उत्पन्न करते हैं?' लार्ड एटली यूरोपीय समाज की सामाजिक संरचना के आधार पर यह बात कह रहे थे। तब डॉ. अंबेडकर ने कहा कि 'जो टेक्सटाइल मिल्स हैं, उसमें जो एक्सट्रीमली मायन्यूट वर्क है, उसमें दलितों को नहीं रखा जाता है। धागा बनाने का जो फ़ाइनल सेक्शन है, उसमें आप डिप्रेस्ड क्लास के लोगों को नहीं पायेंगे।' लार्ड एटली ने पूछा, 'क्यों?' तब डॉ. अंबेडकर ने कहा, 'वहां जब धागे टूट जाते हैं तो उसे थूक से जोड़ा जाता है। दलित अगर अपने थूक से उस धागे को जोड़ेंगे तो वह 'अपवित्र' हो जायेगा। इसलिए दलितों को वहां नहीं लगाया जाता है।' दो बातें थीं, जिस कारण से दलितों को वहां नहीं लगाया जाता था—(1) अपवित्रता की बात, (2) यहां वेतन अधिक मिलता था। डॉ. अंबेडकर इस तरह की परिस्थितियों से गुज़रते हैं। यही सब बातें, समस्याएं वे साइमन कमीशन के समक्ष उठाते हैं।

जहां तक डॉ. अंबेडकर और कम्युनिस्ट पार्टी का सवाल है तो इनका पहला राजनीतिक संगठन 'लेबर पार्टी' नाम से था। और लेबर पार्टी के साथ उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी से तालमेल बैठाने में बहुत रुचि ली। इसी कारण 1937 में, जो अक्टूबर क्रांति की बीसवीं वर्षगांठ थी, उस मीटिंग में अंबेडकर की 'लेबर पार्टी' की और कम्युनिस्ट पार्टी की संयुक्त मीटिंग हुई। उस मीटिंग में जवाह लाल नेहरू, श्रीपाद डांगे और तमाम कई बड़े कम्युनिस्ट नेता आये थे। डॉ. अंबेडकर भी वहां मौजूद थे। और लेबर यूनियन से संबंधित अन्य कई नेता मौजूद थे। लेकिन बात उसके बाद की है। 1940-42 के आसपास की। लेबर पार्टी का आंदोलन अंबेडकर जारी रखे हुए थे। जितना भी हो सकता था, डॉ. अंबेडकर कम्युनिस्टों से तालमेल जारी रखे हुए थे। बात बॉम्बे के रेलवे कैंटीन की है जिस पर कम्युनिस्ट पार्टी का क़ब्ज़ा था। अंबेडकर ने देखा कि कैंटीन में दलित मज़दूरों के लिए अलग जगह बनी हुई थी। उनके गिलास धोकर अलग रख दिये जाते थे। यह बात डॉ. अंबेडकर ने ट्रेडयूनियन के सामने रखी कि दलित मज़दूरों के साथ ऐसा क्यों होता हैं? हम सब तो मार्क्सवादी हैं। तब डॉ. अंबेडकर को उत्तर मिलता है कि 'अगर ऐसा नहीं करेंगे तो मज़दूर यूनियन ख़त्म हो जायेगी।' इसके बाद डॉ. अंबेडकर धीरे धीरे कम्युनिस्ट पार्टी से अलग होने लगे। और अब उनके लिए 'जाति व्यवस्था' का जो असली मुद्दा था उसको आगे बढ़ाते हैं। उसके बाद उसे लेकर 'ब्रिटिश काउंसिल' में जाते हैं, जिसमें अनेक हिंदू नेता पहले से मौजूद थे। जिस आधार पर हिंदूवादी नेता अरुण शौरी डॉ. अंबेडकर को देशद्रोही कहते हैं लेकिन दूसरे हिंदू नेता जो ब्रिटिश काउंसिल में थे, उनके बारे में कोई कुछ नहीं कहता। ब्रिटिश काउंसिल में भी बाबा साहब डॉ. अंबेडकर को मज़दूर विभाग ही दिया गया। बाद में जितने भी मज़दूरों से संबंधित क़ानून आये वे सब बाबा साहब की ही देन थे, जब वे ब्रिटिश कांउसिल के मेंबर थे, उसे संचालित कर रहे थे।

मज़दूरों के सवाल पर डॉ. अंबेडकर ने 1921 में एक छोटा सा लेख लिखा है; उसमें इस सवाल को मार्क्सवादियों के साथ डॉ. अंबेडकर उठाते हुए टिप्पणी करते हैं कि 'लेनिन एक बहुत बड़े क्रांतिकारी नेता थे जो मज़दूरों के साथ काम करते थे।' लेकिन कम्युनिज़्म के साथ एक ही समस्या है कि वह 'शक्तिबल' पर ज़ोर देता है। रशियन समाजवाद का 'शक्ति बल' ही आधार था, लेकिन जो चीज़ शक्ति बल पर आधारित होती है, वह शक्ति बल के ख़त्म होने के साथ ही ख़त्म हो जाती है। इसीलिए उन्होंने कहा, यह फ़ासीवाद का ही चरित्र है जो बहुत ख़तरनाक है। पर शक्ति बल ज़्यादा दिन नहीं रहता है। इसके ख़त्म होने के साथ समाजवाद ख़त्म होने लगता है। उन्होंने उदाहरण देते हुए 1921 में बताया कि बौद्ध दर्शन 'मानसिक परिवर्तन' की बात करता है, जो सही है। जो भी व्यवस्था 'मानसिक परिवर्तन'

से होती है, वह स्थिर व्यवस्था होती है। शक्ति के बल की व्यवस्था स्थायी नहीं होती है। इसके साथ ही डॉ. अंबेडकर ने समाजवादियों से सहयोग लेना बंद कर दिया।

बाबा साहब अंबेडकर ने कई महान काम किये लेकिन जातीय भेदभाव के चलते उन सब कार्यों को इतिहास से ग़ायब करने की कोशिश की गयी। एक साथी ने अभी 'हिंदू कोड बिल' की चर्चा की। डॉ. अंबेडकर ने 'हिंदू कोड बिल' पर बयान दिया था कि 'जो काम मैं भारतीय संविधान बनाकर नहीं कर पाया, उस काम को मैं 'हिंदू कोड बिल' के माध्यम से करना चाहता हूं।' वह काम दलितों के लिए नहीं था, मूलतः सवर्ण महिलाओं के लिए था। जो महिलाएं पिता की संपत्ति से वंचित रहती थीं, उनकी आर्थिक व्यवस्था का कोई आधार नहीं था। और तमाम 'सामाजिक मान्यताओं' के आधार पर उनके साथ भेदभाव किया जाता था। यह पूरे भारतीय महिला समाज की मुक्ति के लिए 'हिंदू कोड बिल' लाया गया था। बनारस के एक पंडा स्वामी करपात्री जी महाराज थे, जिनके बारे में कहा जाता है कि उनकी अंजुरी में जितना खाना आता था, उतना ही खाते थे। उन्होंने 'हिंदू कोड बिल' का विरोध करते हुए कहा कि अंबेडकर संस्कृत जानते नहीं हैं, तो ये 'हिंदू-धर्म' को क्या समझेंगे? यानी औरतों को मुक्ति की बात करना 'हिंदू धर्म' के विरुद्ध है। यह बात उस समय के पंडे-पुजारी ही नहीं बल्कि पार्लियामेंट से लेकर पूरे देश के तमाम नेता और लोग बोल रहे थे।

कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी और सरदार पटेल ने तो खुलकर इसका विरोध किया। बिल को तोड़ताड़ के छोटे-छोटे टुकड़ों में किसी न किसी रूप में स्वीकार कर लिया गया। लेकिन अंबेडकर पर उस समय बहुत अटैक हुआ। हिंदूधर्म का विरोधी होने का आरोप लगाया गया, जिसके चलते अंबेडकर ने नेहरू मंत्रिमंडल से इस्तीफ़ा दे दिया। यह कोई इतिहासकार नहीं लिखता कि डॉ. अंबेडकर ने किसी दलित मुद्दे को लेकर त्यागपत्र नहीं दिया था, बल्कि आम सवर्ण महिलाओं के अधिकारों के लिए इस्तीफ़ा दिया था। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।

आगे चलकर डॉ. अंबेडकर ने 1951 में *शेड्यूल्ड कास्ट मैनीफ़ेस्टो* लिखा जिसमें दलितों की मुक्ति के लिए कई महत्वपूर्ण बातें गिनायी हैं। आज के संदर्भ में उसे देखा जाये तो दो महत्वपूर्ण बाते हैं : (1) दलितों को कभी भी 'आर.एस.एस.' और 'हिंदू महासभा' से समझौता नहीं करना चाहिए। यह आज की राजनीति के हिसाब से बहुत ही महत्वपूर्ण मुद्दा है। (2) कम्युनिस्टों से भी दलितों का समझौता नहीं हो सकता। और कारण बताया कि वे हिंसा में विश्वास करते हैं। जहां भी हिंसा होती है, वहां लोकतंत्र ख़त्म हो जाता है। लेकिन वही अंबेडकर समाजवादी व्यवस्था के मूल आधार 'जनता' को जागृत करने, अधिकारों को दिलाने का पूरा प्रयास करते हैं। कई दलित विचारक 'मच्छिका' वाली कहानी सुनाते हुए अंबेडकर को कम्युनिस्ट विरोधी कहते हैं, जिसका 'रिलेवन्स' आज नहीं है। किसी भी व्यक्ति की विचारधारा समय और उत्पादन के साधनों के साथ बनती है। मार्क्स और एंगेल्स ने इसको बहुत अच्छी तरह से समझाया है। इतना मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि मार्क्स की कुछ बातें जैसे ऐतिहासिक भौतिकवाद, पूंजीवादी व्यवस्था में शोषण—ये सब बातें शाश्वत सत्य हैं। गौतम बुद्ध ने साफ़-साफ़ कहा है कि दुनिया में सारे दुखों की जड़ संपत्ति है। इसलिए संपत्ति को न तो बढ़ाया जाये, न संग्रहीत किया जाये। जब उन्होंने 'बौद्ध भिक्षु संघ' बना, तब बौद्ध भिक्षुओं को यह निर्देश दिया कि कोई भी भिक्षु वस्तु-संग्रह नहीं करेगा। भिक्षा में जो मिलेगा, वह खायेगा। वह संपत्ति से हमेशा दूर रहे और समाज के समक्ष अपना एक आदर्श प्रस्तुत करे। इस बात को लोग ग़लत तरीक़े से व्याख्यायित करते हैं कि गौतम

बुद्ध तो सबको संपत्ति वंचित करते हैं और सबको शिक्षुक बनाने की बात करते हैं। ऐसा कुछ भी नहीं है। यह बात बुद्ध ने सिर्फ़ भिक्षुओं के लिए कही थी। संपत्ति के बारे में बुद्ध ने बहुत कुछ कहा है। डॉ. रामविलास शर्मा ने बुद्ध की संपत्ति संबंधित अवधारणा को स्पष्ट रूप से व्याख्यायित किया है।

डॉ. अंबेडकर ने 'इतिहास' पर जो शोधपरक काम किया है, अब मैं उस पर कुछ कहना चाहूंगा। उनकी एक किताब है, *रेवोल्यूशन एंड काउंटर रेवोल्यूशन इन एंशिएंट इंडिया*। मार्क्सवादी टर्म में यह माना जाता है कि जब राजकीय सत्ता पूंजीवादी हाथों से निकल कर मज़दूरों के हाथ में आ जाती है तो वह क्रांति कहलाती है और जब मज़दूरों की सत्ता उलटकर पूंजीवादी हाथों में जाती है तो यह प्रतिक्रांति होती है। यही है 'काउंटर *रेवोल्यूशन*'। डॉ. अंबेडकर का इससे आगे मानना है। उन्होंने कहा, 'प्राचीन काल में बुद्धिज़्म का जब उदय हुआ था, वह क्रांति थी। और जब बुद्धिज़्म को वैदिक ब्राह्मणों ने नष्ट किया और फिर 'वर्णव्यवस्था' को स्थापित किया, इसे हम 'प्रतिक्रांति' कहते हैं। इस तरह उन्होंने एक मैथेडोलॉजी 'क्रांति' और 'प्रतिक्रांति' के रूप में दी। इसीलिए डॉ. अंबेडकर ने भारतीय ब्राह्मणवाद को ही भारतीय पूंजीवाद कहा। और यह स्थापना इस तथ्य से भी सत्यापित होती है कि *मनुस्मृति* में जातियों के आधार पर जो क़ानून बना, वही यहां के पूंजीवाद का आधार है। जैसे जातीय आधार पर ब्राह्मण पढ़ेगा, क्षत्रीय लड़ेगा, वैश्व व्यापार करेगा, शूद्र सेवा करेगा। यह यहां के पूंजीवाद की मंज़िलें हैं। इस तरह *मनुस्मृति* के आधार पर भारत का पूंजीवाद विकसित हुआ। कोई माने या न माने। पूरे भारत में 'बनिया' जाति के लोग ही क्यों पूंजीपति हैं? यह मनुस्मृति की देन है। यह बात और है कि अब अन्य लोगों का भी इसमें प्रवेश हो रहा है, उत्पादन के साधनों के बदलने के साथ। भारत में पूंजीवाद का जो मूल आधार है, वह 'जाति व्यवस्था' ही है। इसलिए शूद्रों को पीढ़ी दर पीढ़ी धन रखने से वंचित किया गया। यहां तक की नये घर में रहने तक की मनाही थी। ये सारी व्यवस्थाएं आज भी जगह-जगह काम करती हैं।

डॉ. अंबेडकर के 'सामाजिक न्याय' की अवधारणा पर बात की जाये तो जहां शूद्रों को हज़ारों साल से पीढ़ी दर पीढ़ी अशिक्षित रखा गया, धन-दौलत से दूर रखा गया, उस समाज को जब आरक्षण दिया गया तो तुरंत यह बात उठायी गयी कि उनके पास मेरिट नहीं हैं। अभी 2001 की बात है। नरेंद्र मोदी ने गुजरात के स्कूलों में पढ़ने वाले दलित बच्चों को कहा कि ये मेन्टली रिटार्डेड हैं। इसलिए इनका यूनिफ़ार्म ब्लू पैंट नीली शर्ट बनाया गया है। उन बच्चों को देखकर अन्य बच्चे यही सोचते भी थे। और ब्लू पैंट नीली शर्ट देखने के साथ ही सभी बच्चे समझ जाते थे कि ये दलित बच्चे हैं।

आप एक बहुत 'शिक्षित परिवार' को चुनिए। वह ब्राह्मण, क्षत्रिय किसी का भी परिवार हो। उस परिवार में सभी पढ़े लिखे हों। सारे एम.ए., एम.फ़िल., पी-एच.डी. हों, आई.आई.टीयन. हों। कलेक्टर, डी.एम. हों। खूब पढ़ा-लिखा परिवार हो। लेकिन उसके एक 'जनरेशन' को अशिक्षित रख दीजिए। उसके बाद उस जनरेशन की हर तरह की दरिद्रता देखिए। इस आधार पर आप कल्पना कीजिए कि जहां पर हज़ारों 'जनरेशन' अशिक्षित रखी गयीं। आर्थिक रूप से विपन्न बनाकर रखी गयीं। उनके बारे में आप मेरिट की बात करते हैं। डॉ. अंबेडकर ने इसी मेरिट की बात की। इसी मेरिट की परिभाषा उन्होंने दी। उन्होंने मेरिट की संकल्पना को बुद्ध से लेते हुए आगे बढ़ाया। गौतम बुद्ध ने बौद्ध भिक्षुओं के समक्ष मेरिट की संकल्पना को रखा और कहा कि जो व्यक्ति मानव कल्याण के लिए काम करे वह व्यक्ति मेरीटोरियस है। सिर्फ़ लिपि सीख लेने, पढ़-लिख लेने मात्र से कोई मेरिटोरियस नहीं हो जाता है। डॉ.

अंबेडकर इस विचारधारा को मानते थे। इसीलिए जब डॉ. अंबेडकर ने 'सोशल जस्टिस' की बात की तो साफ़-साफ़ कहा कि भारत में करोड़ों लोग ऐसे हैं जो सामाजिक-धार्मिक भेदभाव के शिकार हैं। ऐसे व्यक्तियों को आरक्षण की ज़रूरत है। अगर उन्हें आरक्षण नहीं मिलता है तो यह समाज सदा असमानता और अपमान का शिकार होता रहेगा। आज अगर आरक्षण न होता तो सामाजिक-धार्मिक भेदभाव के चलते कोई चपरासी तक न हो पाता। आज इसकी ग़लत व्याख्या कई बड़े दलित-पिछड़े नेता भी कर रहे हैं। वे लगातार तर्क दे रहे हैं कि ब्राह्मणों राजपूतों में जो ग़रीब हैं, उनको भी न्याय मिलना चाहिए। इन सबको 'सामाजिक न्याय' की अवधारणा की बिलकुल भी जानकारी नहीं है। ग़रीब ब्राह्मण क्षत्रिय हैं, सरकार उनके विकास के लिए अरबों अरब रुपया ख़र्च करे, लेकिन आरक्षण का अधिकार इन्हें नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि उनके साथ न तो सामाजिक भेदभाव किया जाता है, न तो धार्मिक भेदभाव किया जाता है। यह 'सामाजिक न्याय' का मूल अर्थ है। वर्तमान में चल रहे लोकसभा चुनाव प्रचार के प्रत्येक मंच से यह बात कही जा रही है कि ग़रीब सवर्णों को अलग से आरक्षण देंगे। यह 'सामाजिक न्याय' की अवधारणा के बिलकुल ख़िलाफ़ है। बल्कि 'सामाजिक न्याय' को नष्ट करने का प्रयास है। ग़रीबी सबमें है। सब की ग़रीबी हटनी चाहिए। लेकिन 'सामाजिक न्याय' का हक़ सिर्फ़ इसके हक़दार लोगों को मिलना चाहिए।

प्रस्तुति—धर्मवीर यादव 'गगन'
मो. : 09013710377
ईमेल : stargagan12@ gmail. com

क्यों लिखें?

ज्यां पॉल सार्त्र

सार्त्र का यह लेख उनकी पुस्तक व्हाट इज़ लिटरेचर का दूसरा अध्याय है। फ्रेंच में 1948 में छपी इस पुस्तक का अंग्रेज़ी से किया गया हिंदी अनुवाद ग्रंथ शिल्पी से प्रकाश्य है। इस लेख की गूढ़ दार्शनिक तर्क-शृंखला में जैसे-जैसे आप आगे बढ़ते जायेंगे, आज के समय में इसकी प्रासंगिकता स्पष्टतर होती जायेगी, ख़ास तौर से आख़िरी हिस्से में पहुंच कर, जहां यह तर्कणा फ़ासीवाद की वक़ालत करनेवाले लेखकों को अपने निशाने पर लेती है। अनुवाद की समस्या और लेख की लंबाई को देखते हुए कुछ अंश छोड़ दिये गये हैं। —सं.

हर किसी के पास अपने कारण होते हैं : किसी एक के लिए कला पलायन है; दूसरे के लिए जीत हासिल करने का रास्ता। लेकिन पलायन के कई तरीक़े हो सकते हैं : संन्यास, पागलपन, मृत्यु। जीत हथियारों से हासिल की जा सकती है। पलायन या जीत के लिए लिखना क्यों ज़रूरी है, किसी को अपने लेखन द्वारा इसका इंतज़ाम क्यों करना पड़ता है? [यह सवाल इसलिए ज़रूरी है] क्योंकि, लेखकों के विभिन्न लक्ष्यों के पीछे एक अधिक गहरा और अधिक प्रत्यक्ष चुनाव है जो हम सबमें समान है। हम इस चुनाव को स्पष्ट करने की कोशिश करेंगे और यह देखेंगे कि क्या लेखन के इसी चुनाव में लेखकों की अपनी प्रतिबद्धता नहीं छुपी है?

हमारे हर अवबोधन के साथ यह चेतना लगी रहती है कि मानवीय यथार्थ एक 'उद्घाटक' है, मतलब यह कि किसी चीज़ का अस्तित्व मानवीय यथार्थ के ज़रिये ही है, या भिन्न तरीक़े से कहें तो यह कि मनुष्य ही वह साधन है जिसके द्वारा चीज़ें व्यक्त होती हैं। संसार में हमारी उपस्थिति संबंधों को बढ़ाती है। हम ही इस वृक्ष और आकाश के उस हिस्से के बीच संबंध स्थापित करते हैं। हमारे ही कारण हज़ारों सालों से मृत वह तारा, वह दूज का चांद और वह श्याम नदी, लैंडस्केप की एकता में प्रकाशित होते हैं। हमारी गाड़ी और हमारे वायुयान की गति धरती की विराटता को संयोजित करती हैं। हमारे हर कार्य के साथ संसार अपना एक नया चेहरा दिखाता है। लेकिन अगर हम जानते हैं कि हम अस्तित्व के निर्देशक हैं, तो हम यह भी जानते हैं कि हम उसके निर्माता नहीं हैं। अगर हम इस लैंडस्केप से मुंह फेर लें तो यह वापस अपने स्याह स्थायित्व में डूब जाएगा। पर कोई इतना पागल नहीं है कि समझे कि यह ख़त्म हो जाएगा। ये हम हैं जो समाप्त हो जाएंगे और पृथ्वी अपने आलस्य में पड़ी रहेगी जब तक कि दूसरी चेतना इसे जगाने नहीं आ जाती। इस प्रकार, अपने 'उद्घाटक' होने की आंतरिक निश्चितता के बावजूद हम जानते हैं कि उद्घाटित वस्तु के संबंध में हम ग़ैर-ज़रूरी हैं।

कलात्मक रचना का एक मुख्य प्रेरक निश्चित तौर पर यह है कि हम अपने-आप को संसार के

साथ एक आवश्यक संबंध में अनुभव करना चाहते हैं। अगर मैं कैनवास पर या लेखन में खेतों का एक पहलू या समुद्र या किसी के चेहरे के भाव दिखाता हूं तो मैं यह जानता हूं कि मैंने उन्हें उत्पन्न किया है—संबंधों को घनीभूत कर, जहां कोई व्यवस्था नहीं थी वहां व्यवस्था स्थापित कर, वस्तुओं की अनेकता पर मस्तिष्क की एकता को आरोपित कर। यानी मैं अपने-आप को अपनी रचना के संबंध में आवश्यक अनुभव करता हूं। लेकिन इस समय रचित वस्तु मुझसे अलग हो जाती है; मैं उद्‌घाटन और उत्पादन, दोनों एक साथ नहीं कर सकता। रचनात्मक गतिविधि के संबंध में रचना अनावश्यक हो जाती है। सर्वप्रथम, अगर यह दूसरों को पूर्ण दिखती भी है तो रचित वस्तु हमें ख़ुद अपूर्ण लगती है, हम हमेशा इस पंक्ति को, उस रंग को, उस शब्द को बदल सकते हैं। इस प्रकार, यह कभी अपने-आप को *थोप नहीं पाती* है। एक नौसिखिये चित्रकार ने अपने शिक्षक से पूछा, 'मैं कब अपने चित्र को पूर्ण समझूं?' शिक्षक ने उत्तर दिया, 'जब तुम इसको विस्मय से देखोगे और ख़ुद को कहोगे ''यह मैंने किया है!'' '

जिसका मतलब है, कहना, 'कभी नहीं'। क्योंकि यह क़रीब-क़रीब अपने कार्य को दूसरों की आंखों से देखना और जिसे आपने रचा है, उसे उद्‌घाटित करना है। लेकिन यह स्वतः-प्रामाण्य है कि हम उत्पादित वस्तु को कम जानते हैं और अपनी उत्पादक क्रिया को अधिक। जहां कुम्हारगिरी या बढ़ईगिरी की बात हो, हम पारंपरिक पैटर्न के अनुसार काम करते हैं, ऐसे औज़ारों से काम करते हैं जिनके कार्य नियमबद्ध हैं; ये हाइडेगर के प्रसिद्ध 'वे' हैं जो हमारे हाथों से काम कर रहे हैं। इस मामले में परिणाम हमें इतने अजनबी लग सकते हैं कि हमारी आंखें अपनी वस्तुनिष्ठता बनाये रखें। लेकिन अगर हम ही उत्पादन के नियम, पैमाने, कसौटियां बनाते हैं, और हमारी रचनात्मकता हमारे हृदय की गहराइयों से आती है, तो हम अपने कार्य में सिर्फ़ अपने-आप को पाते हैं। ये हम हैं जिन्होंने वे नियम बनाये हैं जिनसे हम इसे आंकते हैं। यह हमारा इतिहास, हमारा प्यार, हमारी खुशी है जिसे हम इसमें पहचानते हैं। अगर इसका और स्पर्श किये बिना हम इसे देखें भी तो हमें कभी इससे वह प्यार, वह खुशी नहीं मिलती। वह सब हम इसमें डालते हैं। कैनवास या काग़ज़ पर जो परिणाम हमने पाये हैं, वे कभी हमें वस्तुनिष्ठ नहीं लगते। हम उन प्रक्रियाओं को बहुत नज़दीक से जानते हैं जिनका वे प्रभाव हैं। ये प्रक्रियाएं एक आत्मनिष्ठ खोज बनी रहती हैं; वे हम ख़ुद हैं, हमारी प्रेरणा हैं, हमारी चाल हैं, और जब हम अपनी कृति को देखने की कोशिश करते हैं, तो हम उसकी फिर से रचना करते हैं, हम मन में उन प्रक्रियाओं को दुहराते हैं जिनका वह उत्पादन है; इसका हर पहलू एक परिणाम की तरह लगता है। इस प्रकार अवबोधन में वस्तु आवश्यक और कर्ता अनावश्यक लगते हैं। कर्ता अपनी आवश्यकता रचना में ढूंढ़ता है और पाता है, लेकिन तब वस्तु अनावश्यक बन जाती है।

यह द्वंद्वात्मकता सबसे ज़्यादा लेखन में प्रत्यक्ष होती है, क्योंकि साहित्यिक वस्तु एक अजीब लट्टू है जिसका अस्तित्व गति में ही है। इसे दृष्टिगोचर बनाने के लिए पठन नामक एक ठोस क्रिया दरकार है, और यह तभी तक चलता है जब तक यह क्रिया चलती है। बिना इसके सिर्फ़ काग़ज़ पर काले निशान हैं। लेकिन लेखक वह नहीं पढ़ सकता जो वह लिखता है, जबकि जूते बनानेवाला जूते पहन सकता है अगर वे उसकी नाप के हैं, और वास्तुकार अपने बनाये मकान में रह सकता है। पढ़ने में हम अनुमान लगाते हैं; हम इंतज़ार करते हैं। हम वाक्य के अंत का, अगले वाक्य का, अगले पृष्ठ का अनुमान लगाते हैं। हम इंतज़ार करते हैं कि वे हमारे अनुमान को सही या ग़लत करार दें। पढ़ना कई प्राक्कल्पनाओं से, सपनों के बाद आई जागृतियों से, आशाओं और धोखों से बना होता है। पाठक हमेशा पढ़े जा रहे

वाक्य से आगे चलते हैं, केवल संभावित भविष्य में, जो अंशतः ढह जाता है और अंशतः पास आ जाता है जैसे-जैसे वे आगे बढ़ते हैं। यह एक पृष्ठ से दूसरे पृष्ठ तक बढ़ता जाता है और साहित्यिक वस्तु का गतिमान क्षितिज निर्मित करता है। बिना प्रतीक्षा के, बिना भविष्य के, बिना अज्ञान के कोई वस्तुनिष्ठता नहीं होती।

लिखने के कार्य में एक छद्म पठन अंतर्निहित होता है जो वास्तविक पठन को असंभव बना देता है। जब लेखक की क़लम से शब्द निकलते हैं तो वह उन्हें देखता ज़रूर है, पर वह पाठक की तरह नहीं देखता, क्योंकि वह उन्हें लिखने के पहले से जानता है। उसकी दृष्टि का कार्य पढ़े जाने की प्रतीक्षा करते सुषुप्त शब्दों को छूकर उन्हें जगाना नहीं है, बल्कि प्रतीकों के रूपरेखांकन को नियंत्रित करना है। संक्षेप में, यह पूरी तरह से एक नियंत्रण का कार्य है, और लेखक के सामने जो नज़ारा होता है, वह उसकी लेखिनी की छोटी-मोटी चूकों को छोड़कर और कुछ भी उद्घाटित नहीं करता। लेखक न तो अनुमान लगाता है, न भविष्यवाणी करता है; वह *प्रक्षेपण* करता है। ऐसा कई बार होता है कि वह प्रतीक्षा करता है, उस चीज़ की जिसे प्रेरणा कहते हैं। लेकिन आप अपने लिए उस तरह इंतज़ार नहीं करते जिस तरह दूसरों के लिए करते हैं। अगर लेखक हिचकिचाता है तो वह जानता है कि भविष्य अभी बना नहीं है, कि वह ख़ुद ही इसे बनानेवाला है, और अगर वह अभी भी नहीं जानता है कि उसके नायक के साथ क्या होना है तो इसका सीधा-सा मतलब है कि उसने अभी उसके बारे में सोचा नहीं है, कि वह किसी निर्णय पर पहुंचा नहीं है। भविष्य उस समय एक ख़ाली पन्ना है, जबकि पाठक का भविष्य शब्दों से भरे दो सौ पन्ने हैं जो उसे अंत से अलग करते हैं। इस प्रकार लेखक हर जगह सिर्फ़ अपना ज्ञान, अपनी इच्छाशक्ति, अपनी योजनाएं, संक्षेप में, अपने-आप को पाता है। वह सिर्फ़ अपनी आत्मनिष्ठता का स्पर्श करता है; उसके द्वारा रचित वस्तु उसकी पहुंच के बाहर है; वह उसे *ख़ुद के लिए* नहीं रचता। अगर वह अपने-आप को दुबारा पढ़ता है तो इसमें पहले ही ख़ासी देर हो चुकी होती है। वाक्य कभी भी उसकी आंखों में एक वस्तु नहीं होंगे। वह आत्मनिष्ठता की सीमाओं तक चला जाता है, लेकिन उसे पार नहीं कर पाता। वह एक स्पर्श के, एक सूक्ति के, एक सही जगह पर लगे विशेषण के प्रभाव की सराहना करता है, पर यह प्रभाव ऐसा है जो ये चीज़ें दूसरों पर डालती हैं। वह उसे अच्छा या बुरा कह सकता है, पर उसे महसूस नहीं कर सकता। प्रूस्त कभी भी चार्ल्स की समलैंगिकता को नहीं जान सका, क्योंकि उसने किताब लिखने की शुरुआत से पहले ही इसके बारे में निर्णय ले लिया था। और अगर ऐसा दिन आता है जब पुस्तक अपने लेखक के लिए वस्तुनिष्ठता का आभासी रूप हासिल कर लेती है, तो वह इस कारण कि कई साल बीत चुके होते हैं, वह इसे भूल चुका होता है, इसकी आत्मा उसके लिए परायी हो चुकी होती है, और अब वह इसे फिर से लिख नहीं सकता। यही रूसो के साथ हुआ जब उसने जीवन के अंतिम वर्षों में *सोशल कॉन्ट्रैक्ट* को दुबारा पढ़ा।

इस प्रकार, यह सत्य नहीं है कि आप अपने लिए लिखते हैं। वह सबसे बुरा प्रहार होगा। पन्ने पर अपनी भावनाओं का प्रक्षेपण करते हुए हम बमुश्किल उन्हें एक निर्जीव विस्तार दे पाते हैं। रचनात्मक क्रिया किसी कृति के उत्पादन में सिर्फ़ एक अपूर्ण और अमूर्त क्षण होता है। अगर लेखक अकेला होता तो वह जितना चाहता उतना लिख लेता; उसकी कृति कभी वस्तु का रूप नहीं ले पाती और उसे या तो अपनी क़लम रख देनी पड़ती या वह हताश हो जाता। लेकिन लेखन की प्रक्रिया में पठन एक द्वंद्वात्मक सह-संबंधी के रूप में अंतर्निहित है और ये दो जुड़ी हुई क्रियाएं दो अलग-अलग कर्ताओं की मांग करती

हैं। लेखक और पाठक का संयुक्त प्रयास ही उस ठोस और काल्पनिक वस्तु को सामने लाता है जो मस्तिष्क की उपज है।

वास्तव में, पढ़ना अवबोधन और सृजन का संश्लेष प्रतीत होता है। यह वस्तु (ऑब्जेक्ट) और कर्ता (सब्जेक्ट), दोनों की आवश्यकता मान कर चलता है। वस्तु आवश्यक है क्योंकि यह पूरी तरह से इंद्रियातीत है, क्योंकि यह अपनी संरचना को थोप देती है, और क्योंकि आपके लिए इसकी प्रतीक्षा करना और इसका मुआयना करना आवश्यक है; लकिन कर्ता भी आवश्यक है, न सिर्फ़ वस्तु को अनावृत्त करने के लिए (यानी इसे संभव करने के लिए वहां एक वस्तु हो) बल्कि इसके लिए भी कि यह वस्तु निरपेक्षतः अस्तित्व में हो (यानी इसके उत्पादन के लिए)। एक शब्द में, पाठक रचने में अनावरण करने को, अनावरण के द्वारा रचने को महसूस करता है। वास्तव में यह मानना बिल्कुल ज़रूरी नहीं है कि पढ़ना एक यांत्रिक प्रक्रिया है और प्रतीक उसी प्रकार उस पर तस्वीर बनाते हैं जिस प्रकार प्रकाश एक फ़ोटोग्राफ़िक प्लेट पर तस्वीर बनाता है। अगर वह असावधान, थका हुआ, बेवकूफ़ या विचारहीन है तो ज़्यादातर संबंधों को वह समझ नहीं पाएगा। वह वस्तु को 'पकड़ नहीं पाएगा' (उसी अर्थ में जिस अर्थ में हम यह देखते हैं कि आग 'पकड़ पाई' या 'नहीं पकड़ पाई')। वह धुंधलके में पड़े कुछ वाक्यांशों को निकाल लेगा, पर वे बेतरतीब लगेंगे। अगर वह अच्छी तरह से ध्यान देगा तो शब्दों से परे एक संश्लिष्ट रूप प्रक्षेपित करेगा - 'थीम', 'विषय' या 'अर्थ' - जिसमें किसी भी वाक्यांश की हैसियत एक आंशिक प्रकार्य निभानेवाले से अधिक की न होगी। इस प्रकार, बिल्कुल शुरुआत से ही, अर्थ शब्दों में समाया नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत, यह पाठक है जो शब्दों के महत्व को समझे जाने की इजाज़त देता है; और साहित्यिक वस्तु भाषा *में* प्रदत्त नहीं होती, हालांकि वह भाषा के *ज़रिये* ही संभव होती है। इससे उलट, यह स्वभाव से ही एक मौन है, और शब्द की मुख़ालिफ़। साथ ही, किताब में सजे लाखों शब्द एक-एक कर इस तरह पढ़े जा सकते हैं कि उस कृति का कोई अर्थ न निकले। कुछ भी निष्पन्न नहीं होता अगर पाठक शुरुआत से ही और लगभग बिना गाइड के इस मौन की ऊंचाई पर अपने को न रखे; संक्षेप में, अगर वह इसका आविष्कार न करे और उसके बाद जिन शब्दों और वाक्यों को वह जगाता है, उन्हें सही जगह न रखे। और अगर मुझे कहा जाए कि इस प्रक्रिया को एक पुनराविष्कार या खोज कहना बेहतर होगा तो मेरा उत्तर होगा कि, प्रथम, इस तरह का पुनराविष्कार उतना ही नया और मौलिक होगा जितना पहला आविष्कार। ख़ास तौर से, जब एक वस्तु का पहले से अस्तित्व न रहा हो तो उसका पुनराविष्कार या खोज करने का सवाल ही नहीं उठता। कारण कि अगर वह मौन, जिसकी मैं बात कर रहा हूं, सचमुच एक ऐसा लक्ष्य है जिसे लेखक साध रहा है, तो वह कम-से-कम उससे पूर्वपरिचित तो नहीं है; उसका मौन आत्मनिष्ठ और भाषा का पूर्ववर्ती है। यह शब्दों की अनुपस्थिति है, प्रेरणा का एक अभिन्न और जीवंत मौन, जिसे शब्द रूप देंगे, जबकि पाठक द्वारा उत्पन्न किया गया मौन एक वस्तु है। और इस वस्तु के अंदरूनी हिस्सों में और भी मौन हैं—जिनके बारे में लेखक नहीं बोलता। यह ऐसी चुप्पियों का सवाल है जो इतनी विशिष्ट हैं कि वे पठन द्वारा प्रकट की गई वस्तु के बाहर कोई अर्थ नहीं रखतीं। अलबत्ता, यही हैं जो इसे इसका घनत्व और विशिष्ट चेहरा देती हैं।

यह कहना कि वे अनभिव्यक्त हैं, काफ़ी नहीं है, क्योंकि वे अभिव्यक्त किए नहीं जा सकते। और इसी कारण वे पढ़ने के दौरान किसी ख़ास क्षण में नहीं आते; वे हर जगह हैं और कहीं नहीं हैं। *ले ग्रैन्ड स्यूलन्स* की उत्कृष्टता, *अरमान्स* की उदात्तता, काफ़्का के मिथकों के यथार्थवाद और सत्यता की डिग्री—

ये कभी प्रदत्त नहीं होते। पाठक को लिखित चीज़ से निरंतर आगे जाते हुए इन सबको आविष्कृत करना होता है। यह सही है कि लेखक उसका दिशा-निर्देश करता है, पर इससे अधिक कुछ नहीं करता। वह सिर्फ़ मील के पत्थर लगाता है जिनके बीच शून्यता होती है। पाठक को उन्हें जोड़ना होता है; उसे उनके परे जाना होता है। संक्षेप में, पढ़ना एक निर्देशित सृजन है।

एक ओर, साहित्यिक वस्तु में पाठक की वस्तुनिष्ठता के अलावा कोई तत्व नहीं है; रास्कोलनिकोव की प्रतीक्षा मेरी प्रतीक्षा है जो मैं उसे उधार देता हूं। पाठक की अधीरता के बिना वह सिर्फ़ चिह्नों का एक समूह होगा। उससे सवाल पूछनेवाले पुलिस मजिस्ट्रेट के प्रति उसकी नफ़रत मेरी नफ़रत है जिसे चिह्नों द्वारा अनुनयपूर्वक और छलपूर्वक मेरे अंदर से निकाला गया है, और ख़ुद पुलिस मजिस्ट्रेट का उस नफ़रत के बगैर कोई वजूद नहीं है जो उसके प्रति मेरे भीतर, बज़रिये रास्कोलनिकोव, है। वही उसे चित्रित करती है, वही उसकी प्राणवायु है।

पर दूसरी ओर, शब्द हमारी भावनाओं को उभारने और उन्हें हमारी ओर प्रत्यावर्तित करने के लिए प्रयुक्त फंदे की तरह हैं। हर शब्द परे जाने का एक रास्ता है; यह हमारी भावनाओं को आकार देता है, उन्हें नाम देता है और उन्हें एक काल्पनिक व्यक्ति के साथ जोड़ता है जो वह भावनाएं हमारे लिए जीता है और जिसके पास इन उधार लिये गए भावावेगों के अतिरिक्त कोई तत्व नहीं है; वह उन्हें वस्तुएं, नज़रिये और एक क्षितिज प्रदान करता है।

इस प्रकार, पाठक के लिए स्थिति यह है कि सब कुछ करना है और सब कुछ पहले ही किया जा चुका है; पुस्तक बिल्कुल उसकी क्षमता के बराबर होती है; जब वह पढ़ता और रचता है, तो वह जानता है कि वह हमेशा अपने पठन में थोड़ा और आगे जा सकता है, हमेशा अधिक गहराई से रच सकता है, और इस प्रकार कृति उसे उतनी ही अक्षय और गूढ़ लगती है जितनी चीज़ें। कांट ने जिस 'बौद्धिक अंतःप्रज्ञा' की बात दैवी तर्कबुद्धि के संदर्भ में की थी, उसे हम गुणों के इस निरपेक्ष उत्पादन से जोड़ सकते हैं, उस हद तक जिस हद तक वे हमारी आत्मनिष्ठता से उत्पन्न होते हैं और हमारी आंखों के सामने अभेद्य वस्तुनिष्ठताओं में जम जाते हैं।

चूंकि रचना अपनी पूर्णता पढ़े जाने में ही पाती है, चूंकि कलाकार को दूसरे के भरोसे वह काम छोड़ना पड़ता है जो उसने शुरू किया है, चूंकि पाठक की चेतना के ज़रिये ही वह अपने-आप को अपने कार्य के लिए आवश्यक समझ सकता है, इसलिए हर साहित्य एक अपील है। लिखने का मतलब है, पाठक के सामने निवेदन करना कि वह मेरे द्वारा भाषा के माध्यम से अंजाम दिये गये उद्घाटन को वस्तुनिष्ठ अस्तित्व दे। और अगर पूछा जाये कि वह *क्या* है जिससे लेखक यह निवेदन कर रहा है तो उत्तर सरल है। चूंकि एक सौंदर्यात्मक वस्तु के प्रकट होने के लिए पर्याप्त कारण न तो कभी किताब में मिलते हैं (जहां हम वस्तु को उत्पन्न करने के लिए महज़ आग्रह पाते हैं), न ही लेखक के मस्तिष्क में, और चूंकि उसकी आत्मनिष्ठता, जिससे वह पार नहीं पा सकता, वस्तुनिष्ठता तक पहुंचने का कारण मुहैया नहीं करा सकती, इसलिए किसी कलाकृति का आविर्भाव/प्रकटन एक नयी घटना है जिसे पूर्ववर्ती तथ्यों से *व्याख्यायित* नहीं किया जा सकता। चूंकि यह निर्देशित सृजन एक निरपेक्ष शुरुआत है, यह पाठक की स्वतंत्रता द्वारा, और उस स्वतंत्रता में जो कुछ शुद्धतम है, उसके द्वारा संभव किया गया है। इस प्रकार लेखक पाठक की स्वतंत्रता को अपील करता है कि वह उसकी कृति को उत्पन्न करने में सहायक हो।

निस्संदेह, यह कहा जाएगा कि सभी औज़ार अपने-आप को हमारी स्वतंत्रता के भरोसे छोड़ते हैं,

क्योंकि वे किसी क्रिया के माध्यम हैं और कला का कार्य इसमें अनूठा नहीं है। और यह सही है कि औज़ार किसी काम की एक ठोस रूपरेखा है। पर यह प्राक्कल्पनात्मक आदेश के स्तर पर क़ायम रहता है। मैं हथौड़े का इस्तेमाल एक बक्से को बंद करने के लिए कर सकता हूं या अपने पड़ोसी के सिर पर मारने के लिए कर सकता हूं। जहां तक मैं इसके बारे में ही सोचता हूं, यह मेरी स्वतंत्रता को की गई अपील नहीं है; यह मुझे स्वतंत्रता से मुखामुखम नहीं करती; बल्कि यह माध्यमों के स्वतंत्र आविष्कार की जगह पर पारंपरिक प्रक्रियाओं के एक सिलसिले को रख कर उस स्वतंत्रता का इस्तेमाल करने का प्रयास करती है। किताब मेरी स्वतंत्रता के काम नहीं आती, उसे इसकी ज़रूरत होती है। निश्चित रूप से, आप दबाव, वशीकरण या चिरौरी से स्वतंत्रता को संबोधित नहीं कर सकते। उसे पाने का एक ही तरीक़ा है; अव्वल, उसे पहचान कर, उसके बाद, उसमें भरोसा कर, और अंततः, उससे एक क्रिया की अपेक्षा कर, ऐसी क्रिया जो उसके अपने नाम से हो यानी उस भरोसे के नाम से जो हमने उसमें व्यक्त किया है।

इस प्रकार किताब औज़ार की तरह किसी भी लक्ष्य के लिए माध्यम नहीं है; वह जो लक्ष्य सामने रखती है, वह पाठक की स्वतंत्रता है। और कांट की अभिव्यक्ति 'लक्ष्यहीन पूर्णता' मुझे किसी कलाकृति के लिए सही नहीं लगती। वास्तव में, इससे लगता है कि सौंदर्यात्मक वस्तु सिर्फ़ पूर्णता का दिखावा सामने रखती है और वह कल्पना की स्वतंत्र तथा नियमबद्ध क्रीड़ा करवाने तक सीमित है। यहां यह बात भुला दी गयी है कि दर्शक की कल्पना सिर्फ़ नियामक कार्य नहीं करती, बल्कि विधायक कार्य भी करती है। वह खेलती नहीं है; उसे कलाकार द्वारा छोड़े गये चिह्नों के परे जाकर सौंदर्यात्मक वस्तु को फिर से बनाना होता है। जिस प्रकार मस्तिष्क के दूसरे कार्य अपने-आप में मगन नहीं हो सकते, उसी प्रकार कल्पना भी अपने-आप में डूबी नहीं हो सकती; यह हमेशा बाहर है, हमेशा एक उद्यम में लगी हुई है। शायद लक्ष्यहीन पूर्णता हो, अगर कोई वस्तु इतनी अच्छी गढ़ी हुई हो कि हम कह सकें कि इसका लक्ष्य है, भले ही हम उसे देख न सकें। सुंदर को इस रूप में परिभाषित कर हम कांट की तरह कला की सुंदरता को प्राकृतिक सुंदरता के समान मान सकते हैं, क्योंकि एक फूल इतना सिलसिलेवार है, उसके रंग इतने सुसंगत हैं और कटाव इतने नियमित कि इन सब गुणों के लिए एक लक्ष्यात्मक व्याख्या ढूंढ़ने की ओर हमारा रुझान होता है और हम इन सबको एक अज्ञात लक्ष्य के लिए माध्यम समझ बैठते हैं। लेकिन यही ग़लती है। प्रकृति के सौंदर्य की किसी भी तरह कला के सौंदर्य से तुलना नहीं की जा सकती। कलाकृति का कोई लक्ष्य नहीं है; हम वहां कांट से सहमत हैं। लेकिन उसका कारण यह है कि वह अपने-आप में लक्ष्य है। कांट का फ़ॉर्मूला उस अपील को देख नहीं पाता जो हर चित्र, हर मूर्ति, हर किताब के मूल में होता है। कांट का विश्वास है कि कलाकृति पहले तथ्य के रूप में अस्तित्व रखती है और तब उसे देखा जाता है। जबकि सचाई यह है कि इसका अस्तित्व तभी है जब हम इसे *देखते* हैं और जब यह अस्तित्व में आने के लिए पहली शुद्ध अपील, शुद्ध गुहार होती है। यह कोई औज़ार नहीं है जिसका अस्तित्व प्रत्यक्ष है और लक्ष्य अनिश्चित है। यह अपने-आप को ऐसे कार्यभार के रूप में सामने रखती है जिसे किया जाना है; शुरुआत से ही यह निरुपाधि आदेश के स्तर पर होती है। आप उस किताब को मेज़ पर छोड़ देने के लिए बिल्कुल स्वतंत्र हैं। पर अगर आप उसे खोलते हैं तो आप उसके लिए ज़िम्मेवारी लेते हैं। कारण कि आज़ादी अपने स्वतंत्र आत्मनिष्ठ व्यापार के उपभोग द्वारा अनुभव नहीं की जाती, बल्कि आदेश द्वारा अपेक्षित रचनात्मक क्रिया में अनुभव की जाती है। यह परम साध्य, यह आदेश

जो लोकातीत है फिर भी स्वीकार किया जाता है, जिसे आज़ादी ख़ुद अपना बनाती है, यही वह चीज़ है जिसे हम मूल्य कहते हैं। कलाकृति एक मूल्य है क्योंकि यह एक अपील है।

अगर मैं अपने पाठकों से अपील करता हूं ताकि मेरे द्वारा शुरू किए गए कार्य को हम एक सफल समापन तक पहुंचा सकें, तो यह स्वयंसिद्ध है कि मैं उसे एक शुद्ध स्वतंत्रता समझता हूं, एक अन-अनुकूलित गतिविधि; इस प्रकार किसी भी मुआमले में मैं ख़ुद उसकी निष्क्रियता को संबोधित नहीं कर सकता, यानी उसे प्रभावित करने, शुरुआत से ही डर, तृष्णा या क्रोध की भावनाओं को उस तक संप्रेषित करने की कोशिश नहीं कर सकता। निस्संदेह, ऐसे लेखक हैं जो यही भावनाएं उभारने की कोशिश में लगे रहते हैं, क्योंकि वे पहले से जाने जा सकते हैं, प्रबंधनीय हैं, और क्योंकि उन लेखकों के पास उन्हें उभारने के अचूक तरीक़े हैं। लेकिन यह भी सत्य है कि उन्हें इस तरह की चीज़ों के लिए दोष दिया जाता रहा है, जैसे पुरातन काल से ही यूरीपिडीस को दोष दिया जाता रहा है क्योंकि वह मंच पर बच्चों को ले आता था। भावावेग की स्थिति में स्वतंत्रता हस्तांतरित हो जाती है; यह यकायक आंशिक उद्यमों में लग जाती है; यह अपना काम करना भूल जाती है जो कि एक परम लक्ष्य को प्रस्तुत करना है। और किताब अब और कुछ नहीं है सिवाय नफ़रत या वासना के पोषण का माध्यम होने के। लेखक को अभिभूत करने/हावी हो जाने का प्रयास नहीं करना चाहिए; नहीं तो वह अपने-आप से अंतर्विरोध की स्थिति में पड़ जाएगा; अगर वह मांगें रखना चाहता है तो उसे सिर्फ़ यह बताना चाहिए कि कौन-सा कार्य किया जाना है। और इसीलिए शुद्ध प्रस्तुति कलाकृति के लिए आवश्यक मालूम होती है। पाठक में कुछ सौंदर्यात्मक दूरी बनाये रखने की क्षमता होनी चाहिए। इसे ही गॉटिएर ने मूर्खतापूर्ण तरीक़े से 'कला के लिए कला' समझ लिया और पार्नेशियंस ने कलाकार की निर्विकारता। यह सिर्फ़ सावधानी का मामला है और गेनिट ने इसे ज़्यादा अच्छी तरह लेखक की पाठक के प्रति विनम्रता कहा है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि लेखक किसी तरह की अमूर्त और अवधारणात्मक स्वतंत्रता का समर्थन करता है। हम निश्चय ही सौंदर्यशास्त्रीय वस्तुओं को भावनाओं के साथ बनाते हैं; अगर यह मर्मस्पर्शी है तो हमारे आंसू इसे व्यक्त करते हैं; अगर यह कॉमिक है तो इसकी पहचान हंसी से होगी। लेकिन ये भावनाएं विशिष्ट क़िस्म की हैं। उनकी जड़ें स्वतंत्रता में हैं; वे उधार दी गयी हैं। हम किसी क़िस्से में कितना विश्वास करते हैं, इसकी हमें आज़ादी है। यह आवेग है, अपने ईसाई अर्थ में, यानी एक ऐसी स्वतंत्रता जो अपने-आप को दृढ़तापूर्वक निष्क्रियता की स्थिति में रख देती है, ताकि इस बलिदान से एक विशेष इंद्रियातीत प्रभाव हासिल हो। पाठक अपने-आप को आशुविश्वासी या कान का कच्चा बना लेता है; वह एक ऐसे भोले विश्वास में पड़ जाता है जो, अंततः उसे स्वप्न की तरह घेर लेने के बावजूद, हर क्षण स्वतंत्र होने की चेतना से संपन्न रहता है। कभी-कभी लेखक को इस अंतर्द्वंद्व में डालने की कोशिश की जाती है : 'या तो कोई तुम्हारी कहानी पर विश्वास करता है और यह असह्य है, या वह विश्वास नहीं करता, और यह हास्यास्पद है'। लेकिन यह तर्क बेतुका है क्योंकि प्रतिबद्धता के साधन द्वारा, प्रतिज्ञा द्वारा रचित विश्वास होना सौंदर्यात्मक चेतना का अभिलक्षण है, एक ऐसा विश्वास जो अपने और लेखक के प्रति वफ़ादारी से पोषित होता है, जो भरोसा करने का निरंतर नवीकृत होता चुनाव है। मैं कभी भी जग सकता हूं, और मैं इसे जानता हूं; लेकिन मैं ऐसा चाहता नहीं हूं; पढ़ना एक स्वतंत्र स्वप्न है, इसलिए इस काल्पनिक विश्वास के आधार पर निकली भावनाएं मेरी स्वतंत्रता के विशिष्ट सुर हैं। सोखने या छुपाने के बजाय ये वे विभिन्न तरीक़े हैं जिनके द्वारा स्वतंत्रता अपने-आप को अपने सामने प्रकाशित करती

है। जैसा कि मैं कह चुका हूं, रस्कोलनिकोव के प्रति घृणा और मित्रता का जो मिश्रण मैं अनुभव करता हूं, उसके बिना वह सजीव न रहकर एक छाया मात्र रह जाएगा। लेकिन, एक उलट चाल द्वारा जो कि काल्पनिक वस्तु का अभिलक्षण है, उसका व्यवहार मुझे गुस्सा या आदर की भावना नहीं देता, बल्कि मेरा क्रोध और आदर उसके व्यवहार को सुसंगत और वस्तुनिष्ठ बनाता है। इस प्रकार पाठक की भावनाओं के ऊपर वस्तु का प्रभुत्व कभी नहीं होता, और चूंकि कोई बाह्य पदार्थ उन्हें आकार नहीं देता, उनके होने का स्थायी स्रोत स्वतंत्रता में है; यानी, वे सभी उदार हैं—क्योंकि मैं उस भावना को उदार कहता हूं जिसका उद्गम और अंत स्वतंत्रता में है। इस प्रकार पढ़ना उदारता का एक अभ्यास है, और लेखक पाठक से किसी अमूर्त स्वतंत्रता के अमल की मांग नहीं करता बल्कि उसके आवेशों, पूर्वग्रहों, सहानुभूतियों, कामुक मिज़ाज और उसके मूल्यों समेत उसके पूरे व्यक्तित्व की मांग करता है। सिर्फ़ यही व्यक्ति अपने-आप को उदारतापूर्वक देगा; स्वतंत्रता उसमें से होकर गुज़रती है और उसकी संवेदनाओं के अंधेरे कोनों को बदल देती है। और जिस तरह क्रिया ने वस्तु के बेहतर सृजन के लिए स्वयं को निष्क्रिय बना लिया है, उसी तरह निष्क्रियता एक कार्य बन जाती है; पढ़ते हुए आदमी अपने-आप को सबसे ऊंचा उठा लेता है। इसीलिए हम कठोर लोगों को काल्पनिक दुख-दर्द के वृत्तांत पर रोते हुए देखते हैं; क्योंकि उस क्षण के लिए वे वही बन गये होते हैं जो वे होते अगर उन्होंने पूरी ज़िंदगी अपनी स्वतंत्रता अपने-आप से छुपाते हुए न गुज़ारी होती।

इस प्रकार लेखक पाठकों की स्वतंत्रता को संबोधित करने के लिए लिखता है, और उसे अपनी कृति के अस्तित्व के लिए इसकी दरकार होती है। लेकिन यहां वह रुकता नहीं है; वह चाहता है कि उसने जो विश्वास उनमें रखा है, वही वे लेखन में भी रखें, कि वे उसकी रचनात्मक स्वतंत्रता को पहचानें, और कि वे बदले में एक प्रतिसम और उलट अपील के द्वारा इसकी प्रार्थना करें। यहां पठन का एक और द्वंद्वात्मक विरोधाभास प्रकट होता है; हम अपनी स्वतंत्रता का जितना अधिक अनुभव करते हैं, दूसरे की स्वतंत्रता को उतनी ही अधिक मान्यता देते हैं; वह जितना ही ज़्यादा हमसे मांग करता है, हम उतनी ही ज़्यादा उससे मांग करते हैं।

जब एक लैंडस्केप मुझ पर जादुई असर करता है, मैं जान रहा होता हूं कि मैंने इसे नहीं रचा है, लेकिन मैं यह भी जानता हूं कि मेरे बगैर पेड़ों, पत्तों, धरती और घास के बीच के रिश्ते वजूद में नहीं होंगे। मैं जानता हूं कि रंगों के समूह और हवा द्वारा गतिशील किये गये रूपों में जो एक सामंजस्य दिखता है मुझे, उसकी पूर्णता का कोई कारण मैं नहीं दे सकता। लेकिन यह अस्तित्व रखता है; वह वहां मेरी आंखों के सामने है और जो वहां है उससे कुछ ज़्यादा मैं बना सकता हूं। लेकिन अगर मैं ईश्वर में विश्वास करता भी हूं तो दैवी, सार्वभौम उत्कंठा और इस दृश्य-विशेष, जिस पर मैं विचार कर रहा हूं, के बीच शुद्ध शाब्दिक मार्ग के अलावा कोई और रास्ता नहीं बना सकता। यह कहना कि 'उसने' यह प्रकृति मुझे आकृष्ट करने के लिए बनायी या मुझे ऐसा व्यक्ति बनाया जो इससे खुश होता है, वास्तव में उत्तर की जगह प्रश्न ले लेना है। इस नीले और उस हरे का संबंध क्या जान-बूझकर बनाया गया है? मैं कैसे जान सकता हूं? सार्वभौम विधान का विचार किसी विशिष्ट उद्देश्य की गारंटी नहीं है, विशेषकर इस मामले में, क्योंकि घास का हरापन जैविक नियमों, विशिष्ट अ-चरों और भौगोलिक नियतिवाद से व्याख्यायित होता है, जबकि पानी के नीलेपन के पीछे नदी की गहराई, मिट्टी की प्रकृति और नदी का वेग है। रंगों का मिलाप, अगर वह इच्छापूर्वक किया गया है तो, सिर्फ़ सांयोगिक हो सकता है; यह दो

कार्य-कारण शृंखला का मिलन है, यानी पहली नज़र में एक संयोग है। अधिक-से-अधिक कहें तो पूर्णता समस्याग्रस्त बनी रहती है। हम जो भी संबंध बनाते हैं, वे प्राक्कल्पना बने रहते हैं; कोई लक्ष्य हमारे सामने आज्ञार्थक नहीं होता, क्योंकि उनमें से कोई भी पूरी तरह से एक रचयिता द्वारा इच्छित नहीं दिखता है। इस प्रकार प्राकृतिक सौंदर्य हमारी स्वतंत्रता को कोई आमंत्रण नहीं देता। या यों कहें, संपूर्णता में नियमबद्धता प्रतीत होती है; इस संपूर्णता में फूल-पत्ते, रूप और गति है और इससे लगता है कि वह हमारी स्वतंत्रता को पुकार रही है, लेकिन यह हमारे द्वारा उसे देखे जाने के साथ ही ग़ायब हो जाती है। हम इस विन्यास पर अपनी नज़र दौड़ाते हैं कि अपील ग़ायब हो जाती है; हम अकेले रह जाते हैं, एक रंग को दूसरे से या तीसरे से जोड़ने के लिए आज़ाद, इस पेड़ और पानी या पेड़ और आकाश, या पेड़ पानी और आकाश के बीच संबंध बनाने के लिए आज़ाद। मेरी आज़ादी मनमानी हो जाती है। हम जहां तक नये रिश्ते बनाते हैं, उतना ही हम उस भ्रमित वस्तुनिष्ठता से दूर हो जाते हैं जो हमें आमंत्रण देती है। मैं ऐसे अभिप्रायों के बारे में *चिंतन* करता हूं जो चीज़ों द्वारा धुंधले रूप में दर्शायी गयी हैं; प्राकृतिक यथार्थ चिंतन करने के लिए महज़ एक बहाना है। या, उस स्थिति में, चूंकि मैंने गहरा अफ़सोस अनुभव किया है कि यह विन्यास किसी ने मुझे दिया नहीं है और इसीलिए यह वास्तविक नहीं है, इसलिए मैं अपने स्वप्न को बांध देता हूं, उसे कैनवस पर या लेखन में ढाल देता हूं। इस प्रकार मैं प्राकृतिक दृश्यों में आती लक्ष्यहीन पूर्णता और दूसरे लोगों की दृष्टि के बीच अपने-आप को डाल देता हूं। मैं इसे उन तक हस्तांतरित करता हूं। इस हस्तांतरण के द्वारा यह मानवीय हो जाता है। यहां कला *उपहार* का अनुष्ठान है और उपहार ही कायापलट करता है। यह कुछ-कुछ मातृसत्ताक समाजों में उपाधियों और सत्ताओं के हस्तांतरण की तरह है जिसमें मां का नाम नहीं होता, लेकिन वह मामा और भांजे के बीच आवश्यक कड़ी होती है। चूंकि मैंने इस भ्रम को उड़ते हुए पकड़ा है, चूंकि मैंने इसे दूसरों के लिए प्रस्तुत किया है, उनके लिए इसकी गांठें खोली हैं और इस पर दुबारा सोचा है, इसलिए वे विश्वास के साथ इस पर विचार कर सकते हैं। यह साभिप्राय हो गया है। जहां तक मेरी बात है, मैं तो आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ के बीच की रेखा पर रहता हूं और उस वस्तुनिष्ठ विन्यास पर कभी मनन नहीं कर पाता जिसे मैं हस्तांतरित करता हूं।

इसके विपरीत पाठक सुरक्षित प्रगति करता है। वह चाहे जितनी दूर जाये, लेखक उससे ज़्यादा दूर गया होता है। वह चाहे जो भी संबंध किताब के अलग-अलग हिस्सों—अध्याय या शब्दों—के बीच स्थापित करे, उसके पास एक गारंटी है और वह यह कि वे स्पष्टतः इच्छित हैं। जैसा कि देकार्त कहते हैं, वह यह भी समझ सकता है कि कई हिस्सों के बीच एक गुप्त तरतीब है चाहे उनके बीच कोई संबंध प्रतीत न हो। रचनाकार उस रास्ते पर उससे पहले गया है और सबसे खूबसूरत बेतरतीबियां कला का नतीजा हैं, यानी फिर तरतीब है। पढ़ना आगमन (इन्डक्शन), अंतर्वेशन और बहिर्वेशन है और इन क्रियाओं का आधार पाठक की इच्छा पर टिका है, जैसे काफ़ी समय तक यह विश्वास किया जाता था कि वैज्ञानिक आगमन दैवी इच्छा पर आधारित है। एक सौम्य शक्ति शुरू से हमारे साथ रहती है और पहले पृष्ठ से आख़िरी पृष्ठ तक सहारा देती है। इसका मतलब यह नहीं कि हम लेखक के उद्देश्य को आसानी से नाप पाते हैं। जैसा कि हम कह चुके हैं, वे अनुमानों का विषय हैं, और पाठक का एक *अनुभव* होता है; लेकिन ये अनुमान इस निश्चय के साथ आते हैं कि किताब में जो सुंदर चीज़ें हैं, वे सिर्फ़ संयोग से नहीं हैं। प्रकृति में पेड़ और आकाश का सामंजस्य सिर्फ़ संयोग से होता है; इसके विपरीत अगर

उपन्यास में पात्र अपने को एक *ख़ास* टावर में पाते हैं, अगर एक *ख़ास* जेल में पाते हैं, अगर वे एक *विशेष* बाग में टहलते हैं, तो यह दो चीज़ों का मामला है—एक तो स्वतंत्र कारण-कार्य शृंखला की पुनःप्रतिष्ठा का (पात्र की एक विशेष मानसिक अवस्था थी जो कि कई मनोवैज्ञानिक, सामयिक घटनाओं का नतीजा थी; दूसरी ओर, वह एक निश्चित जगह गया और उस शहर में वहां जाने के लिए उसे वह पार्क पार करना पड़ा); दूसरे, एक ज़्यादा गहरी पूर्णता की अभिव्यक्ति का, क्योंकि पार्क अस्तित्व में इसलिए आया कि उसका एक विशेष मानसिक अवस्था के साथ संयोजन या सामंजस्य हो। उसका कार्य इस मानसिक अवस्था को चीज़ों द्वारा व्यक्त करना है या जीवंत विरोधाभास से उभारना है। और मानसिक अवस्था स्वयं ही लैंडस्केप के साथ संबंध में परिकल्पित की गयी थी। यहां कारणता आभास है जिसे 'कारण के बगैर कारणता' कह सकते हैं, और पूर्णता ही गूढ़ वास्तविकता है। लेकिन अगर मैं इस प्रकार पूरे आत्मविश्वास के साथ लक्ष्यों की तरतीब को कारणों की तरतीब के अधीन रख सकता हूं तो वह इसलिए कि किताब को खोलने की क्रिया के द्वारा मैं यह ज़ोर देकर कह रहा हूं कि इस वस्तु का स्रोत मानवीय स्वतंत्रता में है।

अगर मुझे लगे कि लेखक ने भावावेग में लिखा है तो मेरा विश्वास उठ जायेगा, क्योंकि कारणों की तरतीब से लक्ष्यों की तरतीब को सहारा देने का मक़सद पूरा नहीं होगा। उस स्थिति में लक्ष्यों की तरतीब मानसिक कार्य-कारण संबंधों से सहारा पायेगी और कलाकृति नियतिवाद की शृंखला में पुनर्प्रवेश पाकर ख़त्म हो जायेगी। निश्चय ही, जब मैं पढ़ रहा होता हूं तब इस बात से इंकार नहीं करता कि लेखक भावावेग में हो सकता है, या यह कि उसने अपनी कृति की पहली योजना भावावेग में सोची होगी। लेकिन उसका लिखने का निर्णय यह दिखाता है कि वह अपनी भावनाओं से कुछ हद तक अलग होता है, संक्षेप में, कि उसने अपनी भावनाओं को स्वतंत्र भावनाओं में रूपांतरित कर लिया है, जैसे कि मैं अपनी भावनाओं को करता हूं जब मैं उसे पढ़ता हूं, मतलब यह कि वह उदारता का रवैया अपनाये हुए है।

इस प्रकार पढ़ना लेखक और पाठक के बीच उदारता का इकरारनामा है। दोनों एक-दूसरे पर भरोसा रखते हैं; दूसरे से उतना ही मांगते हैं जितना ख़ुद से मांगते हैं। क्योंकि यह भरोसा ख़ुद ही उदारता है। कुछ भी लेखक को यह विश्वास करने पर बाध्य नहीं कर सकता कि उसका पाठक उसकी आज़ादी का इस्तेमाल करेगा; कुछ भी पाठक को यह विश्वास करने पर बाध्य नहीं कर सकता कि लेखक ने उसकी आज़ादी का इस्तेमाल किया है। दोनों एक स्वतंत्र निर्णय लेते हैं। इस तरह एक द्वंद्वात्मक आवाजाही स्थापित होती है; जब मैं पढ़ता हूं तब मैं मांगे सामने रखता हूं; अगर मेरी मांगें पूरी होती हैं तो जो मैं पढ़ रहा हूं, वह लेखक से ज़्यादा मांगने को मुझे उकसाता है, जिसका मतलब है लेखक से यह मांगना कि वह मुझसे ज़्यादा मांगे। और इसी प्रकार लेखक की मांग है कि मैं अपनी मांगों को उच्चतम स्तर तक ले जाऊं। इस तरह, मेरी स्वतंत्रता स्वयं को उद्घाटित करके दूसरे की स्वतंत्रता को उद्घाटित करती है।

इससे ज़्यादा अंतर नहीं पड़ता कि सुंदर वस्तु 'यथार्थवादी' कला (या ऐसी मानी जानेवाली कला) का उत्पाद है या 'कलावादी' कला का। हम कैसे भी देखें, प्राकृतिक संबंध उलट गये हैं; सेज़ां की पेंटिंग की पहली सतह पर जो वृक्ष है, वह पहले एक कारणता-शृंखला के उत्पाद के रूप में दिखता है। लेकिन कारणता एक भ्रम है; यह ऐसा लगेगा जब तक हम पेंटिंग देखते रहेंगे, लेकिन इसके पीछे एक गहरी पूर्णता होगी; अगर पेड़ को इस तरह रखा गया हे तो यह इस कारण है कि बाक़ी की पेंटिंग के लिए

ज़रूरी है कि यह रूप और रंग पहली सतह पर रखे जाएं। इस प्रकार सतह के कारणता संबंध से हमारी दृष्टि वस्तु की गहरी संरचना के रूप में पूर्णता प्राप्त करती है, और इस पूर्णता के परे वह मानवीय स्वतंत्रता को अपने स्रोत और मौलिक आधार के रूप में प्राप्त करती है। वर्मियर का यथार्थवाद तो इतने हद तक गया हुआ है कि शुरू में यह फ़ोटोग्राफ़ लग सकता है, लेकिन अगर हम उसके टेक्स्चर की शान देखें, उसकी छोटी ईंटों की दीवारों की गुलाबी मखमली छवि देखें, उसके पेड़ के तने की नीली मोटाई देखें, उसकी बालकनी का पका हुआ अंधकार देखें, पवित्र पानी की बेसिन के पत्थर की तरह चमकती उनके चेहरों की नारंगी आभा देखें, वह जो आनंद पाता है, उसे देखें तो पता चलता है कि पूर्णता उतनी रूप या रंग में नहीं है जितनी उसकी कल्पना में है। यह चीज़ों का तत्व और तेवर है जो यहां रूपाकारों को उनके होने की वजह देते हैं। इस यथार्थवादी के साथ हम शायद निरपेक्ष सृजन के सबसे क़रीब पहुंचते हैं, क्योंकि पदार्थ की निष्क्रियता में ही हम मानव की अकूत स्वतंत्रता पाते हैं।

कृति कभी चित्र, मूर्ति या कथा तक सीमित नहीं होती। जिस प्रकार हम चीज़ों को संसार की पृष्ठभूमि में ही देखते हैं, उसकी प्रकार कला द्वारा प्रतिनिधित्व पाती वस्तुएं ब्रह्मांड की पृष्ठभूमि में ही आती हैं। फ़ैब्राइस के रोमांचकारी कारनामों की पृष्ठभूमि 1820 के इटली, फ़्रांस, एबे ब्लानिस द्वारा जाने-बूझे आकाश और सितारे और अंत में पूरी पृथ्वी द्वारा निर्मित है। अगर चित्रकार हमें एक मैदान या फूलों का गुलदस्ता दिखाता है तो उसके चित्र सारे संसार पर खुली खिड़कियां हैं। वैन गॉग द्वारा चित्रित लाल पगडंडी को हम सिर्फ़ उतनी दूरी तक नहीं देखते जितना उसने उसे गेहूं के खेत में बनाया है। हम दूसरे गेहूं के खेतों में जाते हैं जो दूसरे बादलों के नीचे हैं, उस नदी तक जाते हैं जो समुद्र में मिलती है, और हम खेत और धरती के अस्तित्व को सहारा देती गहरी पूर्णता को असीमता तक, संसार के दूसरे कोने तक ले जाते हैं। इस प्रकार अपने द्वारा उत्पन्न या पुनरुत्पन्न वस्तुओं के ज़रिये रचनात्मक क्रिया संसार की पूर्ण पुनर्नवता को अपना लक्ष्य बनाती है। हर चित्र, हर पुस्तक अस्तित्व की पूर्णता को प्राप्त करने की कोशिश है। इनमें से हर कोई इस पूर्णता को दर्शक की स्वतंत्रता के सामने प्रस्तुत करता है। क्योंकि यही हर कला का अंतिम लक्ष्य है : इस संसार को, जैसा वो है वैसा ही देखने के लिए देकर, वापस प्राप्त करना, लेकिन इस प्रकार जैसे इसका स्रोत मानवीय स्वतंत्रता में हो। लेकिन, चूंकि लेखक जो रचता है वह देखनेवाले की आंखों में ही वस्तुनिष्ठ यथार्थ बन पाता है, यह वापस पाना (रिकवरी) दृश्य—और ख़ास तौर से पठन—के अनुष्ठान द्वारा ही प्रतिष्ठित होता है। हम अभी ही उस सवाल का जवाब देने के लिए बेहतर स्थिति में है जो हमने कुछ देर पहले उठाया था : लेखक दूसरे लोगों की स्वतंत्रता का आह्वान करता है ताकि अपनी मांगों के आदान-प्रदान से वे अस्तित्व की संपूर्णता को फिर से आदमी के अनुकूल बना सके और व्यक्ति के अंदर ब्रह्मांड को फिर से बंद कर सकें। [...]

लिखना, इस प्रकार, दुनिया को खोलना और पाठक की उदारता के सामने एक कार्य के रूप में उसे पेश करना, दोनों है। यह दूसरे की चेतना तक पहुंचना है ताकि अपना स्व-अस्तित्व की संपूर्णता (टोटॅलिटी ऑफ़ बीइंग) के लिए आवश्यक माना जाए; यह इस आवश्यकता को दूसरों के माध्यम से जीने की अभिलाषा है; लेकिन दूसरी ओर, चूंकि वास्तविक संसार केवल क्रिया के द्वारा ही दिखता है, चूंकि आप अपने-आप को इस संसार में तभी अनुभव कर सकते हैं जब इसे बदलने के लिए इससे परे जाएं, इसलिए उपन्यासकार की सृष्टि में गहराई नहीं होगी यदि वह अपना (इस सृष्टि का) अतिक्रमण करने की एक चेष्टा के बीच अन्वेषित न की गयी हो। ऐसा कई बार कहा गया है कि कहानी में कोई वस्तु

अपने वर्णन की लंबाई और संख्या से अपने अस्तित्व का घनत्व हासिल नहीं करती बल्कि विभिन्न पात्रों के साथ अपने संबंधों की जटिलता से हासिल करती है। जितनी ही ज़्यादा बार चरित्र उसे हाथ में लेते हैं, उठाते हैं, रख देते हैं, संक्षेप में, उससे परे अपने लक्ष्यों की ओर जाते हैं, वह उतनी ही वास्तविक लगती है। इस प्रकार, उपन्यास के संसार, जो कि लोगों और चीज़ों का कुल जोड़ है, के बारे में हम कह सकते हैं कि उसे अधिकतम घनत्व देने के लिए उस उद्‌घाटन-सृजन की, जिसके द्वारा पाठक इसे अन्वेषित करता है, कार्यव्यापार में भी एक काल्पनिक भागीदारी होनी चाहिए; दूसरे शब्दों में, आप जितना ही इसे बदलने की कोशिश करेंगे, वह उतना ही जीवंत होगा। यथार्थवाद की गड़बड़ी है यह विश्वास कि यथार्थ अपने-आप को अवलोकन के लिए पेश करता है और इसीलिए हम उसका एक निष्पक्ष चित्र खींच सकते हैं। यह कैसे मुमकिन है, क्योंकि दृष्टि/देखना मात्र ही निष्पक्ष नहीं है, क्योंकि नामकरण अपने-आप में वस्तु में एक बदलाव है? और कैसे कोई लेखक, जो इस संसार के लिए आवश्यक होना चाहता है, उस अन्याय के लिए आवश्यक होना चाहेगा जो इस संसार में है? पर, उसे होना होगा; लेकिन अगर वह अन्यायों का सर्जक होना स्वीकार करता है तो यह एक ऐसी चेष्टा के बीच में है जो उन अन्यायों से परे उनका ख़ात्मा करने की ओर जाती है। जहां तक मेरा यानी पढ़नेवाले का सवाल है, यदि मैं एक अन्यायपूर्ण दुनिया को रचता और जीवंत रखता हूं, तो मैं अपने-आप को उसके लिए ज़िम्मेवार होने से रोक नहीं सकता। और लेखक की कला इसी में निहित है कि जो वह *उद्‌घाटित करता* है, उसी को मैं *रचूं* और इस प्रकार अपने-आप को दोषी ठहराऊं। इसलिए हम दोनों संसार के लिए ज़िम्मेवार होते हैं। और चूंकि यह संसार हमारी दो स्वतंत्रताओं के संयुक्त उद्यम द्वारा सहारा पाता है और चूंकि लेखक ने मुझे माध्यम बना कर इसे मानवीय बनाने का प्रयास किया है, यह अपने-आप में ऐसी स्वतंत्रता से परिपूर्ण लगना चाहिए जिसने मानवीय स्वतंत्रता को अपना लक्ष्य माना है और अगर यह लक्ष्यों की नगरी नहीं भी है, जैसा कि इसे होना चाहिए, तो यह एक पड़ाव अवश्य होगा; संक्षेप में, इसे एक 'होने' की प्रक्रिया (बीकमिंग) होना चाहिए और हमें नीचे की ओर धंसाते भारी पत्थर की तरह इसकी प्रस्तुति और इस पर विचार नहीं करना चाहिए, बल्कि इस दृष्टिकोण से करना चाहिए कि हम इससे परे लक्ष्यों की नगरी की ओर प्रयाण कर रहे हैं। जिस मानवता को यह चित्रित करता है, वह कितनी भी बुरी और आशाविहीन हो, कृति में उदारता का वायुमंडल होना चाहिए। ऐसा नहीं है कि इस उदारता को उपदेशों और चरित्रवान लोगों द्वारा अभिव्यक्त करना है; इसे पहले से सोचा हुआ भी नहीं होना चाहिए, और यह बिल्कुल सही है कि अच्छी भावनाओं से अच्छी किताबें नहीं बनतीं। लेकिन इसे पुस्तक का ताना और बाना होना चाहिए, वह पदार्थ जिससे लोगों और चीज़ों को तराश कर निकाला गया है; विषय कोई भी हो, एक आवश्यक नरमी हर जगह होनी चाहिए जो हमें याद दिलाये कि कृति कभी भी एक प्राकृतिक दस्तावेज़ नहीं है बल्कि एक ज़रूरत और एक उपहार है। और अगर यह दुनिया मुझे इसके अन्यायों के साथ दी गयी है तो इसलिए नहीं कि मैं उन्हें आराम से देखूं, बल्कि इसलिए कि मैं उन्हें अपने क्रोध से जीवित करूं, कि मैं उन्हें उनकी अन्यायरूपी प्रकृति के साथ उद्‌घाटित करूं और रचूं, यानी ऐसे अन्यायों के रूप में उनका उद्‌घाटन और सृजन करूं जिन्हें रोकना है। [...] संसार को कितना भी अंधकारपूर्ण क्यों न चित्रित किया जाये, आप इसका चित्रण इसलिए करते हैं कि स्वतंत्र लोग इसे देखते हुए अपनी स्वतंत्रता का अनुभव करें। इस तरह सिर्फ़ अच्छे और बुरे उपन्यास होते हैं। बुरे उपन्यास ठकुरसुहाती करके खुश करते हैं, जबकि अच्छे उपन्यास एक आवश्यकता हैं और एक विश्वास व्यक्त करनेवाला

कार्य। लेकिन सबसे पहले, लेखक जिस अनोखे दृष्टिकोण से उन स्वतंत्रताओं को यह संसार सौंपता है जिनकी सम्मति वह पाना चाहता है, वह दृष्टिकोण उस संसार का होना चाहिए जो हमेशा अधिक स्वतंत्रता से गर्भित है। यह अकल्पनीय है कि लेखक द्वारा उकसायी गयी उदारता का प्राचुर्य एक अन्याय को प्राधिकृत करने में इस्तेमाल हो सकता है या पाठक ऐसी कृति को पढ़ने में आनंद पा सकता है जो मानव के द्वारा मानव के दमन को सही ठहराये या उसे धिक्कारे नहीं। हम एक अमेरिकन नीग्रो द्वारा लिखे अच्छे उपन्यास की कल्पना कर सकते हैं जिसमें गोरों के प्रति घृणा का भाव हो, क्योंकि इस घृणा के द्वारा वह अपनी नस्ल की स्वतंत्रता की मांग करता है। और, जैसे ही वह मुझे उदारता की मुद्रा अपनाने को कहता है, जिस क्षण मैं अपने-आप को शुद्ध स्वतंत्रता समझता हूं, मैं ख़ुद को दमनकारियों की नस्ल के साथ एक नहीं समझ सकता। इस प्रकार मैं सभी स्वतंत्रताओं से यह मांग करता हूं कि वे गोरों के ख़िलाफ़, और जिस हद तक मैं उसका हिस्सा हूं उस हद तक मेरे ख़िलाफ़, काले लोगों की मुक्ति की मांग करें, लेकिन कोई एक क्षण को भी यह नहीं मान सकता कि यहूदी-विरोध की तारीफ़ में एक अच्छा उपन्यास लिखा जाना संभव है। कारण, जिस क्षण मैं यह महसूस करता हूं कि मेरी स्वतंत्रता बाक़ी सभी लोगों की स्वतंत्रता के साथ अभेद्य रूप से जुड़ी है, मुझसे यह मांग नहीं की जा सकती कि इसका उपयोग मैं इनमें से कुछ लोगों को गुलाम बनाने की अभ्यर्थना के लिए कर सकूं। इस तरह चाहे वह लेख लिखे या पुस्तिका, व्यंग्य लिखे या उपन्यास, चाहे व्यक्तिगत भावावेग की बात करे या सामाजिक व्यवस्था पर हमला करे, स्वतंत्र लोगों को संबोधित करता स्वतंत्र लेखक सिर्फ़ एक विषय पर लिखता है - स्वतंत्रता।

इसलिए अपने पाठकों को गुलाम बनाने की कोई भी कोशिश उसकी कला में ही उसके लिए ख़तरा बन जाती है। एक लोहार बतौर एक इंसान अपने जीवन में फ़ासीवाद से प्रभावित हो सकता है लेकिन ज़रूरी नहीं कि अपने कार्य में भी प्रभावित हो; एक लेखक दोनों में प्रभावित होगा और यहां तक कि अपनी कला में अपने जीवन से ज़्यादा प्रभावित होगा। मैंने युद्ध से पहले फ़ासीवाद की वक़ालत करते लेखकों को देखा है जो ठीक उस क्षण नपुंसक हो गये जब नाज़ी उन्हें सम्मान से लाद रहे थे। मैं ख़ास तौर से ड्रयू ला रोशेल के बारे में सोच रहा हूं; वह ग़लत था लेकिन ईमानदार था। उसने यह साबित किया। उसने एक नाज़ीवादी पत्रिका का संपादन संभाला। पहले कुछ महीने तक उसने अपने देशवासियों को डांटा-फटकारा और व्याख्यान सुनाये। किसी ने उसको उत्तर नहीं दिया क्योंकि कोई ऐसा करने को स्वतंत्र नहीं था। वह झुंझला उठा; वह अपने पाठकों को *महसूस* नहीं कर पाता था। वह ज़्यादा आग्रही हो गया, पर इसका कोई संकेत नहीं मिला कि उसे समझा गया है, न नफ़रत का कोई संकेत और न गुस्से का; कुछ नहीं। वह अपना संतुलन खो बैठा। उसका तनाव बढ़ता गया। उसने जर्मनीवासियों से कड़वे अंदाज़ में शिकायत की। उसके लेख उत्कृष्ट हुआ करते थे; वे अब कर्णभेदी हो गये। वह क्षण आया जब वह अपनी छाती पीटने लगा; जिन्हें वह निचले दर्जे का समझता था, ऐसे ख़रीदे हुए पत्रकारों के अलावा कहीं से उत्तर नहीं आया। उसने इस्तीफ़ा दे दिया, फिर वापस ले लिया, फिर से बोला, पर अभी भी उसकी आवाज़ रेगिस्तान में ही थी। अंततः वह चुप हो गया, दूसरों की चुप्पी ने उसका मुंह बंद कर दिया। उसने दूसरों की गुलामी की मांग की थी, लेकिन अपने विक्षिप्त मस्तिष्क में उसने कल्पना की होगी कि यह ऐच्छिक है, कि यह अभी भी स्वतंत्र है। वह आयी; उसके अंदर के आदमी ने अपने-आप को जमकर मुबारक़बाद दी, लेकिन लेखक उसे सहन नहीं कर पाया। जब यह चल रहा था तो दूसरे, जो बहुतायत में थे, यह समझ रहे थे कि लिखने की स्वतंत्रता में नागरिक की स्वतंत्रता निहित है। आप

गुलामों के लिए नहीं लिखते। गद्य की कला उस अकेली शासन-व्यवस्था से जुड़ी है जिसमें गद्य अर्थ रखता है, यानी लोकतंत्र। जब एक पर ख़तरा आता है तो दूसरे पर भी आता है और उन्हें क़लम से बचाना काफ़ी नहीं है। एक दिन आता है जब क़लम को रुकना पड़ता है, और तब लेखक को हथियार उठा लेना चाहिए। इस प्रकार, आप किसी भी तरह इसकी ओर आये हों, आपके कोई भी मत रहे हों, साहित्य आपको युद्ध में डाल देता है। लिखना स्वतंत्रता को एक ख़ास तरीक़े से चाहना है; आपने एक बार शुरू कर दिया तो चाहे अनचाहे आप प्रतिबद्ध हो जाते हैं।

किसके प्रति प्रतिबद्ध? स्वतंत्रता को बचाने के प्रति? यह कहना आसान है। क्या यह आदर्श मूल्यों के अभिभावक के रूप में काम करने का मामला है, विश्वासघात से पहले बेंदा के 'क्लर्क' की तरह? या यह रोज़मर्रा की ठोस स्वतंत्रता है जिसकी हिफ़ाज़त के लिए हमें राजनैतिक और सामाजिक संघर्षों में पक्ष लेना होगा? यह सवाल एक दूसरे सवाल से जुड़ा है, जो देखने में सरल है लेकिन जिसे कोई अपने-आप से नहीं पूछता : 'हम किसके लिए लिखते हैं?'

अनुवाद : राजीव कुमार / संजीव कुमार
मो. : 09818577833

चढ़िये हाथी ग्यान को, सहज दुलीचा डारि

(नामवर सिंह से योगेश तिवारी और सुखप्रीत कौर की बात-चीत)

नामवर जी के साथ लगभग मुक्त-आसंग पद्धति से की गयी यह बातचीत जितनी दिलचस्प है, उतनी ही समृद्ध भी। दो युवाओं का उनसे विभिन्न मुद्दों पर बात करने का यह सिलसिला अभी जारी है, इसीलिए लंबा होने के बावजूद यह साक्षात्कार अभी अधूरा है। —सं.

योगेश तिवारी : पहली बार पंडितजी (आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी) से कब भेंट हुई?

नामवर सिंह : पंडितजी को पहली बार बनारस काशी नागरीप्रचारिणी सभा की स्वर्णजयंती में देखा था। ठीक-ठीक याद नहीं। संभवतः 1954 का कोई महीना रहा होगा। वे शायद पहले और आख़िरी व्यक्ति हैं जिनका मैंने ऑटोग्राफ लेना चाहा था। मैंने अपनी डायरी उनके आगे कर दी। कहा कि कुछ लिख दें। वे हंसे। फिर डायरी ली और उसमें लिखा, 'चढ़िये हाथी ग्यान को, सहज दुलीचा डारि। स्वान रूप संसार है, भूंकन दे झख मारि।।' तब से आज तक यह दोहा मेरे साथ है। पूरे जीवन में है। इसी को मैंने गुरुमंत्र माना।

एम.ए. के दौरान मैंने उन्हें कार्ड लिखा था। वे शांतिनिकेतन में थे तब। मैंने शोध के लिए कोई विषय पूछा था। उनका जवाब आया था। कहा था कि कुछ दिनों में बनारस आने वाला हूं। वहीं पूछ लेना। तब पता नहीं था कि वे विभाग में स्थायी तौर पर आ रहे हैं।

पंडित जी की नियुक्ति हो गयी और वे बनारस आ गये। मुझे पता चला तो उनसे मिलने गया। अपने भाई के यहां ठहरे हुए थे। आयुर्वेदाचार्य थे। शाम का समय था। लालटेन जल रही थी। छोटा सा घर था। झोपड़ी जैसी आकृति बना रखी थी। उन्होंने कहा कि यहां तो मच्छर लगेंगे। चलो टहलते हुए ही बात करते हैं। रास्ते में ही बात होगी। उन्होंने पूछा कि क्या वातावरण है यहां का। मैंने कहा कि आप तक जो ख़बर पहुंची है, वह सही है। लोग नाराज़ हैं आप से। वे विश्वविद्यालय के बारे में पूछते रहे। अगले दिन हम साथ ही विभाग गये। जैसे ही उन्होंने पढ़ाना शुरू किया, उनके हाथ के झटके से उनका चश्मा जमीन पर गिरा और टूट गया। उन्होंने कहा, 'लो, शुरुआत ही अशुभ से', फिर ठठाकर हंस दिये। यही शुरुआती याद है।

योगेश तिवारी : पंडित जी का इंटरव्यू बहुत कम लिया गया है। उन्होंने इतने कम इंटरव्यू क्यों दिये? मेरे देखे में उनके तीन इंटरव्यू आये हैं। एक तो जो आपने मनोहर श्याम जोशी को भेजा था उनके पास

चंडीगढ़। वे साठ साल के हुए थे। *आलोचना* में छापा था आपने उसे। अपनी तरह का वह अनोखा ही इंटरव्यू है। दूसरा उन्होंने अशोक वाजपेयी, रमेशचंद्र शाह आदि को दिया। शायद 1976 में। तीसरा, रणवीर रांग्रा ने द्विवेदी जी से बातचीत की है। रणवीर रांग्रा ने इस बात-चीत को अपनी शैली में लिखा है।

पंडितजी की ग्रंथावली में उनका एक भी इंटरव्यू नहीं है। इसका कारण क्या है? आपने मनोहर श्याम जोशी को ही उनका इंटरव्यू लेने क्यों भेजा? ख़ुद क्यों नहीं गये?

नामवर सिंह : इंटरव्यू वग़ैरह बहुत कम देते थे वे। इसीलिए जोशी जी को मैंने चंडीगढ़ भेजा था। मुझे लगा, अगर पंडित जी का इंटरव्यू कोई ले सकता है तो वह जोशी जी ही हैं। मुझे पता था कि जोशी जी ने पंडित जी को पढ़ा नहीं है। तो इनके मन में आतंक नहीं होगा। सहज होकर बातचीत कर सकते हैं। वही हुआ भी। मेरे साथ खुल कर बात-चीत नहीं कर पाते। टेप-रिकार्डर देखते ही कांसस् हो जाते। इसके अलावा जोशी जी एक साथ ही ट्रेडीशनल और मॉडर्न थे। पंडित जी भी एक ही साथ दोनों हैं, पारंपरिक और आधुनिक। दोनों का मिज़ाज काफ़ी मिलता-जुलता था। दोनों एक-दूसरे को जानते नहीं थे। मनोहर श्याम ने टेप नहीं किया। याद्दाश्त इतनी अच्छी थी कि ज्यों का त्यों उतार दिया। बहुत प्रतिभाशाली व्यक्ति थे मनोहर श्याम जोशी।

सुखप्रीत कौर : मनोहर श्याम जोशी को जो जगह मिलनी चाहिए थी हिंदी साहित्य में वह नहीं मिली। जबकि उनके उपन्यास हिंदी उपन्यास की भाषा और शिल्प के स्तर पर चली आ रही एकरसता को तोड़ते हैं। प्रयोग का जितना साहस मनोहर श्याम जोशी में दिखता है, उतना शायद किसी और में नहीं।

नामवर सिंह : सही कहा। उन्हें उचित जगह नहीं मिली। मेरे ज़ेहन पर जिन उपन्यासकारों की छाप है, उनमें पहले नंबर पर हैं फणीश्वरनाथ रेणु, दूसरे श्रीलाल शुक्ल और तीसरे मनोहर श्याम जोशी। भाषा के तौर पर भी और शिल्प के तौर पर भी। अज्ञेय और पंडित जी भी इसी कोटि में आ जाते हैं। बहुत बड़ी रेंज है इनकी। अनुभव का दायरा भी काफ़ी बड़ा है।

मनोहर श्याम जोशी के उपन्यास नयेपन का आभास तो देते ही हैं। उनका जो पहला ही उपन्यास है *कुरु करु स्वाहा*, बहुत ही प्रयोगधर्मी उपन्यास है। यद्यपि एक महानगर को लेकर है यह उपन्यास, लेकिन कहीं न कहीं ठेठ भारतीयता का एक रूप वहां भी है। एक पुराने पहाड़ी ब्राह्मण नवयुवक के सामंती संस्कारों और आधुनिकता के बीच जो तड़प है, जो टूटन है, जो बेचैनी है, उसको जितनी तीव्रता के साथ यह व्यक्त करता है, कदाचित बहुत पहले *गोरा* में रवींद्रनाथ ठाकुर ने दार्शनिक स्तर पर व्यक्त किया था। लेकिन *गोरा* इस मामले में इकरंगा है, इकहरा है, ज़िंदगी की वो ठेठ धड़क दिखायी नहीं पड़ती जो शायद *कुरु कुरु स्वाहा* में दिखायी पड़ती है।

सुखप्रीत कौर : मनोहर श्याम जोशी का पहला उपन्यास *कुरु कुरु स्वाहा* 1982 में प्रकाशित हुआ। इसे देखकर नहीं लगता कि यह उनका पहला ही उपन्यास है। सर, मनोहर श्याम जोशी से आपका परिचय कब हुआ? उनके बारे में कुछ बताएं।

नामवर सिंह : मनोहर श्याम जोशी की रचनाएं पुस्तक के रूप में बाद में छपीं। पहले पत्रिकाओं में छपीं।

मैं नहीं मान सकता कि उन्होंने 1982 से लिखना शुरू किया। 1964-65 में जब मैं दिल्ली आया था, वे *साप्ताहिक हिंदुस्तान* में काम करते थे। अज्ञेय भी वहीं थे।

मनोहर श्याम जोशी से मेरी मुलाकात लखनऊ में ही हुई थी। पहले वे 'कूर्मांचली' के नाम से कविताएं लिखते थे। उनकी कुछ कहानियां भी छपी थीं।

मीडिया में काम करने वाले आदमी थे जोशी जी। हर चीज़ पर उनकी पैनी दृष्टि रहती थी। उन्होंने धारावाहिक भी लिखे। भाषा और चरित्र पर उनकी ग़ज़ब की पकड़ है।

सुखप्रीत कौर : जोशी जी के चरित्रों और उनके उपन्यास लेखन की 'टेकनीक' के बारे में कुछ बताएं।

नामवर सिंह : क़िस्सागोई मनोहर श्याम जोशी का हथियार है। उनके चरित्र अद्‌भुत हैं। वे जानबूझ कर ऐसे चरित्र चुनते हैं जिनमें क़िस्सागोई की गुंजाइश हो। मनोहर श्याम जोशी का लेखन काल बहुत लंबा है। समय के साथ उनमें परिवर्तन हुआ है। यह देखने की ज़रूरत है कि कौन-सी चीज़ उनके लेखन में शुरू से अंत तक आ रही है और क्या है जो बदलता गया है। संपूर्ण लेखन में उनकी दृष्टि क्या है? ऐतिहासिक क्रम से देखने की ज़रूरत है। उनका खिलंदड़ापन शुरू से अंत तक है। दूसरों का मज़ाक उड़ाने से पहले अपना ही मज़ाक उड़ाते हैं।

जोशी जी कुमाऊंनी ब्राह्मण थे। कुमाऊंनी ब्राह्मणों के दो वर्ग हैं। एक बड़ी धोती वाले, दूसरे छोटी धोती वाले। बड़ी धोती वाला वर्ग संपन्न वर्ग है। इस वर्ग के लोग सरकारी नौकरियों में ऊंचे पदों पर हैं, 'ब्यूरोक्रेट' हैं या 'पॉलिटिक्स' में हैं। यह 'भद्र' लोगों वाला समाज है। छोटी धोती वालों के साथ ऐसी बात नहीं है। *कसप* का नायक छोटी धोती वाले वर्ग का है। छोटे तबके का ग़रीब लड़का। जोशी जी वैसे तो अजमेर में रहे, पर कुमाऊं भी आते-जाते रहते थे। इसलिए *कसप* बहुत हद तक 'ऑटोबायोग्राफ़िकल' भी है। डी.डी. जो *कसप* का नायक है, बात-बात में अपमानित होता रहता है भद्र समाज में। यहां से वर्ग चेतना पैदा होती है उसमें। जोशी जी 'ह्यूमर' भी पैदा करते हैं। शायद ही किसी ने लिखा हो कि 'अस्थाई टट्टी' में नायक और नायिका का पहला साक्षात्कार होता है। वह भी जब नायक के पायजामे के नाड़े में 'मारगांठ' पड़ गयी हो। अपने उपन्यासों में ऐसे प्रसंग खूब लाते हैं जोशी जी। जीवन की विद्रूप स्थितियों का वर्णन करते हैं।

वे बंबई में भी रहे। फ़िल्मी दुनिया को जानते थे। वहां के जीवन का वर्णन भी किया है। जोशी जी में एक वर्ग चेतना तो है ही। छोटे लोगों के बीच रहते हुए कुमाऊंनी ब्राह्मणों का मज़ाक उड़ाया है। मैंने तो एक उदाहरण दिया। मनोहर श्याम जोशी को समझने के लिए उनके पूरे साहित्य को समझने की ज़रूरत है। उसमें जो परिवर्तन हो रहा है, उसे समझने की ज़रूरत है। वर्ग संबंध के बारे में, स्त्री-पुरुष के संबंध के बारे में यानी 'क्लास' और 'जेंडर' के बारे में उनकी क्या दृष्टि है? 'पॉलिटिक्स' के बारे में उनकी क्या राय है? उनके पूरे साहित्य को देखकर ही यह समझ में आयेगा।

योगेश तिवारी : एम.ए. के दौर की पंडित जी और आप से जुड़ी कोई और बात जो आपको याद आती हो?

नामवर सिंह : जहां तक मुझे याद है, जुलाई 51 में मेरा एम.ए. का रिज़ल्ट आया था। मैंने 'टॉप' किया था। यह ख़बर अख़बारों में प्रकाशित हुई थी। संभवतः इसी ख़बर को देखकर महाराणाप्रताप डिग्री कॉलेज

से एक टेलिग्राम पंडित जी के पास आया था कि हमारे यहां हिंदी विभाग खुल रहा है, उसके लिए नामवर को यहां भेज दें।

शाम को मैं पंडित जी के घर गया तो उन्होंने टेलिग्राम दिखाया। मैंने कहा कि बड़ी मुश्किल से आप से कुछ सीखने का मौक़ा मिला है और यह मौक़ा मैं खो नहीं सकता। मुझे राजपूत-ब्राह्मण पॉलिटिक्स में नहीं पड़ना। भूखा रह लूंगा पर वहां न जाऊंगा। पंडित जी ने काफ़ी समझाया। जब मैं नहीं माना तब अंत में हारकर बोले, 'तुम उल्टी खोपड़ी के हो, भाई! जो मन में आयेगा वही करोगे। ठीक है।'

योगेश तिवारी : शोध के सिलसिले में *हर्षचरित* पढ़ रहा हूं। जगन्नाथ पाठक का हिंदी अनुवाद। कोई और पुस्तक जिससे मुझे मदद मिल सके?

नामवर सिंह : *हर्षचरित : सांस्कृतिक अध्ययन* वासुदेवशरण अग्रवाल की एक बहुत अच्छी पुस्तक है। इसे ज़रूर देखना। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद से आयी है। वहां व्याख्यान हुआ था उनका। शिवपूजन बाबू उस समय वहां के मंत्री थे। मेरे पास होनी चाहिए वह किताब।

हर्षचरित का जो जगन्नाथ पाठक वाला अनुवाद पढ़ रहे हो, ये पाठक जी वासुदेव जी के ही शिष्य हैं। उन्हीं के अंडर में उस समय पीएच.डी. कर रहे थे। बाद में इलाहाबाद चले गये।

योगेश तिवारी : आपकी भी तो संस्कृत पर अच्छी पकड़ है।

नामवर सिंह : अब तो संस्कृत पढ़ना छूट गया। बनारस के साथ बहुत कुछ छूटता चला गया। जे.एन.यू. तो मिला पर संस्कृत छूटती चली गयी।

योगेश तिवारी : वासुदेव जी के विषय में कुछ और याद आ रहा हो तो बताएं।

नामवर सिंह : मैं जब भी पंडित जी से मिलने उनके घर जाता, वासुदेव जी से भी मिलता था। बहुत विद्वान आदमी थे। कपिला वात्स्यायन उन दिनों वासुदेवशरण अग्रवाल के निर्देशन में शोध कर रही थीं। मेरा ख़याल है, संस्कृति से जुड़ा कोई विषय था। कपिला जी की मां सत्यवती मल्लिक से पंडित जी का पुराना परिचय था। शांतिनिकेतन के दिनों से परिचय रहा होगा। कपिला जी जब वासुदेवजी से मिलने जातीं तो पंडित जी से भी मिलतीं थीं।

एक बार जब कपिला जी पंडित जी के घर पहुंची तो भोजन का समय हो रहा था। पंडित जी ने उनके लिए भी भोजन परोसा। साथ में नीम की चटनी। कपिला जी चौंकी। पूछा 'यह क्या चीज़ है पंडितजी?'

'नीम की चटनी'—पंडितजी का छोटा-सा उत्तर था।

'यह कैसे खा सकती हूं मैं?'

'अरे! आप नीम की चटनी नहीं खा सकतीं तो भारतीय समाज और संस्कृति पर शोध कैसे कर सकती हैं? हमारे समाज में भी ऐसी ही कड़वाहट भरी हुई है।'

योगेश तिवारी : उन दिनों की कोई बात याद आ रही है क्या जब आप को सागर और पंडित जी को काशी विश्वविद्यालय छोड़ना पड़ा था?

नामवर सिंह : सागर में मुझे स्थायी नहीं किया था नंददुलारे वाजपेयी ने। उनके मन की नहीं करता था मैं। बनारस वापस आ गया था। एक दिन गोधूलि की बेला में पंडित जी के यहां गया। पंडित जी को भी उस समय हिंदू विश्वविद्यालय से निकाल दिया गया था। पहुंचा तो देखा पंडित जी बैठे हुए हैं। एकदम अकेले। शांत। मुझको देखते ही उन्होंने तपाक से कहा, 'अपना हाथ तो दिखाना जरा!' मैंने कहा, 'पंडित जी, आप तो ज्योतिष मानते ही नहीं।' उन्होंने कहा, 'मानता तो नहीं, पर जो ज्योतिष में देखा वह सच होता दिख रहा है। फिर मेरा हाथ देखकर कहा कि मेरी तरह ही तुम्हारे ऊपर भी शनि और साढ़े साती की छाया है। मेरे ऊपर से इनकी कुदृष्टि हटने वाली है। तुम्हारे ऊपर अभी कुछ समय तक इनका प्रकोप रहेगा। अच्छी बात यह है कि इसके हटते ही तुम्हें मान और प्रतिष्ठा मिलनेवाली है। पर अभी कुछ समय और लगेगा। तुम्हें धीरज रखना पड़ेगा।' इस घटना के दो या तीन महीने बाद पंडित जी चंडीगढ़ चले गये।

योगेश तिवारी : पंडित जी या आप ज्योतिष भले ही न मानते हों, पर उस दिन पंडितजी की कही बात सही साबित हुई। आप इसके बाद क्या ज्योतिष पर विश्वास करने लगे?

नामवर सिंह : नहीं करता विश्वास। मैं चकित ज़रूर होता हूं कि पंडितजी की बात सही साबित हुई। बावजूद इसके मैं ज्योतिष को नहीं मानता। मेरा विश्वास नहीं। कभी कुंडली नहीं बनवायी मैंने। ज्योतिषी से पूछ कर कोई काम नहीं किया।

योगेश तिवारी : इस घटना के बाद क्या पंडितजी विश्वास करने लगे ज्योतिष पर?

नामवर सिंह : मेरा ख़याल है वे भी ज्योतिष नहीं मानते थे। उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा भी है कि 'मैं ज्योतिष नहीं मानता। जानता ज़रूर हूं।' उन्होंने ज्योतिष पढ़ा था। गहरा ज्ञान था ज्योतिष का। हो सकता है, दुख और निराशा के क्षणों में अपने ज्योतिष-ज्ञान को आजमाया हो उन्होंने।

योगेश तिवारी : शिल्प की दृष्टि से पंडित जी के उपन्यासों में *चारु चंद्रलेख* को बिखरा हुआ उपन्यास माना जाता है। कई तरह के आरोप भी लगे हैं इस पर। मुझे लगता है इस उपन्यास को ठीक से पढ़ा नहीं गया है।

नामवर सिंह : *चारु चंद्रलेख* के लेखन का समय पंडितजी के जीवन में संघर्ष का समय भी है। चारु चारुता के लिए भी है। उपन्यास एक चारु लेख की तरह है। लालित्य है इसमें। चारु चंद्रलेख को चंद्रलेख इसलिए भी कहा कि चंद्रमा पागलपन का भी सूचक है। भटकता रहता है वह। इसलिए चंद्रलेखा और सातवाहन का मन भटकता रहता है। कभी यहां, कभी वहां। पंडित जी को बनारस छोड़ना पड़ा था। मेरा ख़याल है, महीने दो महीने कोई 'जॉब' नहीं थी। अनिश्चितता थी। एक तरह से बनारस में वह तपस्या कर रहे थे। उस तपस्या के बाद चंडीगढ़ से 'ऑफ़र' मिला। शिवालिक पर है चंडीगढ़। पार्वती को तप के बाद शिव की प्राप्ति हुई थी। पंडित जी को शिवालिक की प्राप्ति हुई। इसके बाद ही कालिदास के *कुमारसंभव* के पांचवें सर्ग के अंतिम श्लोक से प्रेरणा लेकर उन्होंने *पुनर्नवा* की रचना की थी। वह श्लोक इस प्रकार है-

अद्य प्रभित्यवनतांगि! तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिरिति वादिनी चंद्रमौलो।
अह्राय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विद्यते।।

अनामदास का पोथा में भी अनाम की कल्पना अंगद कूद की तरह दिखायी गयी है। *बाणभट्ट की आत्मकथा* और *पुनर्नवा* सुगठित हैं। पंडितजी *पुनर्नवा* कालिदास को केंद्र में रखकर लिखना चाहते थे। उनके प्रिय कवि तो कालिदास ही थे। बाद में तुलसीदास हुए। पंडित जी की अंतिम इच्छा तुलसीदास पर ही लिखने की थी।

योगेश तिवारी : द्विवेदी जी *पुनर्नवा* भले ही कालिदास पर लिखना चाहते थे पर उसमें भी जगह-जगह तुलसीदास जी को ही उद्धृत किया है उन्होंने।

नामवर सिंह : कालिदास पर एक उपन्यास लिखने का सोचा था। पर ठीक उनके मन के अनुरूप नहीं हुआ। बुढ़ापे में तुलसीदास की याद आयी। अक्सर वह तुलसीदास को उद्धृत करते थे। लेकिन कालिदास कहीं न कहीं मन में बैठे थे। पंडितजी कहा करते थे कि काशी आने पर उन्हें तुलसी की व्यथा का पता चला। वह सिर्फ़ इसलिए बड़े नहीं हुए कि *रामचरितमानस* लिखा। वह इसलिए भी बड़े थे कि काशी में 'सर्वाइव' कर गये। पंडित जी का भी बड़ा विरोध हुआ। वहां के लोग समझते थे कि पंडित जी ने उनका हक़ छीन लिया। सब लोग नाराज़ थे कि पंडित जी यहां क्यों आ रहे हैं। पंडितजी कहा करते थे कि तेज़ को बर्दाश्त न कर पाने पर लोग गाली-गलौज पर उतर आते हैं। उनके साथ भी यही हुआ। बनारस के लोग उनके तेज़ को बर्दाश्त नहीं कर पा रहे थे। तरह-तरह से उनके ख़िलाफ़ साज़िशें करने लगे। उन्हें बनारस से निकलवा कर ही माने लोग।

योगेश तिवारी : द्विवेदी जी ने चारों उपन्यासों में अलग-अलग भाषा का व्यवहार किया है। निर्मल वर्मा और विनोद कुमार शुक्ल जो भी उपन्यास लिखते हैं, उसमें भाषा एक ही तरह की रहती है।

नामवर सिंह : हां, पंडितजी ने अपने उपन्यासों में एक ही तरह की भाषा नहीं लिखी। पंडितजी ने *बाणभट्ट की आत्मकथा* जो लिखी, उसमें लंबे-लंबे वाक्य लिखे। समासयुक्त वाक्य लिखे। बाणभट्ट ख़ुद एक अच्छे गद्यकार थे। *बाणभट्ट की आत्मकथा* लिखते समय द्विवेदी जी ने इस बात का ध्यान रखा। *बाणभट्ट की आत्मकथा* में गद्य के दो-तीन नमूने हैं। कहीं-कहीं छोटे-छोटे वाक्य भी हैं। *अनामदास का पोथा* की तो पूरी भाषा ही बदली हुई है।

योगेश तिवारी : उपन्यास के रूप पर कुछ कहें।

नामवर सिंह : उपन्यास का एक रूप तो आत्मकथात्मक है। भारतेंदु ऐसा ही उपन्यास लिखना चाहते थे—*कुछ आपबीती कुछ जगबीती*। इस परंपरा में प्रेमचंद का भी एक उपन्यास है जो अंतिम है और अधूरा है। *मंगलसूत्र*। भारतेंदु ने उपन्यास शुरू किया था कि उनकी मृत्यु हो गयी। प्रेमचंद भी *मंगलसूत्र* पूरा नहीं कर सके। तीसरा उपन्यास है अज्ञेय का *शेखर : एक जीवनी*। कायदे से यह भी अधूरा ही है। *बाणभट्ट की आत्मकथा* को पूरा किया पंडित जी ने। हर्षकालीन समय लिया। ख़ुद बाणभट्ट भी कोई रचना पूरी नहीं कर पाये थे। *बाणभट्ट की आत्मकथा* भी कैसे पूरी हो सकती थी। द्विवेदी जी भी बाणभट्ट के बहाने

स्वयं उपन्यास में मौजूद हैं। उनकी भी कथा है यह। बंगाल में भी कई लेखकों ने आत्मकथात्मक उपन्यास लिखा है।

ऐतिहासिक घटनाओं को आधार बनाकर भी उपन्यास लिखे जाते हैं। देखना यह चाहिए कि लेखक इतिहास को किस तरह उपन्यास में लाता है। पंडितजी ने अपने उपन्यासों में इतिहास का कैसा इस्तेमाल किया है, यह देखा जाना चाहिए। उपन्यास के रूप में, structure में क्या बदलाव किया है। समय उनके यहां किस तरह से आता है। Time की philosophy पर अज्ञेय और निर्मल वर्मा ने लेख लिखा है। उपन्यास तो पंडितजी ने ही लिखा है।

योगेश तिवारी : हिंदी उपन्यासकारों में विनोद कुमार शुक्ल अपने को कहां अलगाते हैं? विनोद जी के उपन्यासों में आप को क्या नयापन दिखता है?

नामवर सिंह : देखो, सभ्यता का एक मॉडल होता है। चलने का, खाने का, पीने का। ज़िंदगी आज एकरस हो गयी है। 'मेकैनिकल' हो गयी है। इसकी वजह से विशेषता खो गयी है। ऐसा फ्यूडल ज़माने में होता था। सांचे ढला समाज जिसे कहेंगे। ऐसे समाज में हर चीज़ में एकरसता होती है। इस एकरसता को तोड़ने का तरीक़ा यह है कि जो चीज़ परिचित है उसे अपरिचित की तरह पेश किया जाय। फ़ेमिलियर (Familiar) को डीफ़ेमिलियर (Defamiliar) करके पेश करना। रूसी सिद्धांतकार विक्टर श्क्लोवस्की का चर्चित सिद्धांत ही है। जब सिद्धांत पढ़ाता था, तब इसका ज़िक्र करता था मैं। यथार्थ को देखने के लिए हर चीज़ का साधारणीकरण करके देखते हैं लोग। साधारणीकरण घातक है। यथार्थ इतना भयानक है, इसलिए उसे दिखाने का तरीक़ा अलग होना चाहिए। आदर्श साहित्य के लिए तो किसी चीज़ का साधारणीकरण किया जा सकता है। पर जिस समाज में कोई आदर्श न हो, आदर्श ख़त्म हो रहे हों, ऐसे दौर में साहित्य की भूमिका अपरिचय के माध्यम से परिचय कराना हो जाता है। मुझे नहीं मालूम कि विनोद कुमार शुक्ल ने श्क्लोवस्की को पढ़ा है या नहीं, लेकिन वह अपने उपन्यासों में familiar को defamiliar करके पेश करते हैं। इसलिए वे साधारण चीज़ें भी पाठक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती हैं जो कि सामान्य जीवन में उसे नीरस लगती हैं।

योगेश तिवारी : अभी विनोद जी का एक उपन्यास प्रकाशित हुआ है *हरी घास की छप्परवाली झोपड़ी और बौना पहाड़*।

नामवर सिंह : हां, आमतौर पर लोग ऊंचा पहाड़ तो लिखते हैं लेकिन बौना पहाड़, वह तो विनोद जी ही लिख सकते हैं। ऊंचे पहाड़ तो हम सुनते हैं लेकिन बौना नहीं। इसलिए शीर्षक के प्रति आकर्षण तो होता है।

इस उपन्यास में एक पात्र कहता है कि 'सपने खुद देखे जाते हैं, दिखाये नहीं जाते।' ऐसे वाक्य विनोद जी के यहां आते हैं जो पाठक को 'एलर्ट' करते रहते हैं। इसी तरह एक पात्र है जिसे लोग बहरा समझते हैं। लेकिन सचाई यह है कि वह लोगों की बात सुनते हुआ भी अनसुना करता रहता है। बहुत से लोग आज ऐसा करते हैं। क्लास में शिक्षक बकबक कर रहा होता है और छात्र नहीं सुनते। विनोद

जी इसमें रस पैदा करते हैं। यथार्थ को एक अलग रूप में दिखाते हैं। *नौकर की कमीज* में इतना नहीं था। बाद के उपन्यासों में यह ज़्यादा है।

योगेश तिवारी : विनोद जी ने बातचीत में मुझसे कहा भी था कि असल में हम दो ज़िंदगियां जीते हैं। एक यथार्थ और दूसरा कल्पना। जीवन में कल्पना न हो तो जीना मुश्किल हो जायेगा। वह इसी कल्पना को साहित्य में लाते हैं।

नामवर सिंह : ठीक कहा है। जो हमने किया और जो हम नहीं कर पाये, लेकिन करना चाहते हैं। जो करना चाहते हैं, उसे विनोद जी साहित्य में लाते हैं। आकांक्षा। स्वप्न।

योगेश तिवारी : विनोद जी के गद्य के विषय में आपकी क्या राय है?

नामवर सिंह : विनोद जी गद्य में कविता लिखते हैं और कविता में गद्य। *दीवार में एक खिड़की रहती थी* का एक अंश विनोद जी ने कभी सुनाया था, पूरा छपने से पहले। अच्छा लगा था। बाद में जब पूरा उपन्यास आया तब पढ़ा। इसी के आस-पास दूधनाथ सिंह का भी एक उपन्यास आया था, *आख़िरी कलाम*। जहां तक मुझे याद है, लखनऊ में किसी सभा में बोलते हुए मैंने इन दोनों उपन्यासों का ज़िक्र किया था। इन दोनों लेखकों ने अपने साहित्यिक जीवन की शुरुआत कविता से की थी। *दीवार में एक खिड़की रहती थी* में विनोद जी की भाषा में जो सहजता है, काव्यमयता है, वह दूधनाथ सिंह के *आख़िरी कलाम* में क्यों नहीं है? *आख़िरी कलाम* की भाषा की कृत्रिमता अखरी थी मुझे। उस सभा में दूधनाथ सिंह भी थे। नाराज़ हो गये थे।

योगेश तिवारी : विनोद कुमार शुक्ल पर आरोप लगते हैं कि वे सामाजिक नहीं हैं, उनके लेखन में भी समाज का यथार्थ नहीं आता। उनके लेखन में विशुद्ध कल्पना रहती है जिसे वे अपनी भाषा के माध्यम से एक अनोखा रूप देकर पाठक को चकाचौंध करना चाहते हैं। मोटे तौर पर उन्हें कलावादी कह दिया जाता है।

नामवर सिंह : विनोद कुमार शुक्ल का साहित्य अकेलेपन का उत्सव नहीं है, वह सामाजिकता की घोर उत्कंठा को प्रकट करता है। विनोद जी का यह कहना कि 'जो मेरे घर कभी नहीं आयेंगे / मैं उनसे मिलने / उनके पास चला जाऊंगा' उनकी समाज से जुड़ने की गहरी उत्कंठा ही है। यह बात वह व्यक्ति ही कह सकता है जो निपट अकेला हो- कारण चाहे जो भी हो- पर वह सामाजिक होने के लिए हमेशा प्रयत्नरत है।

अब तक लोगों ने विनोद कुमार शुक्ल के साहित्य के 'फ़ार्म' पर ही लिखा है, 'कंटेंट' पर लिखने से बचे हैं। विनोद जी चीज़ों को 'नरेट' नहीं करते, 'डिस्क्राइब' करते हैं। जार्ज लुकाच का एक लेख है 'नरेशन एंड डिस्क्रिप्शन'। विनोद जी भी अपने उपन्यासों में सूक्ष्म ब्यौरे देते हैं, दृश्य जैसा। पहले मैं भी सिर्फ़ अंतर्वस्तु को ही महत्वपूर्ण समझता था। बाद में लगा कि रूप का भी उतना ही महत्व है। बल्कि रूप (शब्द) के द्वार से ही हम किसी रचना में प्रवेश पा सकते हैं।

विनोद जी के साहित्य में जो चरित्र आते हैं, उन्हें निम्न-मध्यवर्गीय कहा जाता है। ये सिर्फ़ निम्न-मध्यवर्गीय नहीं हैं। ये वे लोग हैं जो हर तरफ़ से उपेक्षित हैं। हाशिये पर हैं। अतिसाधारण हैं।

प्रकृति भी विनोद जी के यहां कविता और उपन्यास दोनों में अपने अतिसाधारण रूप में आती है। जैसे एक कविता में 'महुए के टपकने' की आवाज़ है। यह प्रकृति का अतिसाधारण रूप है। कमल नहीं, महुए का फूल। धरती के ऊपर आकाश के छाने को लोगों ने अलग-अलग तरह से देखा है। लेकिन 'आकाश धरती को खटखटाता है' यह विनोद जी से पहले पूरे हिंदी साहित्य में किसी ने नहीं लिखा है।

विनोद जी के यहां इंद्रियों का बहुत महत्व है। सभ्यता का एक अभिशाप यह होता है कि वह इंद्रियों को बहुत भोथरा बना देती है। संवेदना की तीव्रता को कम कर देती है। विनोद जी का साहित्य इंद्रिय बोध के ज़रिये मानवीय संवेदना को जगाने की कोशिश करता है। इंद्रियों को सक्रिय करके चित्त को जगाता है।

सुखप्रीत कौर : साहित्यिक शोध और आलोचना में क्या संबंध होना चाहिए?

नामवर सिंह : मेरी समझ में आलोचना का मतलब आलोचनात्मक सिद्धांत नहीं है, बल्कि किसी चीज़ को आलोचनात्मक तरीक़े से, यानी critically देखना होना चाहिए।

एक विशेष लेखक पर जब काम कर रहे हैं तो उस लेखक ने अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में क्या लिखा है, कहा है, इसकी जानकारी होनी चाहिए। फिर लेखक के बारे में जिन-जिन लोगों ने कहा-लिखा है, वह सामग्री होनी चाहिए। पत्र-पत्रिकाओं और किसी ख़ास पुस्तक में विषय और लेखक से संबंधित जानकारी एकत्रित करनी चाहिए। इसको सामग्री संचयन कहा जाता है।

यह भी देखना चाहिए कि लेखक ने जो कहना चाहा है, उसे एक सुर में साध पाया है या नहीं। कहीं ऐसा तो नहीं कि वह कहना कुछ और चाहता हो पर उसकी रचना कुछ और कहती हो। लेखन-प्रक्रिया कार चलाना नहीं है कि अपनी मर्जी से चलाये जा रहे हैं। अक्सर लेखक का कंट्रोल रचना पर नहीं रह पाता। रचना की अपनी गति होती है। कृतिकार का कहना और कृति का कहना एक ही नहीं होता है। उर्दू का एक शेर है, 'कहता हूं मुंह से कुछ तो निकलता है मुंह से कुछ/कहने को यूं तो मुंह में जुबान है जुबां नहीं है।' शायर ने कहा है तो यूं ही नहीं कहा है। शब्द की अपनी एक स्वतंत्र सत्ता होती है। शब्द हमेशा लेखक की ही भाषा नहीं बोलता। पाठक के अनुसार बदल सकता है। इसके अलावा लेखक की रचना में उसके जीवन का कितना सच आया है, आया है या नहीं यह भी देखा जाना चाहिए। कई बार लेखक अपनी किसी आकांक्षा या सपने को भी अपनी रचना में चुपके से पिरो देता है, जो इच्छा वह पूरी नहीं कर सका जीवन में।

योगेश तिवारी : शोध-प्रबंधों में उद्धरण किस तरह लाये जाने चाहिए? किसी लेख में ही उद्धरण का क्या महत्व होता है?

नामवर सिंह : उद्धरण देना सबसे कठिन काम है। उद्धरण का चयन बहुत कठिन काम है। आप यहां से वहां तक उद्धरण दिये जा रहे हैं। आपने जो कहा, उससे उद्धरण का कोई संबंध बनता है या नहीं। उद्धरण कुछ और कह रहा है, आप कुछ और कह रहे हैं। उद्धरण देने की कला किसी शोध कार्य में, लेखन में बहुत महत्वपूर्ण होती है। आजकल आम तौर पर शोध-ग्रंथों में पिचहत्तर फ़ीसदी नहीं तो पचास फ़ीसदी सिर्फ़ उद्धरण ही होते हैं। उद्धरणों का सटीक इस्तेमाल बहुत ही ज़रूरी होता है किसी भी शोध-प्रबंध में। उद्धरण का 'लोकेशन', संदर्भ बहुत महत्वपूर्ण होता है। मूल उद्धरण किस संदर्भ में है

और आप किस संदर्भ में उसका इस्तेमाल करते हैं। तर्क क्या देते हैं। आपकी तर्क योजना और पद्धति में उद्धरण फिट होता है या नहीं। आपकी ख़ुद की टिप्पणियां और विश्लेषण बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। इनके बिना उद्धरण बेजान होते हैं। कोई किताब मेरे सामने होती है तो मैं उद्धरण देखकर बता सकता हूं कि किताब अच्छी है या ख़राब। एक अच्छा परीक्षक आपके उद्धरणों से आप की 'थीसिस' का आकलन कर सकता है। आपकी समझ और रुचि का पता कर सकता है। आप की 'थीसिस' की गुणवत्ता बता सकता है। इसलिए उद्धरण आपकी मूल बात का हिस्सा लगना चाहिए। ऐसा न हो कि आपका 'फ़्लो' रुक जाये।

अगर आप अनावश्यक उद्धरण का सहारा लेंगे तो आपका गद्य लड़खड़ायेगा, भाषा लड़खड़ायेगी। मेरी यह बात अव्यवहारिक भी लग सकती है। क्योंकि बहुत से लोग उद्धरणों की बहुलता को ही अच्छी 'थीसिस' का पैमाना मानते हैं। उद्धरणों से लोग यह मान लेते हैं कि शोधार्थी ने बहुत से लोगों को, बहुत सी किताबों को पढ़ा है। तो इससे पंडिताई का आतंक तो पड़ सकता है, ज्ञान का नहीं। इसलिए आपकी अपनी बात महत्वपूर्ण होती है। पर अपनी बातों के प्रमाण में उद्धरण देना ज़रूरी है 'थीसिस' में। 'थीसिस' में उपसंहार तो होता ही है लेकिन हर चैप्टर में भी आपकी बात स्पष्ट होनी चाहिए कि आप आख़िर कहना क्या चाहते हैं। आपने क्या निष्कर्ष निकाला है। कहानी और उपन्यास लिखते समय निष्कर्ष देना उनको कमज़ोर बनाता है। लेकिन निष्कर्षहीन आलोचना ख़राब आलोचना होती है।

योगेश तिवारी : साहित्यिक शोध में आलोचनात्मक दृष्टि की क्या भूमिका हो सकती है?

नामवर सिंह : शोध के लिए एक क्रिटीकल दृष्टि तो होनी चाहिए। बहुत सारे साहित्य-सिद्धांत भी हैं। आपको तय करना होगा कि आप किस सिद्धांत का कैसा इस्तेमाल करते हैं। आप अपने विश्लेषण से किस नतीजे पर पहुंचते हैं। तो आपकी रीडिंग महत्वपूर्ण है। रीडिंग का मतलब सिर्फ़ पढ़ना नहीं होता है, क्रिटिकली पढ़ना होता है। विश्लेषण और आपका मत महत्वपूर्ण होता है। कई लोग परस्पर विरोधी बातें भी करते चलते हैं। यह ठीक नहीं है। इससे आपके अस्थिर चित्त का पता चलता है। आप लिखते चले जाते हैं और पता ही नहीं चलता है कि आप कहना क्या चाहते हैं। आप कविता-कहानी-उपन्यास-नाटक नहीं लिख रहे हैं। शोध-प्रबंध लिख रहे हैं। शोध का एक निष्कर्ष भी होता है। शोध में स्थापना और निष्कर्ष तो होने ही चाहिए। आपकी स्थापना और निष्कर्ष में विसंगति नहीं होनी चाहिए। पंडिताई का प्रदर्शन नहीं, बल्कि आपका विवेक दिखना चाहिए।

योगेश तिवारी : किसी कहानी को कैसे पढ़ा जाय?

नामवर सिंह : हर कहानी की जान एक तोते में होती है। ज़रूरत उस तोते को पहचानने या ढूंढ़ने की होती है। एक अच्छा आलोचक यही काम करता है। जब तक हम ख़ुद को किसी बड़ी रचना को समर्पित नहीं कर देते, तब तक वह रचना हमारे सामने अपना अर्थ नहीं खोलती।

योगेश तिवारी : कविता को किस तरह पढ़ा जाना चाहिए? आपकी नज़र से जब कोई कविता गुज़रती है तो वह एक नया ही अर्थ देने लगती है।

नामवर सिंह : प्रत्येक कविता अलग होती है। अलग ढंग से पढ़ने की मांग करती है। हर किसी का अपना अंदाज़ होता है। कवि कब, कैसे, कहां, किस अंदाज़ से अपनी बात कहता है, यह कविता की बुनावट पर निर्भर होता है। प्रसाद का अलग है, निराला का अलग। सबका एक जैसा नहीं है। हर कविता की एक बनावट और बुनावट होती है। कोई कवि दृश्य पहले पकड़ता है, कोई बाद में। कोई कवि कविता के शुरू में ही अपनी बात कह देता है तो कोई कवि कविता के अंत में अपनी बात कहता है।

योगेश तिवारी : अज्ञेय की कविता *नाच* को कैसे पढ़ा जाय, उदाहरण को तौर पर। आपने हाल ही में एक मंच पर इस कविता का ज़िक्र किया है।

नामवर सिंह : *नाच* कविता बहुत छोटी कविता नहीं है। इस कविता में अज्ञेय एक ही बात कई बार कहते हैं। इस तरह वह नाच का एक दृश्य उपस्थित करते हैं। कविता में रस्सी, खंभा, नाच और मैं बार-बार आते हैं। इतनी बार उन्होंने रिपीट किया है कि रिपिटीशन को सुनने में कवि के कष्ट का बोध होता है। एक आदमी परेशान है। पूरी कविता नाच को एकदम जीवंत कर देती है। एक आदमी है, यहां जाता है, वहां जाता है। काहे के लिए जाता है? वह नाचता नहीं है, सिर्फ़ एक तरफ़ से दूसरी तरफ़ दौड़ता है, लेकिन लोग समझते हैं कि नाच रहा है। वह नाच नहीं रहा है। सिर्फ़ दौड़ रहा है। अज्ञेय का पूरा जीवन भी ऐसा ही है। संपूर्ण जीवन वह जन्म और मृत्यु, दो खंभों के बीच बंधी रस्सी पर दौड़ते रहते हैं। दुनिया इसे नाच समझती है। यह *नाच* जो है वह उनका संपूर्ण सृजनात्मक कार्य है। कविता, कहानी, उपन्यास लिखना *नाच* है। तनाव की रस्सी को खोलकर वह मुक्त होना चाहते हैं। इसी मुक्ति की तलाश में वह सारे जीवन सृजन करते हैं।

भोगने वाला नहीं समझता कि भोगने की प्रक्रिया में वह रच रहा है। अब ईलियट की बात अगर ठीक मानी जाय तो भोक्ता और रचनाशीलता में कोई फ़र्क़ नहीं होता। पर हर वह व्यक्ति जो भोक्ता होता है, वो कवि नहीं होता। *नाच* कविता में भी कवि दोनों में फ़र्क़ करता है। वह दुनिया को देखता है और अपने इस देखने को भी देखता है। आंख से हम दुनिया को देखते हैं। हम भूल जाते हैं कि हम जिस दुनिया को देख रहे हैं, वो सचमुच वैसी ही है कि नहीं। अगर आंखों में कोई दोष हो तब? इसलिए देखने की शुरुआत अपनी आंखों से ही करें। यह सेल्फ-कॉन्शनेस है। अज्ञेय में यह बहुत ज़्यादा है। कविता लिखने वाले लोग सामान्यतः आत्म-विस्मृत होते हैं। अपने को भूल कर कविता लिखते हैं। अज्ञेय ऐसे नहीं हैं। मानो वो ख़ुद एक तनी हुई रस्सी पर नाच भी रहे हों और इस नाच को देख भी रहे हों।

योगेश तिवारी : *असाध्य वीणा* पर आप क्या कहेंगे?

नामवर सिंह : *असाध्य वीणा* उनकी सबसे प्रसिद्ध लंबी कविता है। उन्होंने ख़ुद कहा कि यह कविता उन्हें अच्छी लगती है पर अंत में शिथिल हो गयी है। यह समीक्षा उन्होंने ख़ुद की है। किसी और का ध्यान नहीं गया है।

असाध्य वीणा एक तरह से उनका काव्य-दर्शन भी है। उनकी जीवन-दृष्टि है। प्रियंवद को राज दरबार में बुलाया गया। वहां एक ऐसी वीणा था जिसे कोई बजा नहीं पा रहा था। कोई साध नहीं सकता था उसे। वह असाध्य थी। वह प्रियंवद के सामने लायी गयी। वह उसे बजाने का प्रयत्न नहीं करता है। उसके सामने वह नतशीश होकर जगाता है उसे। अनछुई छुवन से छूता है वह उसको। वीणा स्वयं झनझना

उठती है। 'तू गा, तू गा...' और ये कहकर अंत में वीणा मौन हुई। सभा स्तब्ध रह गयी। वीणा को प्रणाम करके केशकंबली चुपचाप चला गया। केशकंबली नाम के एक आचार्य बुद्ध के पहले हुए थे। मुझे लगता है, कहीं न कहीं अज्ञेय बुद्ध के दर्शन को मानते थे।

पहली बार मैंने उन्हें 1946 में देखा था। दोपहर का समय था। नवंबर का महीना। हल्की सी धूप गिर रही थी उनके ऊपर। मानसमुकुल दास जो इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर रहे उनके साथ असम से आये थे। शांतिनिकेतन में रह चुके थे। उनके दो-तीन साल के बच्चे के साथ अज्ञेय खेल रहे थे। वह बुद्ध की प्रतिमा के साथ खेल रहे थे। हो सकता है सारनाथ गये हों, वहां से ले लिया हो। वह 'बस्ट' था केवल। *असाध्य वीणा* में शांति है। उनकी एक कविता है *कितनी शांति कितनी शांति*। एक कविता है *चुपचाप चुपचाप*। वह चुप्पा बहुत रहते थे। यह जो बुद्ध का मौन है, बहुत गहराई से वे उससे प्रभावित थे। कारण शायद यह रहा हो कि आरंभ में इनका संबंध बंदूक-पिस्तौल चलानेवाले चंद्रशेखर जैसे क्रांतिकारियों से था। उसकी प्रतिक्रिया में वह एकदम से गांधी की ओर नहीं गये। जिसको कहते हैं न कि *कूचे यार से निकले तो सूएदार चले*। फांसी के तख्ते से निकलकर अंततः वह बुद्ध की ओर गये। इसलिए उनका जीवन-दर्शन मूल रूप से बुद्ध का दर्शन था। शांति का दर्शन था। इसने उनकी रचना को, उनकी सृजनात्मकता को प्रभावित किया।

योगेश तिवारी : उनकी छोटी कविताओं पर आपकी क्या राय है?

नामवर सिंह : मैं मुख्य रूप से देख रहा था कि अपनी छोटी कविताओं में वह एक चित्र देते हैं। चित्र का जो अर्थ होता है, वह जीवन का कोई गूढ़ सत्य होता है। एक छोटा सत्य। मार्मिक। अविस्मरणीय। उसे वह व्यक्त कर देते हैं। यहां सत्य से मतलब कोई बुद्ध जैसा ज्ञान नहीं। वह कहते थे, कई सत्य मिले जीवन में। जिसे वे अनुभव सत्य कहते थे। अपनी छोटी कविताओं में वे यही छोटे-छोटे सत्य व्यक्त करते हैं। कविताओं में छवि, चित्र, संवेदना है जो व्यंजित होती है। वह कथित नहीं होती, वाच्य नहीं होती। शायद इसीलिए वह अपनी छोटी कविताओं को ज़्यादा महत्व देते थे।

अपनी छोटी कविताओं में वह शब्द भी गढ़ते हैं। मैं समझता हूं, अगर एक कोश बनाया जाय तो हिंदी में जितने शब्दों का प्रयोग उन्होंने किया है, शब्द साधना की है, उतना निराला के बाद दूसरे किसी ने नहीं किया है। शब्द को लेकर वे बहुत सावधान थे। मितव्ययी थे। नपे-तुले शब्दों का व्यवहार करते थे। बोलने में अनावश्यक बात-चीत न करते थे। कविता में इसका बराबर ध्यान रखा कि एक पंक्ति भी फालतू न आने पाये। कबीर कहते थे, साधो सबद साधना कीजे। 'शब्द साधना' है अज्ञेय के यहां। कभी शमशेर ने एक कविता लिखी थी, बात बोलेगी हम नहीं/भेद खोलेगी बात ही। यह शमशेर करते हैं और यही काम अज्ञेय भी करते हैं, यद्यपि कहीं कहा नहीं उन्होंने। लेकिन *असाध्य वीणा* में कह दिया उन्होंने कि वीणा को हम नहीं बजाते, वह स्वयं बजती है।

योगेश तिवारी : साहित्यिक आलोचना और साहित्य के समाजशास्त्र के क्या संबंध हो सकते हैं?

नामवर सिंह : साहित्य का समाजशास्त्र और कुछ भी हो, साहित्यिक आलोचना नहीं है। जब तक साहित्य को डूब कर पूरी रुचि से नहीं पढ़ा जायेगा, तब तक साहित्यिक आलोचना नहीं लिखी जा सकती। सिर्फ़ साहित्य सिद्धांत पढ़ कर लिखी गयी आलोचना ठूंठ होती है। ऐसे बहुत से लोग हैं जो अपने लेखन में

सिर्फ़ सिद्धांत बघारते रहते हैं। ऐसे लोग प्रत्येक रचना में कोई न कोई सिद्धांत ढूंढ़ते रहते हैं। इसलिए रचना इनसे दूर भागती रहती है।

सुखप्रीत कौर : किस रचना को कालजयी कहा जा सकता है? कैसे तय होगा कि कोई रचना कालजयी है या नहीं?

नामवर सिंह : हम लोग जो काल विभाजन करते हैं, प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक—उसमें भी आधुनिक, उत्तर आधुनिक—साहित्य में यह उसी तरह नहीं होता। इस तरह का बंटवारा सामान्यतः इतिहास में चलता है। प्राचीन, मध्य और आधुनिक। साहित्य तो कालातीत होता है। जो महान रचना होती है, वह किसी काल विशेष में लिखी जा कर भी अपने को काल से मुक्त कर लेती है। इसी तरह की रचनाओं को कालजयी रचना कहते हैं। कालजयी रचना कालजीवी भी होती है। कबीर साहब ने कहा है—'कहैं कब्बीर सोई संत जन सूरमा / काल निच्चोरि के अमृत पीवै।' जो संत है, कवि है, वो काल से बंधा नहीं होता। कालजयी रचना भी काल के बंधन को तोड़ देती है। वह काल के सारे दायरों को तोड़कर कालातीत हो जाती है। *रामचरितमानस* है जैसे। कालजयी है। क्लासिक। यद्यपि रचा गया है यह निश्चित समय में, लेकिन वह काल का अतिक्रमण करता है। जो रचना अपने रचना काल का अतिक्रमण न करे, उसका ऐतिहासिक महत्व तो हो सकता है, साहित्य की दृष्टि से ऐसी रचना महत्वपूर्ण नहीं हो सकती, जैसे *भारत-भारती*। *भारत-भारती* अपने समय में बहुत ही महत्वपूर्ण रचना थी, पर आज उसका सिर्फ़ ऐतिहासिक महत्व ही शेष है। यह उस काल को समझने में सहायक हो सकती है। शाश्वत रचना नहीं है यह। जैसे अमृत बासी नहीं होता, वैसे ही कालजयी रचना कभी बासी नहीं होती। कालजयी रचना की एक्सपायरी डेट नहीं होती है। विमर्श ख़त्म हो जाते हैं। कभी आधुनिकता, नयी समीक्षा, नयी कहानी, नयी कविता का बोलबाला था। आज कोई याद नहीं करता। सिर्फ़ नयी कविता कह देने से ही कोई कविता नयी तो हो नहीं जाती है। उस दौरान लिखी हुई अधिकतर कविताएं कूड़ा हैं। उस समय भले वे नयी रही हों, पर आज नयी नहीं हैं। कुछ ही अच्छी कविताएं हैं। सचमुच ही जो साहित्य है, वह पुराना तो हो सकता है, outdated नहीं हो सकता। 'नया' विशेषण लगा देने भर से ही कोई साहित्य नया नहीं हो जाता।

सुखप्रीत कौर : जायसी की *पद्मावत* को कैसे पढ़ना-पढ़ाना चाहिए? हिंदी साहित्येतिहास में सूफ़ी-साहित्य की भूमिका पर भी कुछ बताइये।

नामवर सिंह : हिंदी में *पद्मावत* का अब तक का सबसे अच्छा संस्करण वासुदेव शरण अग्रवाल का है। लंबी भूमिका है। पाद-टिप्पणियां भी हैं। शब्दों पर भी विचार किया गया है। पहले-पहल यह पुस्तक चिरगांव, झांसी से छपी थी। मैथिलीशरण गुप्त के प्रकाशन से।

भक्ति आंदोलन भारत में बहुत पुराना है। हिंदी में भक्ति की शुरुआत रामभक्ति से नहीं हुई, कृष्ण भक्ति से भी नहीं हुई। सूरदास बाद में हुए। तुलसीदास और बाद में हुए। हिंदी में भक्ति-आंदोलन की शुरुआत सूफी-काव्य से हुई, बल्कि हिंदी साहित्य की शुरुआत ही सूफी-काव्य से हुई। हिंदी साहित्य की शुरुआत वीरगाथा काव्य से नहीं हुई। हिंदी साहित्य का आरंभ सच्चे अर्थों में, काल की दृष्टि से, सूफियों

से ही हुआ। भक्ति आंदोलन का पहला कवि था मुल्ला दाऊद। तेरहवीं-चौदहवीं सदी में हुआ। उनकी रचना *चंदायन* प्रसिद्ध है।

भक्ति आंदोलन के साथ ही हिंदी में नवजागरण शुरू हुआ। इसको लोकजागरण कहना चाहिए। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की जगह पर आधुनिक भारतीय भाषाओं का उदय। इसी को रामविलास जी लोकजागरण कहते हैं। हिंदी में दो जागरण हुए। लोकजागरण और नवजागरण। योरप में तो एक शब्द चलता है रेनेसां। लोक भाषाओं में साहित्य रचना साहित्य के क्षेत्र में बहुत क्रांतिकारी माना जाता है। इन लोक-भाषाओं में प्राकृत और अपभ्रंश का ज़िक्र किया जाता है। लेकिन ये लोकभाषाएं थीं नहीं उतनी। इसलिए भी कि नाटकों में अपभ्रंश का प्रयोग कालिदास के ही ज़माने से हो रहा है। पालि में बुद्ध-वचन लिखे जा चुके हैं। इसलिए पालि-प्राकृत को हम आमतौर पर संस्कृत के साथ ही देखते हैं।

हिंदी का मतलब अवधी और ब्रज भी है। अवधी और ब्रज लोक भाषाएं हैं। आज भी हैं। इन भाषाओं में लोकगीत आदि तो जनता की जुबान पर थे, पर इन भाषाओं में साहित्य की रचना क्रांतिकारी घटना है। इसलिए डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा कि यह लोकजागरण का काल है। लोकजागरण जैसी अवधारणा योरप में नहीं है। इस लोक जागरण का कोई शीर्ष है तो वह हैं मल्लिक मोहम्मद जायसी। मुल्ला दाऊद और जायसी दोनों ही मुसलमान हैं। इसलिए हिंदी में लोकजागरण की शुरुआत का श्रेय हिंदुओं को नहीं है। हिंदी साहित्य की विधिवत शुरुआत तो सूफ़ियों से ही होती है।

योगेश तिवारी : प्रेमचंद और उनके लेखन से आपका शुरुआती संबंध कैसे बना? प्रेमचंद या प्रेमचंद की किसी रचना से जुड़ी कोई पुरानी बात जो आज भी आपको अच्छी लगती हो?

नामवर सिंह : 1943 के अगस्त-सितंबर की घटना होगी। शायद मैं नवीं कक्षा में था। हमारे स्कूल में एक उर्दू के अध्यापक थे, अज़हर अली फ़ारूक़ी। इलाहाबाद के रहने वाले थे। नाटकों में उनकी दिलचस्पी थी। स्कूल में वह नाटक करवाते थे। एक नाटक उन्होंने चुना प्रेमचंद की कहानी 'वज्रपात' पर। कहानी हमारे पाठ्यक्रम में भी थी। मुझे उन्होंने नादिर शाह की भूमिका दी। उस कहानी का एक शेर मुझे अब भी याद है— *'कसे न मांद कि दीगर व तेगे नाज कुशी/मगर कि ज़िंदा कुनी खल्करा व बाज कुशी।'* इसका अर्थ यह है कि तुम्हारी निगाहों की तलवार से कोई नहीं बचा। अब यही उपाय है कि मुर्दों को फिर जिलाकर क़त्ल कर दो। इश्क़िया शेर है। मगर प्रेमचंद ने इसका दूसरा ही इस्तेमाल किया है। नादिरशाह ने दिल्ली फ़तह कर ली थी। उसे कोहेनूर हीरा भी मिल चुका था। नादिरशाह ख़ुश था। जब वह वापस लौटा तो जिस पगड़ी में हीरा था, उसे उसने अपने बेटे को पहनाया और उसे गद्दी पर बैठाया। उसी समय किसी बागी ने उसके बेटे को गोली मार दी। जीत की ख़ुशी के बाद गमी मिली। और तब उसने फिर इस शेर को दुहराया। *'कसे न मांद कि दीगर व तेगे नाज कुशी / मगर कि ज़िंदा कुनी खल्करा व बाज कुशी।'*

तो ये पहला और आख़िरी नाटक था जो मैंने अपने जीवन में किया। यही प्रेमचंद से (प्रेमचंद की रचना से) मेरी पहली मुलाक़ात मानी जा सकती है।

लमही हमारे कॉलेज के पास ही था। एक मील से कम दूरी पर। सारनाथ के रास्ते में पड़ता था। प्रेमचंद का घर भी जाकर देखा था। बाद में उनके पुत्र अमृत राय से भी परिचय हो गया था। सरस्वती प्रेस में अक्सर हम लोग मिलते थे।

योगेश तिवारी : काशीनाथ जी ने ज़िक्र किया है कि आप कुछ समय तक सरस्वती प्रेस में ठहरे थे।

नामवर सिंह : हां, वहीं ठहरे थे। तब छात्रावास छूट गया था। काशी भी आ गये थे पढ़ने के लिए। हम वहीं रुके थे। बाद में मकान मिल गया था।

योगेश तिवारी : *गोदान* में पंडित मातादीन और सिलिया के संबंध में जो प्रेमचंद ने लिखा है, उसे आप बार-बार उठाते हैं कि शायद ही किसी उपन्यास में किसी दलित के लिए किसी ब्राह्मण ने अपना ब्राह्मणत्व छोड़ा हो।

नामवर सिंह : नहीं लिखा गया। मातादीन कहता है 'मैं ब्राह्मण नहीं, चमार ही रहना चाहता हूं।' यह बहुत बड़ी बात है। यह सिर्फ़ प्रेमचंद ही लिख सकते थे।

ऐसे ही ब्राह्मण प्रेमचंद से नाराज़ नहीं थे। ठाकुर श्रीनाथ सिंह इलाहाबाद के थे। उन्होंने 'घृणा के प्रचारक प्रेमचंद' लिखा था। लंबा विवाद चला। प्रेमचंद ने मुंहतोड़ जवाब भी दिया था। हिंदुत्व, वर्ण-व्यवस्था वाले लोग प्रेमचंद से नाराज़ थे।

बाद में तो कुछ संभ्रांत लोगों ने प्रसाद परिषद नाम से एक संस्था भी बना ली थी बनारस में। उसमें बैठकें हुआ करती थीं। जलपान गोष्ठी होती थी। इसके समानांतर प्रगतिशील लेखक संघ था। हमें तो चाय भी नहीं मिलती थी। संपूर्णानंद प्रसाद परिषद के अध्यक्ष हुआ करते थे। कमलापति त्रिपाठी भी जुड़े थे। लेकिन त्रिपाठी जी बहुत कम आते थे। बनारस में ये दोनों चीज़ें एक साथ थीं।

योगेश तिवारी : पंडितजी (आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी) जब बनारस आये तो किस पक्ष की सहानुभूति उन्हें मिली?

नामवर सिंह : *प्रसाद परिषद* वाले पंडित जी के विरोधी थे। पंडितजी ने कबीर को रखा था पाठ्यक्रम में। प्रगतिशील लेखक संघ पंडित जी के साथ था। *प्रसाद परिषद* वाले द्विवेदी जी को बाहर से आया हुआ मानते थे। शुक्लजी का विरोधी मानते थे उन्हें। इसलिए द्विवेदी जी ब्राहमण होते हुए भी उनके क्रोध के शिकार बने। जैसी स्थिति बनी, द्विवेदी जी को विश्वविद्यालय छोड़ना पड़ा। विडंबना यह कि पंडित जी विश्वविद्यालय से इसी आरोप में हटाये गये कि उन्होंने ब्राह्मणों का साथ दिया। जबकि ऐसा था नहीं।

योगेश तिवारी : उस ज़माने में प्रेमचंद को ब्राहमण विरोधी कहा गया और आज उनको दलित विरोधी कहा जा रहा है। जबकि उनका लिखा हुआ वही है।

नामवर सिंह : हां, ये तो विडंबना है। विडंबना ही कहना चाहिए कि प्रेमचंद को लोग दलित-विरोधी साबित कर रहे हैं। एक ज़माने में दलितों के समर्थक माने जाते थे। साहित्यकार कई बार परिस्थितियों का शिकार हो जाता है। साहित्यकार का काम षड्यंत्र करना नहीं होता, साहित्य रचना होता है। इसलिए कई बार साहित्यकार दूसरों के षड्यंत्रों का शिकार हो जाता है। कबीर भी हुए। पहले तो बनारस के विद्वानों ने कबीर का विरोध किया, फिर उसी कबीर को अपने बीच का बताने लगे। एक तो ये कहा कि इतनी बड़ी प्रतिभा ब्राह्मण हुए बिना हो ही नहीं सकती। सिर्फ़ इससे बात नहीं बनी तो कबीर को रामानंद का शिष्य बना दिया। अंत में कबीर मगहर चले गये थे। ऐसे ही द्विवेदी जी को बनारस छोड़ना

पड़ था। उनको लगता था कि द्विवेदी जी कबीर को तुलसी से बड़ा सिद्ध करना चाहते हैं। तो प्रेमचंद के बाद द्विवेदी जी का विरोध होना स्वाभाविक ही था।

योगेश तिवारी : ब्राह्मण होते हुए भी तुलसी को भी तो विरोध सहना ही पड़ा था।

नामवर सिंह : हां, तुलसी को इन लोगों से प्रशंसा नहीं मिली थी। वह अस्सी मोहल्ले की ओर रहते थे जो बनारस से बाहर था। बाद में लोगों ने उनको हजम करने की कोशिश की। पहले विरोध करते हैं। जब विरोध नहीं चल पाता तो हजम करने की कोशिश करते हैं। तुलसीदास जी के साथ भी यही हुआ। द्विवेदी जी ने तो तुलसीदास के बहाने अपनी ही व्यथा कही है। तुलसीदास पर द्विवेदी जी का लेख पढ़ कर देख लो।

योगेश तिवारी : इसे इत्तेफ़ाक़ कहें या कुछ और, पर आपके साथ भी कुछ-कुछ वही हुआ। पहले तो बनारस ने आपका विरोध किया। अब बार-बार बुलाता है।

नामवर सिंह : इसलिए कि ऐसी ताक़तें अवसर चूकती नहीं। एक उदाहरण बताता हूं। बनारस में एक सेमिनार हुआ जिसमें मैं भी गया था। मैंने प्रसंगवश कहा कि पंत जी की आरंभिक रचनाएं *पल्लव, गुंजन* तक उनका ठीक हैं। उसके बाद वो जो ज़िंदगी भर लिखते रहे, सहज भाव से मैंने कहा कि, वह कूड़ा है। भड़क उठे लोग। मेरे ख़िलाफ़ लिखा कि पंत ब्राहमण हैं, इसलिए मैंने कूड़ा कहा। शायद मैंने महादेवी से तुलना करते हुए यह बात कही थी। देखना चाहिए कि *दीपशिखा* के बाद महादेवी ने कविताएं लिखनी बंद कर दी थी। गद्य लिखने लगी थीं। कवि को समझदार भी होना चाहिए। एक ही सुर को बार-बार अलापने का क्या फ़ायदा! बनारस का तो विरोध का संस्कार ही चला आ रहा है।

योगेश तिवारी : आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी पर लिखी पुस्तक *दूसरी परंपरा की खोज* को लिखने के अनुभव को बताएं।

नामवर सिंह : पंडित जी पर एक पुस्तक लिखने की योजना थी। मैं जे.एन.यू. आ गया था। तैयारी कर ली थी, पर समय नहीं मिलता था। 'सेबेटिकल लीव' ली थी मैंने। सेबेटिकल लीव लेकर लोग आम तौर पर कुछ लिखते नहीं थे। मेरा भी काफ़ी समय दूसरे कामों में चला जा रहा था। मुझे लगा, अगर मैं ही 'सेबेटिकल लीव' लेकर काम नहीं करूंगा तो बाक़ी लोगों पर इसका अच्छा असर नहीं होगा। दूसरों को मैं किस मुंह से कहूंगा कि मैंने कुछ भी काम नहीं किया। तैयारी थी ही। एक रात में एक अध्याय लिखता था। इस तरह *दूसरी परंपरा की खोज* पूरी की। बाक़ी सारे कामों को करते हुए ही मैंने इस किताब को पूरा किया था।

योगेश तिवारी : काशीनाथ जी ने आप पर लिखे अपने संस्मरण में बताया है कि *छायावाद* आपने बारह दिन में ही लिख ली थी।

नामवर सिंह : यह फैक्ट है कि वह किताब बारह दिनों में ही लिखी गयी थी। रात को आठ बजे के क़रीब खाना खा लेता था। उसके बाद लिखने बैठ जाता। सुबह तक एक चैप्टर हाथ में होता। लिखने

की पूरी सामग्री पहले से तैयार रखता था। किताबें, पत्रिकाएं वग़ैरह। बहुत सी कविताएं मुझे याद भी थीं। पहली लाईन लिखनी मुश्किल होती थी। पहली लाईन मिल जाने पर बात से बात निकलती चली जाती थी और लेख पूरा होता था। एक ही ड्राफ्ट होता था मेरा। एक बार लिख लेने के बाद कहीं कुछ काटता नहीं था । सीधा छपने के लिए भेजता था। कभी टाईप करवा कर नहीं भेजा। लेकिन लेख शुरू करने से पहले दिन-रात शुरुआती पंक्ति को बारे में ही सोचता रहता था। जब तय कर लेता कि कहां से शुरू करना है, तब लिखने बैठता था। इसके बाद भी अगर बात नहीं बनी तो उस पन्ने को छोड़ देता था। उस पर दुबारा फिर कभी नहीं लिखता। लिखने का काम मैं रात में ही करता था। भोर तक लिखता रहता। फिर नहाने के लिए गंगाजी चला जाता। आकर कुछ नाश्ता करता और कुछ देर के लिए सो जाता। पढ़ने और नोट्स लेने का काम दिन में करता था। उन दिनों की यही रुटीन हुआ करती थी।

योगेश तिवारी : काशीनाथ जी ने एक बार जब आपसे पूछा था कि 'ऐसा कोई कवि, कहानीकार या समीक्षक—जिसे समझने में चूक हो गयी हो आपसे' तो आपने रेणु जी का नाम लिया था। इस 'चूक' का क्या कारण था?

नामवर सिंह : (मुस्कुराते हुए) रेणु जी को समझने में चूक हुई। उसका कारण था रेणु जी की पॉलिटिक्स। उस समय रेणु जी का वामपंथियों से शीत-युद्ध चल रहा था। *मैला आंचल* उपन्यास आ चुका था और रामविलास जी ने उसकी बहुत ही विध्वंसात्मक समीक्षा लिखी थी। मेने मन पर कहीं-न-कहीं उस समीक्षा का प्रभाव था। उस समय तक मैंने *मैला आंचल* उपन्यास पढ़ा नहीं था और न पढ़ने का मन था। वह छपा भी था काफ़ी ख़राब काग़ज़ पर। बाद में जब रेणु जी से परिचय हुआ और बात-चीत हुई, तब मैंने *मैला आंचल* पढ़ा। रेणु पर काशी में एक गोष्ठी का भी आयोजन हुआ जिसमें पंडित जी भी आये थे। बाद में *मैला आंचल* को राजकमल से छपवाने की व्यवस्था करवाई गयी। पर शुरू में मेरी यही धारणा थी कि रेणु जी ने *मैला आंचल* कम्युनिस्टों का मज़ाक उड़ाने के लिए लिखा है।

योगेश तिवारी : रामविलास जी के बारे में या उनसे जुड़ी कोई घटना जो याद आती हो?

नामवर सिंह : रामविलास जी से बेहद अपनापन का संबंध रहा है। जब वे आगरा थे तब दिल्ली आया करते थे और मेरे यहां भी रुका करते थे। जब वे *निराला की साहित्य साधना* लिखने की योजना बना रहे थे, तब उन्होंने मुझसे कहा था कि 'उग्र' के पास निराला जी के कुछ पत्र हैं, वे मुझे चाहिए। तुम किसी तरह उग्र के पास से उन्हें निकलवाओ। मैंने उग्र जी से समय लिया, उन्हें बताया कि निराला जी के पत्रों के संबंध में रामविलास जी आपसे मिलना चाहते हैं। उन्होंने तुरंत समय दे दिया। जब मैं रामविलास जी को लेकर उनके घर पहुंचा तो देखा कि उग्र जी एक बड़ी-सी थाल में लड्डू सजाकर बैठे हुए हैं। थाल के चारों तरफ़ गेंदे के फूल की एक माला थी। पूरी थाल लड्डुओं से भरी हुआ थी। रामविलास जी को देखते ही उन्होंने कहा, 'आवो राजा! बहुत इंतज़ार करवाया।' और गेंदे के फूलों की माला उन्हें पहना दी। उसके बाद अपने हाथ की बनायी ठंडाई भी पिलायी। जब हम चलने को हुए तब निराला जी के जितने पत्र उनके पास थे, उन्होंने सामने रख दिया।

इससे पहले रामविलास जी उग्र के ख़िलाफ़ लिख चुके थे। उग्र जी भी रामविलास जी पर छींटाकशी कर चुके थे, पर दोनों के व्यक्तिगत संबंधों में कोई मनमुटाव नहीं दिखा। बात मेरे और रामविलास जी

के साथ भी ऐसी ही है। रामविलास जी का मैंने हमेशा सम्मान किया है। उनका भी स्नेह रहा है मुझ पर। आजकल के युवा यह नहीं समझते हैं। अब पुराने लोगों जैसी आत्मीयता कहां रही?

योगेश तिवारी : आलोचना में आप ख़ुद को किस परंपरा का मानते हैं?

नामवर सिंह : भाई, मैं शुक्ल जी की परंपरा का आलोचक हूं। मैंने निबंध लिखे हैं। शुक्ल जी भी निबंध लिखते थे। द्विवेदी जी पुस्तक लिखते थे। मैं योजना बना कर कभी कोई पुस्तक नहीं लिख पाया। मेरी सारी पुस्तकों को देखा जाय तो प्रत्येक अध्याय अलग-अलग निबंध ही हैं।

योगेश तिवारी का संपर्कः cb.yogesh@gmail.com

चिरयुवा साठोत्तरी पीढ़ी

शेखर जोशी

19 अक्तूबर 2014 को जनवादी लेखक संघ की लखनऊ इकाई ने 'पचहत्तर पार साठ के कथाकार' शीर्षक से साठोत्तरी पीढ़ी के चार कहानीकारों पर केंद्रित एक पूरे दिन की संगोष्ठी का आयोजन किया था। अपने ढंग के इस अनोखे आयोजन में उद्घाटन भाषण के रूप में शेखर जोशी ने जो वक्तव्य दिया, वह इस पीढ़ी का, एक वरिष्ठ द्वारा किया गया सुचिंतित आकलन है। हम शेखर जी के आभारी हैं कि उन्होंने हमारे आग्रह पर वक्तव्य का लिखित रूप उपलब्ध कराया। —सं.

मित्रो,

इस विशेष गोष्ठी में हम 75 पार कर चुके इन चिरयुवा साथियों—ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, रवींद्र कालिया और काशीनाथ सिंह—का अभिनंदन करते हुए इनकी दीर्घायु की कामना करें।

आप इन लोगों की सफ़ेद दाढ़ी पर मत जाइए। ये चिरयुवा हैं। साठ के दशक में इस पीढ़ी के कारण कथा साहित्य में जो खिलंदड़ापन, बेबाक़ी, साफ़गोई और भाषा की ताज़गी दिखाई दी थी, वह इनकी भाषा में आज भी बरक़रार है।

साठोत्तरी पीढ़ी के और भी रचनाकार रहे हैं—महेंद्र भल्ला, विजय मोहन सिंह, अशोक सेकसरिया, सुधा अरोड़ा। ममता जी तो यहां उपस्थित हैं ही—जिनकी, हलकी आंच में बहुत आत्मीय भाषा में रची गयी सामाजिक चिंताओं से जूझती कहानियां/उपन्यास अपनी अलग छाप छोड़ते हैं। समकालीन जीवन की विडंबना को दर्शाता दौड़ उपन्यास आपने पढ़ा ही होगा। हम इनका भी अभिनंदन करते हैं।

यहां मैं यह स्वीकार करता हूं कि इनसे पहले वाली 'नयी कहानी' की पीढ़ी में बहुत से कथाकार अकालवृद्ध पैदा हुए थे। इश्क़-मुश्क की बातें, वो खिलंदड़ापन, वो सामाजिक मान्यताओं से छेड़-छाड़ जो नयी उम्र में होनी चाहिए, प्रकट रूप में हमारी पीढ़ी में प्रायः नहीं थी। सामाजिक दायित्व बोध, नवनिर्माण का स्वप्न, प्रचलित मान्यताओं, आदर्शों का बोझ इत्यादि कुछ ऐसे कारक थे जो हमें एक सीमा तक बांधे रहते थे। इसका एक कारण हमारी पीढ़ी का स्वतंत्रता संग्राम का प्रकट या परोक्ष रूप से साक्षी होना, समाजवादी क्रांति के बाद लिखे गये सोवियत साहित्य का प्रभाव—जो तब प्रचुर मात्रा में सहज ही उपलब्ध हो जाता था—*A Hero of Our Times*, *How the Steel was Tempered*, *Virgin Soil Upturned*, *Quite Flows the Don*, *Cranes are Flying* इत्यादि कृतियों का तात्कालिक प्रभाव हो सकता है।

यह एक संयोग ही है कि आज की गोष्ठी के सभी नायक इलाहाबादी हैं—मैं बनारस को भी इलाहाबाद का ही एक्स्टेंशन मानता हूं। पचास के दशक में तो इलाहाबाद और बनारस में बहुत आवाजाही रही थी। नामवर जी, केदारनाथ सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, विष्णुचंद्र शर्मा, अक्ष्योभ्येश्वरी प्रताप प्रायः इलाहाबाद आते रहते, शिवप्रसाद जी का जुड़ाव भी 'परिमल' से था और हम लोग भी बनारस का चक्कर मार लेते। नामवर जी की कथा आलोचना वाली पुस्तक *कहानी नयी कहानी* के अधिकांश अध्याय मिंटो रोड, इलाहाबाद में बैठ कर लिखे गये थे। उन्होंने इस पुस्तक को अकारण ही 'एक सहयोगी प्रयास' नहीं कहा है।

हम लोग अपना जालंधर, अपना अल्मोड़ा, अपना बलिया, अपना 'कितने शहरों में कितनी बार' छोड़ कर इलाहाबादी हो गये थे और आजन्म इलाहाबादी रहेंगे। मैं तो सुल्तानपुर के अखिलेश को भी इलाहाबादी मानता हूं जो लखनऊ आकर, भले ही राजेंद्र यादव के शब्दों में, 'रोड रोलेर संपादक' हो गये हों, पर जिनकी जड़े इलाहाबाद में ही हैं। उन्होंने जब *वर्तमान साहित्य* के प्रवेशांक का संपादन किया था तो मैंने उनके लिए 'बच्चे का सपना' कहानी लिखी थी, ऐसा याद आ रहा है।

इलाहाबाद फ़क़ीरों का शहर था—निराला, फ़िराक़, भुवनेश्वर, शमशेर बहादुर सिंह, इलाचंद्र जोशी, श्रीकृष्ण दास, लक्ष्मीकांत वर्मा, सत्य प्रकाश मिश्र सब अपनी तरह के फ़क़ीर थे और जिसमें फ़क़ीरी में रहने का माद्दा होता था, वही इलाहाबाद में आकर अपनी धूनी जमाता। नरेश मेहता, अमरकांत... शैलेश मटियानी... इसके उदाहरण हैं।

मैंने अपने युवा संयोजक नलिन जी से निवेदन किया था कि उद्घाटन का दायित्व किसी ऐसे व्यक्ति को सौपें जो सम्यक रूप से हिंदी कथा साहित्य के विभिन्न चरणों का विश्लेषण कर साठोत्तरी पीढ़ी के अवदान को रेखांकित कर सके।

मेरी अपनी सीमाएं हैं। पिछले दो वर्ष से मैं लखनऊ में आकर रह रहा हूं। मेरी सारी पुस्तकें, संदर्भ सामग्री इलाहाबाद में पड़ी हैं। मैं चाहता था कि इन रचनाकारों की कहानियों को एक बार फिर पढ़ सकूं और इनमें आये बदलाव को समझ सकूं। लेखक की रचनाएं ही लेखक के व्यक्तित्व को जानने का माध्यम हो सकती हैं। उदाहरण के लिए, मैं चाहता था कि दूधनाथ सिंह के 'सपाट चेहरे वाला आदमी' से लेकर 'माई का शोकगीत' तक की कहानियों में आये बदलाव को समझ सकूं। क्योंकि दूधनाथ जहां एक ओर कलकत्ता प्रवास के दौर में राजकमल चौधरी और एलन गिंसबर्ग की सोहब्बत में रहे, वहीं दूसरी ओर इलाहाबाद में 'परिमल' की संगत में रहने के बाद जनवादी विचारधारा से जुड़े। काशीनाथ सिंह, *लोग बिस्तरों पर* और *अपना मोर्चा* की मानसिकता से *काशी का अस्सी* की क़िस्सागोई और *रेहन पर रग्घू* के यथार्थ तक आये। रवींद्र कालिया 'नौ साल छोटी पत्नी' से लेकर *ख़ुदा सलामत है* व *ए.बी.सी.डी.* के सामाजिक आख्यान तक पहुंचे। इन परिवर्तनों पर ध्यान देना इस अवसर पर प्रासंगिक होता। पिछले दो वर्ष से आंखों की तकलीफ़ के कारण मैं बहुत-सा नवलेखन चाह कर भी नहीं पढ़ पाया हूं।

अगस्त 2012 में *पाखी* पत्रिका ने भाई ज्ञानरंजन को 'शिखर सम्मान' देने का निर्णय लिया। *पाखी* संपादक प्रेम भारद्वाज ने मुझे इस निर्णय की सूचना दी और आग्रह किया कि मैं बतौर मुख्य अतिथि उस सम्मान समारोह में जबलपुर में सम्मिलित होऊं। मैंने कुछ ही अरसा पहले हैमरेज के कारण ब्रेन सर्जरी करायी थी और लंबी यात्रा करने में झिझक रहा था, इसलिए अपनी असमर्थता जता दी। मेरी पत्नी ने, जो अब इस संसार में नहीं रहीं, मुझे सद्बुद्धि दी कि 'ज्ञान जी ने इलाहाबाद में पहल सम्मान देकर

तुम्हारा आदर किया है, तुम्हें इस मौक़े पर जबलपुर ज़रूर जाना चाहिए।' मैं उसे साथ लेकर गया लेकिन उससे पूर्व मैंने ज्ञान जी की कहानियों का नये सिरे से पाठ किया।

मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि इतनी सशक्त और प्रभावकारी कहानियां लिखनेवाला व्यक्ति आख़िर एकबारगी क्यों कहानी के मैदान से बाहर हो गया! मेरी तरह बहुतों के मन में यह सवाल उठता रहा होगा। अंततः मेरी जिज्ञासा का समाधान हो गया। ज्ञान की एक कहानी है, 'अमरूद का पेड़'। घर की पूर्व दिशा में लगाया गया यह पेड़े नैरेटर के भाई-बहनों की बहुत प्रिय है। पेड़ के साथ वे भी सभी बड़े होते हैं, समझदार होते हैं। उस पेड़ के नीचे कुर्सियां डाल कर दुनिया जहान की बातें करते हैं, बौद्धिक बहसें करते हैं। मां की कोई सहेली आकर उन्हें बताती है कि घर की पूर्व दिशा में स्थित होने के कारण यह पेड़ अपशकुनी है और घर में घटनेवाली विपत्तियों का कारण भी यही है। नैरेटर नौकरी के सिलसिले में किसी दूसरे शहर में चला जाता है। कुछ अरसे बाद वह घर लौटता है तो देखता है कि उनका प्रिय अमरूद वृक्ष काट दिया गया है। वह सोचता है, हम लोग पढ़-लिख कर प्रबुद्ध हुए लेकिन अपने घर में पल रहे अंधविश्वास को ही नहीं मिटा पाए। तो यह सूझ था जिसने प्रतिभाशाली ज्ञानरंजन को कथाकार के बजाय वर्ष 1973 में इस महादेश के वैज्ञानिक विकास के लिए प्रयासरत प्रगतिशील रचनाओं की अनिवार्य पुस्तक 'पहल' का संपादक-प्रकाशक बनने की प्रेरणा दी होगी।

हिंदी कहानी की साठोत्तरी पीढ़ी क्यों महत्वपूर्ण है, यह जानने के लिए हम थोड़ा पीछे की ओर मुड़ कर देखें।

वर्ष 1936 में हिंदी कथा के शलाका पुरुष प्रेमचंद की मृत्यु के समय तक हिंदी कहानी प्रौढ़ता प्राप्त कर चुकी थी। वह स्वतंत्रता संग्राम का भी निर्णायक दौर था, इसलिए 'अनमोल रतन', 'नमक का दारोगा' जैसी देशप्रेम, चरित्रनिर्माण, उपदेशात्मक प्रवृत्तियों का कहानी में समावेश स्वाभाविक था, लेकिन प्रेमचंद ने पूंजीवाद के उस घुन को तभी पहचान लिया था जो समाज के नैतिक, सामाजिक, आर्थिक ढांचे को अंदर ही अंदर कुतर रहा था। उन्होंने इसे 'महाजनी सभ्यता' का नाम दिया था। 'सवा सेर गेहूं' हो या 'बूढ़ी काकी', सामाजिक और पारिवारिक स्तर पर इस महाजनी सभ्यता की चपेट में आये हुए चरित्रों की ही गाथाएं हैं।

प्रेमचंद के बाद प्रमुख रूप से जैनेंद्र और अज्ञेय का युग रहा जो मानव मन की गहराइयों में उतर कर सामाजिक विसंगतियों की पड़ताल कर रहे थे। एक प्रमुख धारा प्रगतिशील लेखन की रही जिसकी सामाजिक प्रतिश्रुति निश्चय ही जनपक्षधर थी लेकिन वह इतनी यांत्रिक हो चली थी कि सिद्धांतों के चौखटे में बंधे पात्र लेखक के हाथों की कठपुतली प्रतीत होने लगे थे। यह तेलंगाना के खूनी संघर्ष का भी कालखंड रहा है। इस दौर में वह ग्रामीण समाज, जिसे प्रेमचंद ने अपनी कहानियों के केंद्र में रखा था, आश्यर्चजनक रूप से नेपथ्य में चला गया।

पचास के दशक के प्रारंभिक वर्षों में युवा लेखकों की एक बड़ी जमात ने कहानी के क्षेत्र में प्रवेश किया तो जैसे फ़िज़ा ही बदल गयी। गांव की माटी की सुंगध कहानी में फिर लौट आयी। केवल कथावस्तु की नहीं, आंचलिक भाषा की छौंक ने कथ्य को अधिक पठनीय और विश्वसनीय बना दिया। कहानी में किसान और हल-बैल एक बार फिर आ गये। मध्यवर्गीय पात्र अपनी निर्मिति में पूरी तरह मांसल और जीवंत होकर अवतरित होने लगे। वे अब लेखक के हाथों की कठपुतली की प्रतीति नहीं कराते थे। कारख़ानों, फैक्ट्रियों के कारीगरों का अंतरंग जीवन पहली बार हिंदी कहानी में उजागर हुआ। इस धारा

को 'नयी कहानी' नाम दिया गया। यद्यपि कालांतर में इस नामकरण से उन थोड़े से लेखकों का बोध होने लगा जो रचना के साथ-साथ अपनी मार्केटिंग में भी उतने ही सक्रिय थे और जिनकी कथाभूमि व्यापक जनसमुदाय की अपेक्षा स्त्री पुरुष संबंधों पर अधिक टिकी थी।

जैसा मैंने पहले कहा था कि इस पीढ़ी की अपनी मानसिक बनावट और संस्कार थे, कुछ मोहग्रस्तता थी और कुछ स्वप्नदर्शिता थी जो उनके बाद आने वाली पीढ़ी को रास नहीं आ रही थी।

साठोत्तरी पीढ़ी का लेखन इसी परिवर्तनकारी पीढ़ी का लेखन है जो खोखले आदर्शों से, झूठी मान्यताओं से, मोहग्रस्तता से मुक्त होना चाहता था। इस पीढ़ी ने अपने लिए नयी भाषा गढ़ी, नये मुहावरे खोजे और बेलाग ढंग से अपने सोच को पाठकों से साझा किया। युवा पीढ़ी की इस बदली हुई मानसिकता के पीछे परिवर्तित सामाजिक राजनैतिक स्थितियां भी कार्यरत थी। तो भी, यह यक्षप्रश्न अपनी जगह रहेगा कि यथास्थिति को बदलने के लिए केवल नकार, असंतोष और असहमति ही काफ़ी है?

ऐसा नहीं कि 'नयी कहानी' वाली पीढ़ी ने ऐसी स्पष्टवादिता और ऐसे भाषिक प्रयोग न किये हों। यह एक सुखद आश्चर्य है कि हमारी पीढ़ी में महिला कथाकारों ने इसकी पहल की थी। कथ्य के स्तर पर मन्नू भंडारी ने 'यही सच है' लिखकर अकुंठ भाव से नारी मन को अभिव्यक्ति दी तो कृष्णा सोबती ने अपनी 'यारों के यार' कहानी में रीतिकालीन कवियों के एक प्रिय शब्द के भदेस पर्याय का प्रयोग कर पाठकों को चौंका दिया था। उनकी 'मित्रो मरजानी' कहानी की नायिका मित्रो की निर्मिति तब अभूतपूर्व थी। अमरकांत की 'हत्यारे' को भी याद कीजिए।

'नयी कहानी' पीढ़ी से उनकी अग्रज पीढ़ी ने हाथों हाथ लिया था लेकिन वही अग्रज पीढ़ी साठोत्तरी पीढ़ी के प्रति पूर्वग्रहग्रस्त रही। हमारी पीढ़ी ने साठोत्तरी पीढ़ी को पूरी आत्मीयता दी। भले ही मार्कण्डेय ने कभी इसे 'दो फ़सलों के बीच उगी खर पतवार' कह दिया हो लेकिन अपनी पत्रिका *कथा* या अपने संपादन में प्रकाशित पत्रिकाओं में उन्होंने इस पीढ़ी को पूरे सम्मान के साथ प्रकाशित किया। रवींद्र कालिया और ज्ञानरंजन की कहानियां *कथा* में और दूधनाथ सिंह का नाटक *यमगाथा, क़लम* पत्रिका के एक अंक में उन्होंने ही प्रकाशित किये थे।'

अलबत्ता, कमलेश्वर अपने नेतृत्व की महत्वाकांक्षा या अन्य कारणों से शायद कुछ विरोध में रहे थे।

हमारी पीढ़ी ने साठोत्तरी पीढ़ी के रचनाकारों के साथ बहुत यादगार समय बिताया है। एक दूसरे की हौसला-आफ़जाई की है। दूधनाथ सिंह का उपन्यास *आख़िरी क़लाम* जब प्रकाशित हुआ तब हम दो-ढाई वर्ष ग़ाज़ियाबाद में रहे थे। तब मैंने उन्हें Bold and Beautiful लिखकर अपनी प्रतिक्रिया दी थी, हालांकि दिल्ली में कुछ कामरेड इसके प्रति उदासीन थे। काशी का *रेहन पर रग्घू* पढ़ा तो इन्हें किसी त्यौहार या नववर्ष पर ग्रीटिंग भेजी। काशी चौंके कि कभी कार्ड न भेजने वाले शेखर भैया ने इस बार कैसे कार्ड भेज दिया! उन्हें क्या मालूम कि यह उनके 'रग्घू' की ख़ातिर भेजा गया था। मेरा पहला कहानी संग्रह 1958 में प्रकाशित हुआ तो दूसरा बीस वर्ष बाद 1978 में *साथ के लोग* शीर्षक से। ममताजी ने सारिका में उसकी समीक्षा करते हुए मेरे नाम के पहले अक्षर से 'ए' की मात्रा हटा उसके स्थान पर छोटी 'इ' की मात्रा लगा मुझे नया नाम दिया था। ये सब बातें आज याद आ रही है। कालिया जी ने *वर्तमान साहित्य* के महाविशेषांक का संपादन किया तो उसका विमोचन सरदार जोगिंदर सिंह के होटल में किया गया जो नगर के दारू किंग थे। शहर कोतवाल ने पवित्र जल छिड़क कर विशेषांक का विमोचन करवाया था। ऐसी मस्ती के वे दिन थे।

ऐसी चिरयुवा साठोत्तरी पीढ़ी की सोहबत में आज लखनऊ के युवा लेखकों को भी ज़रूर नयी प्रेरणा मिलेगी।

अंत में एक सुझाव देना चाहता हूं। हिंदी कहानी के मूल्यांकन के लिए अक्सर दशकों का मानदंड निर्धारित किया जाता रहा है। उसी की तर्ज़ पर यदि हिंदी में पचासी पार के चार लेखकों पर उनकी उपस्थिति में चर्चा की जाये तो कितना अच्छा रहे। ये लेखक हो सकते हैं--कृष्णा सोबती, कृष्ण बलदेव वैद, मन्नू भंडारी और उषा प्रियंवदा। 'चार यार' शब्द से उन्हें अपत्ति हो सकती है। इसकी जगह 'पचासी पार के चार बुज़ुर्गवार' नाम दिया जा सकता है। हम उनकी भी दीर्घायु की कामना करें।

आपने मेरे स्मृति-आधारित अटपटे विचारों को ध्यान से सुना, इसके लिए आपका आभारी हूं।

आलेख

औपनिवेशिक भारत में परंपरा का संघटन : हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान

वसुधा डालमिया

भारतेंदु के बलिया व्याख्यान का 130वां साल 2014 के नवंबर महीने में पूरा हुआ। प्रस्तुत आलेख में उस व्याख्यान और उसके बरास्ते भारतेंदु के विचार-लोक के एक इलाक़े को समझने का गंभीर प्रयास हुआ है। आज जब मोहन भागवत सरीखे लोग इस देश के सभी बाशिंदों को हिंदू बताते हैं तो उनके बयान के पीछे क्या कारीगरी होती है, इसे समझने के लिए यह आलेख बहुत प्रासंगिक है। यह वसुधा डालमिया की किताब 'नेशनलाइज़ेशन ऑफ़ हिंदू ट्रेडीशंस : भारतेंदु हरिश्चंद्र ऐंड नाइनटींथ सेंचुरी बनारस' से लिया गया है जिसका हिंदी अनुवाद राजकमल से शीघ्र प्रकाश्य है। आलेख के साथ पाद-टिप्पणियां पूरी हैं, लेकिन संदर्भ को एकदम दुरुस्त शक्ल में पाने के लिए आपको मूल पुस्तक ही देखनी पड़ेगी। पुस्तक की ग्रंथ-सूची से इस अध्याय के सारे हवालों के विवरण निकाल पाना संभव नहीं हुआ।

आलेख के प्रथमार्द्ध को पढ़ते हुए पाठकों को थोड़ी सावधानी बरतनी पड़ेगी। जहां बलिया व्याख्यान के बिंदुओं पर प्रकाश डाला गया है, वहां कई जगह शैली ऐसी है कि वह भारतेंदु की बात नहीं, लेखिका की अपनी बात लगने लगती है; अंग्रेज़ी में ऐसा नहीं लगता, पर हिंदी में उल्था होने पर लगता है। —सं.

भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है : भारतेंदु का नज़रिया

नवंबर 1884 में, नवगठित आर्य देशोपकारिणी सभा ने बलिया संस्थान के साथ मिल कर उत्तर-पूर्व बनारस के एक ज़िला नगर बलिया में वार्षिक दादरी मेले के अवसर पर संयुक्त रूप से एक बैठक आयोजित की। उत्तर-पश्चिमी प्रांतों की प्रमुख साहित्यिक शख़्सियत के तौर पर भारतेंदु इस जमावड़े को संबोधित करने के लिए आमंत्रित किये गये। इस मौक़े पर नगर के रईस और जाने-माने लोग मौजूद थे और इसकी सदारत ब्रिटिश कलक्टर डी. टी. रॉबर्ट्स ने की थी, जो भारतेंदु के आने की ख़बर सुन कर इस अवसर की गरिमा बढ़ाने को राज़ी हुए थे। भाषण का शीर्षक था - *भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है*; यहां *उन्नति* शब्द का इस्तेमाल 'प्रगति' के साथ-साथ 'सुधार' के अर्थ में भी किया गया था। ख़ुद भारतेंदु ने एक पक्ष पर दूसरे को वरीयता देते हुए इसका अनुवाद 'सुधार' किया था।[1] यहां परवर्ती उन्नीसवीं सदी का एक केंद्रीय सरोकार दिखलायी पड़ता है। वह सरोकार था, स्वयं परंपरा के नाम पर परंपरा का शुद्धीकरण या सुधार। उस समय इससे अधिक प्रासंगिक कोई और मुद्दा हो ही नहीं सकता था। कुछ दिनों बाद जब इस भाषण का प्रकाशन हुआ तो इसे उचित ही *ललित, गंभीर और समयोपयोगी* बताया गया।

कुछ समय से आलोचनात्मक अध्ययन का विषय बनने वाले इस भाषण पर पुनर्विचार करते हुए मैं उन सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों को चिह्नित करने की आशा रखती हूं जिनमें भारतेंदु ने अपनी रचनात्मक ऊर्जाओं को झोंका। साथ ही, इस अवसर को उनके कार्यों के आलोचनात्मक मूल्यांकन का एक सर्वेक्षण पेश करने के लिए इस्तेमाल करना चाहती हूं।

भारतेंदु ने अपनी प्रपत्तियों को स्पष्ट करने के इरादे से, मोटे तौर पर, दो बड़े विषय-गुच्छों का विवेचन किया। प्रथमतः, प्रगति को लेकर विचार किया, जहां यह स्पष्ट करने की कोशिश की कि शासक वर्गों से क्या उम्मीद की जा सकती थी। शासक वर्ग का मतलब था, ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार और उसके एजेंट, यानी देसी नरेश। इस बाबत नज़रिया स्पष्टतः उन नये बनते हुए मध्यम वर्गों वाला था जो अपने-आपको राष्ट्र का प्रवक्ता मानते थे। चूंकि कोई राजनीतिक प्रतिनिधित्व संभव नहीं था, इसलिए सिर्फ़ सूचनासंपन्न जन-मत ही समाज के इस तबके की अनौपचारिक राजनीतिक सुनवाई को संभव कर सकता था। इसके बाद, भारतेंदु ने अवश्यंभावी रूप से राष्ट्रीय अस्मिता के सवाल को उठाते हुए देश के हित में एकजुट होकर काम करने की बात की। इस सवाल के ज़रिये देश के मुसलमानों के साथ हिंदुओं - धार्मिक अभिधान वाले अर्थ में - के रिश्तों पर भी राय ज़ाहिर की। एतद्द्वारा यह स्पष्ट करना ज़रूरी था कि 'हिंदुस्तानी' के व्यापक अर्थ में 'हिंदू' होने के क्या मायने थे।

अभिवादन के चंद लफ़्ज़ों और कलक्टर के सम्मान में कहे गये कुछ शब्दों के बाद भारतेंदु ने सीधा विषय में गोंता लगाया। उन्होंने हिंदुस्तानियों की तुलना ट्रेन के डिब्बों से की, जिन्हें गति देने के लिए एक इंजन की ज़रूरत थी। अगर कोई इस कठिन कार्य को अंजाम देने वाला हो, तो कोई चीज़ न थी जो वे हासिल नहीं कर सकते थे। लेकिन इसे अंजाम देने वाला था कौन? या तो हिंदुस्तानी राजे-महाराजे, नवाब और रईस या फिर हाक़िम, यानी राज्य के ऊंचे अधिकारी। राजाओं और रईसों को फ़ुर्सत न थी, क्योंकि वे पूजा की रस्मों में, खान-पान में और झूठी गप्पों में व्यस्त थे। औपनिवेशिक अधिकारीगण कुछ तो वाजिब तौर पर अपने प्रशासनिक कार्य में उलझे हुए थे और कुछ अपने बॉल, थियेटर, घुड़सवारी और अख़बारों में। अगर उनके पास थोड़ा समय बच भी जाता, तो उन्हें क्या पड़ी थी कि वे *हम ग़रीब गंदे काले आदमियों* के बीच समय गुज़ारते। यहां सिर्फ़ आर्थिक ही नहीं, नस्ली दूरी भी थी। इस तरह बदलाव ऊपर से आना नामुमकिन था।

तो फिर ज्ञान के प्रसार के लिए और समयानुकूल अपेक्षित बदलाव लाने के लिए कौन ज़िम्मेदार था? भारतेंदु यह सुझाव दे रहे थे कि मौजूदा समय में ख़ुद जनता ही इसकी ज़िम्मेदारी ले। पुराने ज़माने में, जब आर्य हिंदुस्तान में आकर बसे थे, तब ज्ञान और नीति का प्रसार करना राजाओं और ब्राह्मणों की ज़िम्मेदारी थी। भारतेंदु के अनुसार, यह आज भी हो सकता था, लेकिन यही लोग थे जो निकम्मेपन के जाल में सबसे बुरी तरह उलझे हुए थे। अंग्रेज़ों की कृपा से और सामान्यतः संसार की उन्नति के चलते कितना सारा तकनीकी ज्ञान सुलभ हो गया था। बावजूद इसके देश की जनता, जिसने पुराने ज़माने में अपने आदिम औज़ारों के साथ आश्चर्यजनक खोजें की थीं, अब चुंगी की कतवार फेंकने की गाड़ी से ज़्यादा कुछ न थी। मौजूदा दौर में उन्नति के लिए एक घुड़दौड़ चल रही थी, और जापानियों को छोड़ भी दें तो अमेरिकी, अंग्रेज़ तथा फ्रांसीसी इस घुड़दौड़ में आगे रहने का पूरा जुगाड़ लगाये हुए थे। यह ऐसा समय नहीं था जब पीछे छूटना किसी भी तरह गवारा हो।

यह शिकायत कि ख़ाली पेट इन चीज़ों के बारे में कैसे सोचें, अंततः क़ायल करने वाली न थी।

> इंग्लैंड का पेट भी कभी यों ही खाली था। उसने एक हाथ से अपना पेट भरा, दूसरे हाथ से उन्नति की राह के कांटे को साफ़ किया। क्या इंग्लैंड में किसान, खेतवाले, गाड़ीवान, मज़दूरे, कोचवान आदि नहीं हैं? किसी भी देश में सभी पेट भरे हुए नहीं होते। किंतु वे लोग जहां खेत जोतते बोते हैं, वहीं उसके साथ यह भी सोचते हैं कि ऐसी और कौन नयी कल या मसाला बनावैं जिसमें इस खेती में आगे से दूना अन्न उपजै। विलायत में गाड़ी के कोचवान भी अख़बार पढ़ते हैं। जब मालिक उतर कर किसी दोस्त के यहां गया उसी समय कोचवान ने गाड़ी के नीचे से अख़बार निकाला। यहां उतनी देर कोचवान हुक्का पीएगा या गप्प करेगा। सो गप्प भी निकम्मी। वहां के लोग गप्प ही में देश के प्रबंध छांटते हैं...।

तब फिर, जनता को ही ख़ुद को सूचनासंपन्न बनाना और अपनी भलाई के बारे में सोचना था। उन्हें आलोचनात्मक तरीक़े से राज्य की कार्यवाहियों का लेखा-जोखा करना था। इस तरह भारतेंदु यहां सूचनासंपन्न जन-मत की बात कर रहे थे, जिसके द्वारा ही राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक बदलाव हो सकते थे। कारण, चारों तरफ़ दरिद्रता की आग लगी हुई थी। मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट ने दिखला दिया था कि आबादी के लगातार बढ़ने के साथ-साथ धन-संपदा लगातार घटती जा रही थी। किसी उपाय के लिए राजा-महाराजाओं या पंडितों का मुंह जोहने का कोई फ़ायदा न था। 'तुम आप ही कमर कसो, आलस छोड़ो। दौड़ो, इस घुड़दौड़ में जो पीछे पड़े तो फिर कहीं ठिकाना नहीं है।... अबकी जो पीछे पड़े तो फिर रसातल ही पहुंचोगे।' इशारा आर्थिक और राजनीतिक प्रगति की ओर था।

मौक़ा चूकने (*अबकी जो पीछे पड़े*) के मुद्दे ने ऐसे साहचर्यों का आह्वान किया जो उतने ही विलक्षण थे जितने कि कारगर। भारतेंदु ने मसलों को एक साहित्यिक उपाख्यान से जोड़ा। यह उपाख्यान एक ऐसी घटना का हवाला देता था जिसके बारे में यह मान्यता थी कि उसने हिंदू-भारतीय इतिहास की धारा को मोड़ दिया था। उत्तर भारत के आख़िरी महान हिंदू राजा के रूप में मान्य पृथ्वीराज चौहान के दरबारी कवि, चंदबरदाई, जेम्स टॉड के *अनाल्स एंड ऐन्टिक्विटीज़ ऑफ़ राजस्थान* में बहुत ऊपर स्थान पाने के बाद से, किसी हिंदू दरबार के आख़िरी महानतम चारण कवि माने जाते रहे थे, जिनके वीरगाथात्मक महाकाव्य *पृथ्वीराज रासो* से आधुनिक हिंदी साहित्य की शुरुआत मानी जाती थी। भारतेंदु ने चंद के उस दोहे को उद्धृत किया जो उन्होंने ख़ुद का और अपने स्वामी का सर क़लम किये जाने से पहले अपने अंधे, बंदी स्वामी के सामने पढ़ा था :

> अबकी चढ़ी कमान को जानै फिर कब चढ़ै
> जिनि चुक्कै चौहान हक्कै मारय इक्क सर।।...

'सर' में श्लेष था। इसके दो अर्थ थे, 'तीर' और 'मस्तक'। बंदी राजा को तीरंदाज़ के रूप में अपने कौशल का प्रदर्शन करने के लिए कहा गया था। चारण कवि ने उनका आह्वान किया कि वे लक्ष्य भेदने के बजाय बंदी बनाने वाले बादशाह के सिर को भेद डालें। हालांकि वह प्रतीकात्मक भंगिमा ही थी, क्योंकि उससे अपना राजपाट वापस पाया नहीं जा सकता था, लेकिन अब के दौर में इन शब्दों को सामने रखने का आभासी अर्थ हिंदू इतिहास को वहां से उठाना था जहां से वह पीछे छूट गया था, बल्कि काट दिया गया था। ग़ौर करने लायक है कि जब भारतेंदु ने हर जाति के, सभी इलाक़ों और परिस्थितियों में रहने वाले भारतीय अवाम का आह्वान किया कि वे देश की उन्नति के लिए कार्य करें, तो उन्होंने हिंदुस्तान का नाम न लेकर सिर्फ़ भारतवर्ष का नाम लिया।

भारतेंदु के अनुसार, आसन्न कार्यभार था जनता की बदहाली के कारणों को चिह्नित करना। जो

लोग धर्म या प्रचलन की आड़ में या अपने सुख की आड़ में जा छिपे थे, उन चोरों को वहां से पकड़ कर लाना और बांध कर कैद करना था। प्रगति की राह रोकने वाली सभी चीज़ों को निर्ममतापूर्वक उखाड़ फेंकना था, चाहे उसके चलते लोग निकम्मा कहें या नंगा कहें, क्रिस्तान कहें या भ्रष्ट कहें। जब तक सौ-दो सौ लोग बदनाम न हों, जातबाहर न किये जायें, यहां तक कि मारे न जायें, तब तक देश-दशा में सुधार नहीं होना था। संक्षेप में, भारतेंदु साफ़-साफ़ यह कह रहे थे कि उन्नति के हक़ में कुछ निश्चित सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन ज़रूरी था। इस तरह वे सामाजिक प्रगति की धारणा का आग़ाज़ कर रहे थे।

उन्नति, प्रगति और सुधार से क्या अभिप्रेत था? क्या स्वीकार्य था और क्या कुछ था जिसे छोड़ दिया जाना था? यहां अनकहे तौर पर 'परंपरा' की अवधारणा मौजूद थी, एक ऐसा शब्द जिसे भारतेंदु इस भाषण में तो इस्तेमाल नहीं करते, लेकिन उनकी कृतियों में अन्यत्र जिसकी केंद्रीय उपस्थिति देखी जा सकती है। जो कुछ दाय के रूप में हासिल हुआ है, उसमें से सारभूत अंश के तौर पर महफूज़ रखने लायक क्या है और क्या है जिसे फ़ालतू मान कर ख़ारिज किया जाना चाहिए। ग़ौरतलब है कि भारतेंदु ने यहां सुधार और प्रगति में अंतर किया है। वह ऐसे कि उन्होंने सुधार का निरूपण उसे प्रगति में अंतर्भुक्त मानते हुए नहीं किया, बल्कि अलग से किया।

भारतेंदु के अनुसार, 'सब उन्नतियों का मूल धर्म है'। देश के राजनीतिक कल्याण को धार्मिक मामलों से अलग करके नहीं देखा जा सकता। अंग्रेज़ों ने जो ज़बर्दस्त उन्नति की है, वह इसलिए कि उनकी धर्मनीति और राजनीति मिली हुई हैं। निस्संदेह, भारत के लिए भी इसी की ज़रूरत है। लेकिन यह तभी संभव है जब धर्म के कुछ पक्षों में बदलाव किया जाये। भारतेंदु ने धर्म शब्द का इस्तेमाल उसके आधुनिक अर्थ में किया, यानी ईश्वरमीमांसा, आस्थाओं के सिद्धांत के अर्थ में, लेकिन जैसा कि हमेशा होता है, इस शब्द में 'न्यायसंगत' या 'उपयुक्त आचार' का अर्थ भी अंतर्भुक्त था। अलबत्ता, उन्होंने दोनों के बीच फ़र्क़ भी किया, ताकि धर्म को अलग से 'रिलीजन' के अर्थ में बरता जा सके, क्योंकि 'वास्तविक धर्म तो परमेश्वर के चरणकमलों का भजन है' और इसे, स्पष्टतः, अक्षुण्ण रहने दिया जाना चाहिए। जहां तक शेष का सवाल है, सभी रीति-रिवाजों में अपना कोई छुपा हुआ मक़सद है, जो कि सामाजिक, घरेलू या शुचितासंबंधी हो सकता है। लेकिन पुराने ऋषि-मुनियों ने धर्मनीति और समाजनीति को मिला दिया था। उन ऋषि-मुनियों के वारिसों ने शास्त्रों में नये नियम और विधान भर दिये। अब यह हम पर है कि हम इन दो तरह की नियमावलियों में फ़र्क़ करें, क्योंकि समाजधर्म देशकाल के साथ सुधारे और बदले जा सकते हैं। सामाजिक नियम उस रूप में क्यों बनाये गये थे, यह समझना और फिर सिर्फ़ उन तत्वों को अंगीकार करना जो देशकाल की आवश्यकताओं के अनुरूप हैं, यह हमारा काम है। लिहाज़ा विधवा-विवाह, स्त्री-शिक्षा, विदेश-यात्रा, इन सबकी इजाज़त मिलनी चाहिए। इस तरह, भारतेंदु ने जिस रूप में उन्नति शब्द का इस्तेमाल किया, उसमें, निस्संदेह, सुधार का आशय सबल रूप में मौजूद था और यह शब्द सामाजिक आचार में समयानुकूल बदलाव की ओर संकेत कर रहा था।

मतमतांतर को प्रगति की राह में नहीं आना था। 'मत' को यहां संप्रदाय के अर्थ में इस्तेमाल किया गया।[2] यह समय दुश्मनियां निभाने का न था। वैष्णव, शाक्त और दूसरे मुख़्तलिफ़ मतों के लोगों को अपने भेद-भावों को दफ़्न करना था। एक बार विभिन्न हिंदू मत एक हो जायें, उसके बाद हिंदुओं, जैनों और मुसलमानों को भी उसी तरह एकताबद्ध होना था। जातिगत ऊंच-नीच के अंतर को भुलाना था।

इस चरण में मुस्लिम भाइयों के लिए यह उचित था कि अब जबकि वे हिंदुस्तान में बस गये थे, हिंदुओं को नीची निगाहों के देखना बंद करें और भाई की तरह उनसे बरताव करें। मुसलमानों को ऐसा कुछ भी करने से अपने को रोकना था जो उनके हिंदू बिरादरों को कष्ट पहुंचाये। ऐसी चीज़ें जो हिंदुओं के लिए संभव नहीं थीं, मुसलमानों को अपने धर्म की वजह से आसानी से हासिल थीं। उनके यहां कोई जाति न थी, खान-पान के छुआछूत का कोई नियम नहीं था, न ही विदेश-यात्रा को लेकर प्रतिबंध थे। यह दुख का विषय था कि इन सारी सहूलियतों के बावजूद मुसलमान लोग अपने हालात में कोई वास्तविक बेहतरी नहीं ला पाये। कई अभी भी यही मानते थे कि उनके बादशाह दिल्ली और लखनऊ में राज कर रहे हैं। लेकिन वे दिन बीत चुके थे। मुसलमानों को भी हिंदुओं के साथ कंधे में कंधा मिला कर ही इस दौड़ में शामिल होना था।

लेकिन हिंदू लोग और कुछ हों, आपस में एकताबद्ध तो नहीं ही थे। इसीलिए यह आह्वान ज़रूरी था कि हिंदू बिरादर अपने विश्वासों के भेद-भाव पर बल देना बंद करें। इस महामंत्र का जाप किया जाना था कि 'जो हिंदुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग किसी जाति का क्यों न हो, वह हिंदू'। यह भी याद रखना अहम था कि वह हिंदू था जिसकी मदद की जानी थी, चाहे वह साथ में बंगाली, मराठा, मद्रासी, वैदिक, ब्राह्मो या मुसलमान भी हो; हर किसी को दूसरे की ओर अपना हाथ बढ़ाना था। इस तरह देशभक्ति के अपने जोश में भारतेंदु न सिर्फ़ हिंदुओं की मुख़्तलिफ़ इलाक़ाई विविधताओं (बंगाली, मराठा, मद्रासी) को और स्मार्त (वैदिक) तथा अपेक्षाकृत नये मूर्तिभंजकों (ब्राह्मो) जैसी भिन्न मान्यता वाली निष्ठाओं को एक साथ लाने की हद तक गये, बल्कि मुल्क के बाशिंदों के रूप में मुसलमान भी उसी लपेटे में शामिल कर लिये गये। आत्म का निरूपण करने की अनेक विधियां, जो कि उस दौर की लाक्षणिकता है, यहां 'हिंदू' में अंतर्भुक्त की जा रही थीं। कारण यह कि प्रसंग देश की आर्थिक तरक़्क़ी का था :

> कारीगरी जिसमें तुम्हारे यहां बढ़ै, तुम्हारा रूपया तुम्हारे ही देश में रहै, वह करो। देखो, जैसे हज़ार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली हैं, वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हज़ार तरह से इंग्लैंड, फरासीस, जर्मनी, अमेरीका को जाती है। दीआसलाई ऐसी तुच्छ वस्तु भी वहीं से आती है। जरा अपने ही को देखो। तुम जिस मारकीन की धोती पहने हो वह अमेरीका की बनी है। जिस लंकिलाट का तुम्हारा अंगा है वह इंग्लैंड का है। फरासीस की बनी कंघी से तुम सिर झारते हो और जर्मनी की बनी चरबी की बत्ती तुम्हारे सामने बल रही है।...

आर्थिक और राजनीतिक तरक़्क़ी सामाजिक सुधार से जुड़ी थी, जिसमें सामाजिक आचार के उन तत्वों का सुधार भी शामिल था जिन्हें ग़लती से धर्म का सारभूत अंग मान लिया गया था। सामाजिक तत्वों को धार्मिक से अलग करके ही पूरा मुल्क तरक़्क़ी कर सकता था। विदेशी वस्तुओं और भाषाओं पर भरोसा नहीं करना था। अपने देश में अपनी भाषा को ही फलने-फूलने देना था। हालांकि भारतेंदु ने यहां किसी ख़ास भाषा का नाम नहीं लिया, लेकिन वे निश्चय ही हिंदी की ओर इशारा कर रहे थे। हिंदी का सवाल एक ऐसा मर्कज़ी मुद्दा था जिसे वे बार-बार अपने लेखन में उठाते थे।

इस तरह बलिया का भाषण अपने समय के राजनीतिक और सामाजिक मुद्दों के प्रति, सूचनासंपन्न जन-मत और हिंदू/भारतीय राष्ट्रीय पहचान के प्रति भारतेंदु के सरोकार को बहुत साफ़-साफ़ सामने लाता है। भाषा, साहित्य, धर्म, इलाक़ाई निष्ठा - सभी हिंदू होने के ही विभिन्न पहलू थे। जो लोग परंपरा को परिभाषित करने के संघर्ष में लगे हुए थे, उनके लिए ये अवधारणायें एक लड़ी में पिरोयी हुई थीं - यह बात भारतेंदु के साथी लेखक और पत्रकार प्रतापनारायण मिश्र (1856-94) के शब्दों में सबसे साफ़गोई

के साथ व्यक्त हुई है। जब उन्होंने साधनों और आश्रयदाताओं की कमी के चलते बहुत दुख के साथ अपनी पत्रिका *ब्राह्मण* को बंद किया, तब उस मक़सद को रेखांकित किया जिसके लिए वे काम कर रहे थे, ताकि दूसरे लोग उस काम को जारी रख सकें। विदाई पर कहे जाने वाले उनके विषादपूर्ण शब्द थेः

चहहु जु सांचहु निज कल्यान। तौ सब मिली भारत संतान।।
जपौ निरंतर एक जबान। हिंदी हिंदू हिंदुस्तान।। 1।।

रीझै अथवा खिझै जहान। मान होय चाहे अपमान।।
पै न तजो रटिबे की बान। हिंदी हिंदू हिंदुस्तान।। 2।।

जिन्हें नहीं निजता को ज्ञान। वे जन जीवन मृतक समान।।
याते गहु यह मंत्र महान। हिंदी हिंदू हिंदुस्तान।। 3।।

भाषा भोजन भेष विधान। तजै न अपनी सोइ मतिमान।।
बसि समझौ सौभाग प्रमान। हिंदी हिंदू हिंदुस्तान।। 4।।

एक स्वदेशी सांस्कृतिक पहचान की स्थापना और उसका निर्वाह, वह चाहे खाने के मामले में हो, चाहे कपड़े या भाषा के मामले में, उस समय का ज्वलंत मुद्दा था। हिंदी हिंदुओं की भाषा थी, और यह एक ऐसी अवधारणा थी जिसे उसके पुराने इलाक़ाई जुड़ावों से जुदा नहीं किया जा सकता था जब हिंदवी, हिंदुई या हिंदी, देश की, यानी हिंदुस्तान की भाषा के लिए इस्तेमाल होने वाले पद थे। इसके बावजूद ये तीनों - हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तानी - उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दशकों में जिस रूप में प्रस्तुत किये जाने वाले थे, उस रूप में, प्राचीनता के अपने तमाम दावों के बीच भी, तीसरे मुहावरे द्वारा ढाले गये सिक्कों से अलग कुछ नहीं थे।

इससे पहले कि मैं भारतेंदु की कृतियों के आलोचनात्मक अभिग्रहण का मूल्यांकन शुरू करूं, उस व्यापक राजनीतिक और सांस्कृतिक ढांचे का निरूपण ज़रूरी है जिसके भीतर यह विचार-विमर्श चल रहा था।

औपनिवेशिक सरकार और जन-मत का निर्माण

अंग्रेज़ों के साथ संबंध पहले-पहल अंग्रेज़ प्रशासनिक अधिकारियों के रवैये के द्वारा तय हुआ। यहां नस्ली नकचढ़ेपन की समस्या बहुत वास्तविक रूप में सामने आती थी। यह विलक्षण बात है कि भारतेंदु ने कलक्टर डी. टी. रॉबर्ट्स की मौजूदगी में इन भावनाओं का इज़हार करने से ख़ुद को रोका नहीं। सदी की साठ और सत्तर की दहाई में आरंभिक राष्ट्रवादी आकांक्षाऐं अंग्रेज़ों के उस रवैये के विरोध में एक साफ़ रुख़ अख़्तियार कर रही थीं जो सदी की तीसरी चौथाई में बहुत ज़ाहिरा तौर पर पहले से ज़्यादा सख़्त हो चला था। ग़दर-पूर्व के उदारवाद की जगह उस पितृसत्तावाद ने ले ली थी जो किसानी तबके के साथ सदी की पहली चौथाई की दक़ियानूस-रूमानी आसक्ति को पसंद नहीं करता था। वह मध्यवर्ग को शिक्षित करने की उदारवादी आकांक्षा को भी पसंद नहीं करता था, उसी मध्यवर्ग को जिसे पहले वह कुछ हद तक सत्ता में साझीदार बनाने को तैयार था। तीस के दशक की सुधारवादी भावना ने 1857 के बाद सख़्त और नंगी नस्लवादी रंगत अख़्तियार कर ली। फ़िट्ज़्जेम्स स्टीफ़ेन की बात यहां उद्धृत की

जा सकती है, जो मात्र ढाई सालों के लिए वायसराय की काउंसिल के लॉ मेंबर रहे, लेकिन उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के ब्रिटिश भारत में जिनकी उपस्थिति बहुत अहम थी। स्टीफ़ेन के शब्दों में, ग़दर के नतीजे के तौर पर 'पुरानी व्यवस्था बिखर गयी; क़ानूनी, सैन्य और प्रशासनिक चीज़ों के बारे में एशियाई और यूरोपीय नज़रियों के बीच एक नामुमकिन समझौता कराने की कोशिशों को तिलांजलि दे दी गयी। संविधि-संग्रह (क़ानून की क़िताब) पर ग़दर का असर बहुत साफ़ दिखता है।'[3] इसके परिणामस्वरूप साठ और शुरुआती सत्तर के दशक में कठोर क़ानून बने।

देश के प्रशासन को चुस्त-दुरुस्त किया गया, भू-राजस्व व्यवस्था की अच्छी तरह मरम्मत की गयी जिससे संशोधित बंदोबस्त अधिकांश प्रांतों में प्रभावित हुए। इसके अलावा, टेलीग्राफ़ और रेलवे ने नियंत्रण और एकता की अभूतपूर्व असरअंदाज़ी मुहैया करायी। सांख्यिकीय सूचनाएं इकट्ठा करने के लिए एक केंद्रीय सचिवालय स्थापित किया गया। इसी जगह से 1872 की पहली मर्दुमशुमारी के लिए दिशा-निर्देश मिला था। डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर की देख-रेख में हुए इस काम से ही *इंपीरियल गज़ेटियर ऑफ़ इंडिया* जैसे प्रामाणिक दस्तावेज़ को निकल कर आना था।

यह मान्यता बहुत मज़बूत जड़ें जमा चुकी थी कि सभी तरह की तरक़्क़ी अंग्रेज़ों द्वारा क़ायम की गयी क़ानून और व्यवस्था के चलते संभव हो पायी है, चाहे वह वाणिज्य के क्षेत्र में दिखने वाली तरक़्क़ी हो, चाहे शहरों, सड़कों और रेल की बढ़ोत्तरी में, या शैक्षणिक संस्थानों की स्थापना और एक नये शिक्षित वर्ग के अभ्युदय में। यह एक ऐसा सबक था जिसे रटंत विद्या की तरह शुरुआती राष्ट्रवादियों ने भी दुहराया। रेलवे, शिक्षा, क़ानून और व्यवस्था की स्थापना के लिए अंग्रेज़ों के प्रति अपना आभार प्रकट करते हुए तो उन्होंने इसे दुहराया ही, उस समय भी दुहराया जब वे थोड़ा ज़्यादा कुछ मांगने, यानी सरकार में भागीदारी मांगने की ओर बढ़े। लेकिन अग्रेज़ों के उदारवाद ने स्व-शासन में अपना विश्वास व्यक्त नहीं किया। 1874 में उत्तर-पश्चिमी प्रांतों के लेफ़्टिनेंट गवर्नर और 1876 में वायसराय की काउंसिल के वित-सदस्य, सर जॉन स्ट्रैचे के सदय किंतु संरक्षकीय सख़्ती से भरे शब्दों में, नस्ली फ़र्क़ों की अनदेखी नहीं की जा सकती थी। अंग्रेज़ मुट्ठी भर थे और इस मुल्क पर उन्हें अपनी सत्ता बनाये रखनी थी, न सिर्फ़ अपने हित में, बल्कि सार्वभौमिक स्तर पर अराजकता और विनाश को रोकने के लिए भी। तब उनके लिए असली सत्ता को अपने हाथों में रखने के अलावा किसी और विकल्प पर विचार करने का कोई सवाल ही नहीं था। देसी लोगों को केवल उपयुक्त स्तर पर प्रशासन में अधिकतम संभव हिस्सेदारी दी जा सकती थी :

> ....लेकिन इस इरादे को लेकर हमारे भीतर कोई आडंबर नहीं होना चाहिए कि हम उन कार्यकारी पदों को - और उनकी संख्या ज़्यादा नहीं है - अपने लोगों के हाथों में रखेंगे, जिन पर, तथा हमारी राजनीतिक और सामरिक शक्ति पर, इस देश के ऊपर हमारी पकड़ निर्भर है। प्रांतों के हमारे गवर्नर, हमारी सेना के मुख्य अधिकारी, ज़िलों के मजिस्ट्रेट और उनके अधीनस्थ प्रधान कार्यकारी कर्मचारी हर अनुमानित परिस्थिति में अंग्रेज़ होने चाहिए।[4]

ऐसे में देश पर शासन कर रहे ब्रिटिश प्रशासनिक अधिकारियों से किसी तरह की राजनीतिक रुझान की उम्मीद नहीं की जा सकती थी। वे देश के सामाजिक और धार्मिक ढांचे के बाहर खड़े थे। उनके, गुहा (1989: 274) के शब्दों में, 'चरम बाहरीपन' ने व्यवस्था में धंसे हुए उन लोगों के वाजिब प्राधिकार को प्रतिबंधित कर दिया जो उसके भीतर से किसी बदलाव की शुरुआत कर सकते थे। भारतेंदु के

अनुसार, अंग्रेज़ अपने मुल्क में जिस तरह की सरकार चला रहे थे, उसके लिए उनकी तारीफ़ हो सकती थी; उन्होंने जो तकनीकी तरक़्क़ी की और नये विज्ञानों में उनकी जो दक्षता थी, उस सबके लिए उनकी तारीफ़ हो सकती थी। लेकिन जहां तक हिंदुस्तान में उनकी मौजूदगी का सवाल था, इस बात में किसी तरह की दुविधा की गुंजाइश बहुत कम थी; इस मुल्क के साथ उनका बरताव स्पष्टतः वणिक और शोषक प्रकृति का था। पर, इस मुक़ाम पर, अंग्रेज़ी राज से पूरी तरह छुटकारा पाने की बात कल्पनातीत थी। ज़्यादा अहम था इस बात को समझना कि यह क्योंकर संभव हो पाया था, कि क्यों हम, भारतीय लोग, गुलाम थे और वे राजा ('हम गुलाम ये भूप'), जैसा कि भारतेंदु ने एक दूसरे मौक़े पर ज़ोर देकर कहा था।[5] ज़्यादा अहम था सांस्कृतिक और राजनीतिक रूप से, उन हालात के भीतर ही सही, अपनी चीज़ों पर क़ायम रहना।[6]

देसी राजाओं के प्रति अंग्रेज़ों के रवैये में अपनी तरह का दुचित्तापन था। बतौर वायसराय (1876-80) लॉर्ड लिटन ने, ब्रिटिश राज के लिए सक्रिय समर्थन जुटाने की अपनी कोशिश में, एक अनुदारवादी के तौर पर भारतीय नरेशों को क्राउन के साथ व्यक्तिगत राजभक्ति के बंधन में बांधने का प्रयास किया। यह उसकी सुचिंतित राय थी कि जनता अपने स्वाभाविक शासकों, देसी राजाओं की ही सुनेगी। परंतु देसी राजाओं के प्रति आधिकारिक ब्रिटिश रवैये में एक निश्चित अंतर्विरोध बना रहा। महारानी के 8 नवंबर 1858 के ऐलान में एक ओर यह कहा गया था कि 'उनके अधिकार, उनकी गरिमा और प्रतिष्ठा', साथ ही, अपनी रियासत की सीमाओं के भीतर उनके नियंत्रण का सम्मान किया जायेगा, लेकिन दूसरी ओर महारानी 'हमारी भारतीय सीमाओं में रहने वाले बाशिंदों के प्रति उसी दायित्व बोध से बंधी थीं जो हमें हमारी दूसरी प्रजाओं के साथ बांधे हुए है'। उनकी समस्त भारतीय प्रजा को 'क़ानून का समान और पक्षपातविहीन संरक्षण' हासिल होना था और इस क़ानून के निर्धारण तथा अमल में 'भारत के प्राचीन अधिकारों, प्रचलनों और रिवाजों को समुचित सम्मान' दिया जाना था।[7] जैसा कि बर्नार्ड कोह्न ने बताया है, यह वक्तव्य शासन के दो भिन्न, यहां तक कि अंतर्विरोधी, सिद्धांतों को अपने अंदर समेटे थाः एक वह जो हिंदुस्तान को एक सामंती व्यवस्था के रूप में क़ायम रखना चाहता था, और दूसरा वह जो न्याय के मामले में समतावाद का वायदा करता था जो कि इस सामंती व्यवस्था के ख़ात्मे का ही सबब बनता। इसी समतावाद का पालन करने के लिए भारतीय प्रेस लगातार शोर मचा रहा था।

इस तरह स्थानीय नरेशों के संबंध में जन-मत का, जैसा कि वह देशी प्रेस में व्यक्त हो रहा था, अंग्रेज़ों के साथ उनके गंठजोड़ के प्रति तीव्र जागरूकता के साथ जुड़ाव था। वे अंग्रेज़ों के द्वारा संरक्षित थे, किसी भी रूप में जनता के प्रति सीधे-सीधे जवाबदेह नहीं थे, और इसीलिए चरम भोग-विलास में लिप्त रह सकते थे। उनके नेतृत्व को स्पष्टतः एक स्वांग के रूप में ही देखा जा सकता था। अलबत्ता, जब किसी अवसर पर ब्रिटिश प्रेस उन पर हमले करता था, तब देशी प्रेस उनकी हिफ़ाज़त के लिए भी सामने आता था।

अगर ऊपर से कोई नेतृत्व न था, तो परिवर्तन का वाहक कौन बनता? स्थानीय नरेशों के अलावा 'देशी मत' के दूसरे संभावित राजनीतिक प्रतिनिधि, शिक्षित मध्यवर्ग, को लिटन ने बाबूओं के रूप में चिह्नित किया था, जो 'देशी प्रेस में अर्द्ध-राजद्रोही लेख' लिखने के अलावा और कुछ नहीं कर सकते थे, 'और जो ख़ुद अपनी स्थिति की सामाजिक विसंगति से अलग किसी और चीज़ को प्रस्तुत नहीं करते' थे।[8] हालांकि इस मध्यवर्ग को कोई राजनीतिक प्रतिनिधित्व हासिल न था, पर संघटित होने की प्रक्रिया

में फंसा हुआ यह मध्यवर्ग ही था जिसे एक सार्वजनिक वृत्त क़ायम करना था। उस सार्वजनिक वृत्त में ही इसका राजनीतिक मत ख़ुद को तैयार और प्रस्तुत कर सकता था। इसी मध्यवर्ग को अब परंपरा के संघटन की, साथ ही साथ, न्यायोचित बदलाव की ज़िम्मेदारी लेने के लिए सामने आना था। लेकिन इसके धर्म को - हमारे प्रसंग में, इसके 'हिंदूपन' को - जो अस्मिता का अंकन करने वाली एक अनिवार्य शै के रूप में उभर रहा था, राष्ट्र की नव-विकसनशील अवधारणा के रिश्ते में अभी परिभाषित होना बाक़ी था।

हिंदू समुदाय किस तरह संघटित हो रहा था? स्पष्टतः, समाजनीति समय-समय पर बदलती रही थी, और अनाज से भूसी को अलग करने की ज़रूरत थी। यह अनाज क्या था और असली धर्म को बनाने वाली चीज़ क्या थी? आधुनिक हिंदू धर्म को बनाने में जो बहुतेरी चीज़ें शामिल थीं, उन्हें ज़माने के लिए साझा ज़मीन का प्रबंध होना अभी भी बाक़ी था। इस मक़सद के लिए अपनायी जाने वाली रणनीतियां क्या हो सकती थीं? ब्राह्मो और आर्य समाज जैसे नये मूर्तिभंजकों से भिन्न, भारतेंदु ने किसी भी चरण में यह नहीं माना कि परंपरा में कभी कोई क्रमभंग हुआ था, पर चूंकि हिंदू परंपरा को समकालीन शक़्ल हासिल करनी थी, इसलिए इसकी रूपरेखा का अभी अंकन होना बाक़ी था। इसलिए समुदाय और परंपरा, दोनों को एक बार फिर, नये सिरे से ढाला जा रहा था। और इन दोनों ने पश्चिमी विचार और संस्थाओं के साथ तथा ईसाइयत के साथ होने वाली लेन-देन में ही ख़ुद को व्यक्त तथा परिभाषित किया, भले ही उसमें स्वदेशी तत्वों पर कितना भी ज़ोर दिया गया हो, क्योंकि, जैसा कि भारतेंदु ने रेखांकित किया था, देश और काल ही अंततः यह तय करता है कि कौन-सी चीज़ मुनासिब है।

ये सवाल उस देशी प्रेस के भीतर बहस-मुबाहिसों के बीच हल होने वाले थे, जो जन-मत का प्रधान मंच बनने जा रहा था। भारतेंदु की दो पत्रिकाओं, कविवचनसुधा और हरिश्चंद्रचंद्रिका, ने इस प्रक्रिया में बहुत बड़ा योगदान किया, मुद्दों को चिह्नित करके। जैसे कि ख़ुद जन-मत को इन्होंने मुद्दा बनाया; उस मध्यवर्ग के संघटन को मुद्दा बनाया, जो कि अब तक ख़ुद को परिभाषित न कर पाने वाला एक बेडौल गठन था, लेकिन जिसने अय्याश देशी नरेशों और घमंडी औपनिवेशिक अफ़सरशाही, दोनों से अपने अलगाव की बहुत साफ़ तौर पर निशानदेही की।[9]

हिंदू और मुसलमान, हिंदुस्तान और भारतवर्ष

भारतेंदु के भाषण को उस विराट् उद्यम का हिस्सा मानना चाहिए जिसे हम आज भारतीय राष्ट्र को परिभाषा देने के प्रयास के रूप में पहचान सकते हैं। जैसा कि ज्ञान पांडे ने रेखांकित किया है, उपमहाद्वीप के आकार और वैविध्य के मद्देनज़र, अभिजन राजनीतिक दायरों में भारतीय राष्ट्र की कल्पना, उसकी निर्मिति के शुरुआती चरण में, कई मुख़्तलिफ़ समुदायों के एक मिले-जुले निकाय के तौर पर की गयी, जिनमें से हरेक का अपना इतिहास और अपनी संस्कृति थी। ये हिंदुओं, मुसलमानों, ईसाइयों, सिक्खों, पारसियों के समुदाय थे (1990: 209-10)। दरअसल, मामला इससे कहीं ज़्यादा जटिल था। अगर राष्ट्र अलग-अलग समुदायों के संग्रह के रूप में कल्पित हो रहा था, तो ख़ुद ये समुदाय, जो स्वयं एकरूप नहीं थे, आपस में सटने और दूसरों के सामने एक संयुक्त मोर्चा पेश करने के प्रयास में लगे हुए थे। मामला इस वजह से और जटिल हो जाता है कि 'हिंदू', अपने विविध अर्थों में, राजनीतिक और सांस्कृतिक जगह पर प्रभुत्व और दख़ल क़ायम करने लगा था, पर इसका इस्तेमाल कई मायनों में हो रहा था। इसे समझने

के लिए इस लफ़्ज़ की भिन्न-भिन्न प्रयुक्तियों को सुलझाना होगा, जो उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दशकों में किसी हद तक आपस में मिल-उलझ गयी थीं और जो आज भी ग़फ़लत पैदा करती हैं।

अव्वल ये कि ईस्ट इंडिया कंपनी के समय तक भी 'हिंदू' एक ऐसा पद था जो फ़ारसी या तुर्की वग़ैरह के बरख़िलाफ़ देसी भारतीयों का हवाला देता था; हिंदू शब्द हिंदुस्तान के सभी बाशिंदों के लिए इस्तेमाल हो सकता था। लिहाज़ा हिंदवी, हिंदुई या हिंदी भी ऐसे पद थे जो हिंदुओं द्वारा बोली जाने वाली भाषा के लिए प्रयुक्त पद के रूप में इस्तेमाल हो सकते थे। हिंदुस्तान शब्द मुख़्तलिफ़ दौरों में अलग-अलग तरीक़ों से इस्तेमाल होता रहा था।[10] अल-बरूनी ने इसे जिस मुल्क के एक भाग का संकेत करने वाला पद समझा था, वह पूरा मुल्क उसकी निगाह में 'भारतवर्ष' नाम से अभिहित होता था। बाद की प्रयुक्ति में, यह पूरे उपमहाद्वीप से लेकर विन्ध्य के उत्तर में स्थित भूभाग तक, किसी भी चीज़ का द्योतन कर सकता था। कभी-कभी यह उपमहाद्वीप के दक्षिण-पूर्व में स्थित देशों को भी शामिल कर लेता था, लेकिन अकबर तक आते-आते, मुग़ल साम्राज्य के चरमोत्कर्ष के दिनों में, यह उस राजनीतिक और प्रशासनिक इकाई का समानार्थी समझा जाने लगा जो कि अकबर का साम्राज्य था। अंग्रेज़ आये, तो उन्होंने इसे कभी उपहाद्वीप के लिए इस्तेमाल किया, कभी दकन के उत्तर वाले भूभाग के लिए। लेकिन, 1820 तक एक संकीर्ण परिभाषा भी वजूद में आ चुकी थी, जैसा कि विलियम हैमिल्टन ने अपनी कृति *ए ज्योग्रेफ़िकल, स्टैटिस्टिकल ऐंड हिस्टॉरिकल डेस्क्रिप्शन ऑफ़ हिंदोस्तान* में नोट किया था :

> आधुनिक समय में यूरोपीय भूगोलविदों द्वारा हिंदुस्तान की सीमाएं प्रायः हिंदू धर्म की सीमाओं के साथ सहवर्ती के तौर पर मानी जाती रही हैं। इस चित्रण को... यह लाभ भी हासिल है कि यह तीनतरफ़ा शक्तिशाली प्राकृतिक अवरोधों द्वारा पूरी तरह से सुनिर्धारित है...।[11]

इस तरह हिंदुस्तान धार्मिक और इलाक़ाई, दोनों रूपों में सुपरिभाषित हो गया था। क्या जो हिंदू धर्म को मानते थे, उन्हें विशेष (इलाक़ाई) सहूलियतें मिली हुई थीं? इस भूमि की ग़ैर-हिंदू आबादी के हुकूक और सहूलियतें क्या होनी चाहिए थीं?

'हिंदू' की दूसरी प्रयुक्ति, जिसमें यह निकट अंतस्संबंध वाली विविध आस्थाओं के लिए दिया गया एक धार्मिक अभिधान था, दिल्ली सल्तनत के एकदम शुरुआती ऐतिहासिक वृत्तांतों के समय से व्यवहार में थी। इसका प्रयोग ग़ैर-इस्लामी धर्मों के सभी अनुयायियों को एक साथ निर्दिष्ट करने के लिए होता थी। जैसा कि रोमिला थापर ने बताया है, हिंदू समुदाय के प्रत्यय की जड़ों को ग़ैर-इस्लामी स्रोतों में पंद्रहवीं सदी से पहले नहीं ढूंढ़ा जा सकता। यही वह समय था जब लोग अपना उल्लेख हिंदू के तौर पर करने लगे (1989: 224)। हालांकि यह 'तुर्क' के बरख़िलाफ़ प्रचलन में आया, जो कि उस समय मुसलमानों के लिए सामान्यतः इस्तेमाल होने वाला शब्द था, पर उस समय किसी उपमहाद्वीपीय हिंदू समुदाय की कोई धारणा नहीं थी, और इतना ही नहीं, किसी स्पष्टतया धर्मशास्त्रीय आयाम के बनिस्पत इस पद का दायरा सामाजिक-राजनीतिक अधिक था।[12] इसी धर्मशास्त्रीय आयाम को उपमहाद्वीप के धर्म की पश्चिमी समझ के नतीजे के तौर पर स्थापित होना था।[13] ईसाई मिशनरियों ने, और ब्रिटिश इतिहासलेखन ने भी, हिंदुओं और मुसलमानों को बिल्कुल अलहदा मानते हुए उनमें फ़र्क़ किया। उनकी निग़ाह में ये दो ऐसे जुदा लोग थे, जिनके पास न सिर्फ़ अपना-अपना विशिष्ट धर्म था (जिन्हें मिशनरियों और ब्रिटिश इतिहासकारों ने एकाश्मक ही माना), बल्कि पृथक इतिहास भी थे। अगर ब्रिटिश राज के शुरुआती दौर

में मुग़ल इतिहास को ही इस देश का इतिहास समझा जाता था, तो एक भारोपीय भाषा के रूप में संस्कृत की प्राच्यवादी खोज और नतीजतन प्राचीन हिंदू अतीत के गौरव के प्रति पैदा हुए उत्साह के परिणामस्वरूप[14] न सिर्फ़ अंग्रेज़ों की ऐतिहासिक दिलचस्पी मुस्लिम भारत से हिंदू भारत की ओर स्थानांतरित हुई, बल्कि इसके बाद से भारत की पहचान हिंदू भारत के रूप में ही होने लगी।[15] हिंदू सभ्यता के पतन का मुख्य कारण भारत पर मुसलमानों के क़ब्ज़े को माना गया। जेम्स मिल की *हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया* (1817) ने भारतीय इतिहास के हिंदू, मुस्लिम और ब्रिटिश युगों के रूप में किये गये विभाजन पर अंतिम मुहर लगा दी और इसके बाद से भारतीय इतिहास को इसी विभाजन में देखा जाने लगा। हालांकि भारतीय इतिहास का यह विराट युग-विभाजन मुख्यतः राजनीतिक आधार पर किया गया था, पर भारत के आरंभिक ब्रिटिश इतिहालेखन ने यह मान लिया कि भारत में अरबों और तुर्कों के आने के साथ शासकों और शासितों, यानी बिल्कुल पृथक और सांस्कृतिक एवं सामाजिक रूप से अपने-आप में सजातीय समूहों के रूप में देखे जाने वाले मुसलमानों और हिंदुओं, के बीच एक अंतर किया जा सकता है। यह मान्यता आने वाली शताब्दियों में वैध बनी रही और इसे एक असंदिग्ध तथ्य की तरह ग्रहण किया गया कि पूरे 'मुस्लिम' दौर में दो पृथक सामाजिक वजूदों की मौजूदगी बनी हुई थी। लेकिन यह मान लेना एक सरलीकरण होगा कि हिंदू-मुस्लिम द्विभाजन पूरी तरह से ब्रिटिश इतिहासलेखन का ही सृजन था। हालांकि ब्रिटिश संकल्पना ने विकास के एक ख़ास पैटर्न को बढ़ावा दिया, जिसकी मिसाल हिंदी-उर्दू भाषाई बंटवारे में देख सकते हैं, पर दरअसल इससे संबद्ध, मुसलमान से मराठा और मराठा से अंग्रेज़ तक के, राजनीतिक सत्ता के हस्तांतरण और सहूलियतों के बंटवारे को भी शासित आबादी ने स्वाभाविक रूप से अपने ज़ेहन में दर्ज किया। अगर औपनिवेशिक शासन के अधीन मुसलमान नेता पिछली राजनीतिक सत्ता की स्मृतियों की ओर मुड़े, तो हिंदू नेता भी एक व्यापक हिंदू एकता के निर्माण के लिए मुस्लिम उत्पीड़न की स्मृतियों का इस्तेमाल करने में पीछे नहीं रहे। वे सभी हिंदुओं को इस उत्पीड़न का समान रूप से शिकार मानते हुए उन स्मृतियों का आह्वान कर रहे थे। जैसा कि अर्नस्ट रेनान ने पिछली सदी में बताया था :

> ... 'साथ-साथ दुःख भोगना' - और, निस्संदेह, साझा दुःख भोगना साझा आनंद के मुक़ाबले अधिक एकताबद्ध करता है। जहां राष्ट्रीय स्मृतियों का सवाल हो, वहां व्यथा जीतों से अधिक मूल्यवान होती है, क्योंकि वह दायित्वों का निर्धारण करती है, और एक साझा प्रयास की मांग करती है ([1982] 1990: 19)।

सभी हिंदुओं के द्वारा साझा रूप से भोगी गयी यातना का उल्लेख उन्नीसवीं सदी के दौरान खुद हिंदुओं ने तो लगातार किया ही, भांति-भांति के प्राच्यवादियों ने भी कियाः इस तरह अपने-अपने धर्म और इतिहास वाले दो बिल्कुल जुदा लोगों की, हिंदुओं और मुसलमानों की धारणा निर्मित और स्थापित हुई।[16]

'हिंदू' की तीसरी प्रयुक्ति राष्ट्रवादी थी और यह एकदम नयी थी। उस समय एक व्यापकतर एकता की ज़रूरत महसूस की जा रही थी और यह अकारण नहीं था। अगर भारतेंदु ने मौजूदा आर्थिक शोषण के रू-ब-रू सभी हिंदुओं के एकजुट होने का आह्वान किया, तो वह इसलिए भी कि यह पूरी तरह स्पष्ट था कि यूरोपीय उत्पादकों ने देसी उद्योग को विस्थापित कर दिया था। कराधान और भारी आबकारी शुल्क, अंग्रेज़ों के सैन्य अभियानों का वित्तपोषण, ये ऐसे आर्थिक बोझ थे जिनसे देशी अख़बारों के पाठक भली-भांति परिचित हो चले थे। दादा भाई नौरोजी के काम से बड़े पैमाने पर लोग अवगत थे। उनके

विचार अख़बारों में प्रकाशित हुए और आगे चल कर *पोवर्टी एंड द अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया* (1901) जैसे ग्रंथों में संकलित हुए। ये विचार हिंदी में अनुदित होकर अस्सी के दशक के मध्य में *कविवचनसुधा* में धारावाहिक रूप से छपे। लिहाज़ा, आर्थिक राष्ट्रवाद ने और ब्रिटिश प्रशासन तथा गोरों के हाथों साझा तौर पर झेली जाने वाली यातना ने इस महामंत्र में प्राण फूंकने का काम किया कि 'जो हिंदुस्तान में रहे, वह हिंदू'।[17] यह 'हिंदू' का एक तीसरा अर्थ था, नये राष्ट्रवादी निहितार्थ के साथ एक प्राक्-औपनिवेशिक प्रयुक्ति, जिसने शासित आबादी की साझा सांस्कृतिक और ऐतिहासिक धरोहर का आह्वान किया। इसके बावजूद, दूसरा अनुप्रयोग, जिसमें 'हिंदू' एक धार्मिक अभिधान था, इतने बड़े पैमाने पर हावी था कि इस शब्द की किसी लौकिक (सेक्यूलर) प्रयुक्ति से उसे पूरी तरह निकाल बाहर करना नामुमकिन हो जा रहा था।

पर साथ-के-साथ, 'हिंदू' के प्रथम या प्राक्-औपनिवेशिक अर्थ ने - जिसमें हिंदुस्तान का हर बाशिंदा शामिल था - 'हिंदू' के उस दूसरे अर्थ को अपने रंग में रंगा और उसमें मिलावट की, जो इसे महज़ धार्मिक अभिधान के तौर पर इस्तेमाल होने तक महदूद कर देता। दोनों पदों का संपात या मेल हो जाने से दूसरे अर्थ को यह दावा करने की छूट मिल गयी कि वस्तुतः हिंदू धर्म का पालन करने वाले लोग हिंदुस्तान के प्रत्येक और समस्त निवासियों का प्रतिनिधित्व करते हैं क्योंकि वे इस देश के मूल निवासी हैं और इसीलिए देश के साथ सांस्कृतिक रूप से अधिक अंतरंगता के साथ संबद्ध भी हैं। इस दावे में यह निहित था कि राष्ट्र महज़ समुदायों के कुल योग से नहीं बना है, कुछ समुदाय उन दूसरे समुदायों के बनिस्पत अधिक मुकम्मल तरीक़े से इसका प्रतिनिधित्व करने का दावा कर सकते हैं जो या तो बाद में आये हैं, जैसे मुसलमान, या जो यथेष्ट विकसित नहीं (समझे जाते) हैं, जैसे और भी पहले के बाशिंदे, जिसमें द्रविड़ या नाना प्रकार के आदिवासी समुदाय शामिल हैं। तीसरा अर्थ, या राष्ट्रवादी अर्थ, कभी भी अपने धार्मिक संकेतार्थों से पूरी तरह छुटकारा न पा सका। इस पद की प्रयुक्ति उन्नीसवीं सदी में अस्थिर बनी रही और इसके मुख़्तलिफ़ मायनों में आपसी जुड़ाव क़ायम रहा। बावजूद इसके, किसी प्रदत्त संदर्भ में 'हिंदू' के प्राथमिक अर्थ को निर्धारित करना संभव है, यदि एक बार यह तय हो जाये कि इलाक़ाई, धार्मिक, राष्ट्रीय में से किस आधार पर यह पद प्रयोग में आ रहा है, और 'अन्य' की भूमिका में किसे रखा जा रहा है; चाहे वह अन्य, जैसा कि पुरानी इलाक़ाई प्रयुक्ति में दिखता है, फ़ारसी या तुर्क हो, या मुसलमान (जिसे उस समय कई बार समूह के हवाले में तुर्क ही कहा जाता है), या फिर अंततः औपनिवेशिक स्वामी। लेकिन यह बात दिमाग़ में रखना ज़रूरी है कि धार्मिक समुदाय को निर्दिष्ट करने वाली दूसरी प्रयुक्ति अत्यंत प्रभावी संदर्भ-बिंदु बनी रहती है।

यहां दो और महत्वपूर्ण गुत्थियों पर ग़ौर करने की ज़रूरत है। भारतेंदु ने अपने छपे हुए भाषण के शीर्षक में भारतवर्ष शब्द का प्रयोग किया है, हिंदुस्तान का नहीं। परंतु ख़ुद भाषण में यह शब्द सिर्फ़ एक बार इस्तेमाल किया गया है, एक उद्बोधनपरक अंश में। इस अंश में, भले ही मात्र अतीत के संदर्भ में, बाहरी हमलों से देश की हिफ़ाज़त करने के लिए लोगों से आगे आने का आह्वान किया गया है और देश का मतलब वहां निहित रूप में आर्य-हिंदू प्रदेश है। एक इलाक़ाई और सांस्कृतिक इकाई के तौर पर भारतवर्ष तथा अस्मिता को स्थापित एवं चिह्नित करने वाले के तौर पर आर्य, दोनों ही उस देसी परंपरा के हिस्से थे जिसे सदियों से जीवित रखा गया था और पुराणों तथा धर्मशास्त्रों में जिसका बारंबार स्मरण किया गया था। हिंदुस्तान महज़ आंशिक रूप से ही उस भारतवर्ष की धारणा के साथ मेल खाता

था, जिसका अपना सांस्कृतिक और धार्मिक इतिहास था। वैसे ही जैसे हिंदू यद्यपि आर्य के साथ घुलमिल गया था, पर वह आर्य की तरह की उद्‌बोधनकारी शक्ति कभी हासिल नहीं कर पाया। आर्य का प्रयोग आर्य और मलेच्छ के युगों पुराने भेदभाव की यादें ताज़ा कर देता था।

भारतवर्ष किस तरह की एकता की ओर इशारा करता था?[18] ऐसा नहीं कि यह पूरी सहस्राब्दी के दौरान अपरिवर्तनशील बना रहा। इस मुद्‌दे पर विस्तृत अध्ययन होना अभी बाक़ी है, पर अठारह महापुराणों में से *मार्कण्डेय* और *भागवत पुराण*, जिनके बारे में हम जानते हैं कि उनसे भारतेंदु भली-भांति परिचित थे और लगातार उन्हें उद्धृत करते थे, के बीच सरसरी तौर पर की गयी तुलना भी इस अवधारणा के विचारधारात्मक संविधान में आये हुए विराट बदलावों को चिह्नित करने के लिए काफ़ी है। भारतवर्ष के राजनीतिक इकाई होने का कोई दावा पेश न करते हुए भी *मार्कण्डेय पुराण* इसकी सरहदों को बहुत स्पष्ट रूप से चिह्नित करता है; इसकी चौहद्दियों का जो बिंब रचा गया है, वह काव्यात्मक और रक्षात्मक, दोनों है। बिंब इस प्रकार है कि पूर्व, दक्षिण और पश्चिम से इसे घेरने वाला समुद्र एक धुनष के आकार में है, इस धुनष की प्रत्यंचा को पर्वत शृंखला ने खींच रखा है जो उत्तर में दुर्ग की दीवार की तरह स्थित है।[19] फिर इस देश से होकर बहने वाली नदियों और इसके आर-पार फैली पर्वत शृंखलाओं की गणना करने के बाद यहां बसी हुई जनजातियों की सूची आती है - इस जगह आर्य और मलेच्छ, दोनों गुंथे हुए मौजूद हैं; देश किसी भांति आर्यों का विशिष्ट अधिकार-क्षेत्र नहीं है। लेकिन वे इसके केंद्रीय भाग, मध्यदेश, में विशेषाधिकार-प्राप्त स्थिति में हैं। सिर्फ़ यही जगह है जहां चारों वर्ण शास्त्रोक्त कर्तव्यों का पालन करते हैं। कारण, भारतवर्ष भूलोक के अन्य वर्षों, यानी धरती के दूसरे भागों, से इसी रूप में अपने को अलग करता है कि कर्मभूमि एकमात्र यही है, जहां प्रत्येक कार्य, प्रत्येक यज्ञ का उचित प्रतिफल मिलता है, और स्वर्ग में अपना समय पूरा कर लेने के बाद जहां देवता भी जन्म लेना चाहते हैं। सिर्फ़ इसी जगह पर वैदिक यज्ञ-याग किये जाते हैं और यही जगह है जहां अनेक पारलौकिक अवस्थाओं को भी हासिल करना संभव है। इस प्रकार वर्णव्यवस्था तथा उससे जुड़े सभी विधि-निषेधों का प्रचलन ही इस इकाई में एक सुसंगति लाता है।

भागवत पुराण में भारतवर्ष की प्रशस्ति में एक स्तुति है, जो हरि को संबोधित है और जिसका गायन देश के जनसाधारण के साथ नारद करते हैं।[20] इस जनसाधारण का अंकन वर्ण व्यवस्था का अनुपालन करने वाले के तौर पर किया गया है। लेकिन स्तुति में ज़ोर वर्णव्यवस्था से हट कर है। कहा गया है, इस देश में सभी लोग - जनजातियों का, आर्य या मलेच्छ का कोई ज़िक्र नहीं किया गया है - विविध योनियों, जन्म और मोक्ष से गुज़रते हैं। मोक्ष जन्मों के चक्र से छुटकारा पाना है, यद्यपि यहां आकर इसे भक्ति की स्थिति से अभिन्न रूप में देखा जाने लगा है। कर्मभूमि की धारणा के साथ-साथ स्वयं वैदिक यज्ञ का भी महत्व घटा है; इसे मात्र सांसारिक सुखों की प्राप्ति के साधन के तौर पर देखा गया है। इंद्र आदि विविध नामों के साथ हरि यज्ञ के दान यानी हवि को स्वीकार करने वाले के तौर पर क़ायम हैं, लेकिन भारतवर्ष यहां भूलोक के अन्य भागों से इस मायने में विशिष्ट है कि सिर्फ़ यहीं भक्ति को प्राप्त करना संभव है, और यही वह स्थिति है जिसे देवता भी प्राप्त करना चाहते हैं जब वे यहां जन्म लेने की इच्छा व्यक्त करते हैं।

इस तरह भारतवर्ष सदियों तक सांस्कृतिक रूप से अत्यंत आविष्ट धारणा बना रहा है, जिसने, राजनीतिक हक़ीक़त से मरहूम होने बावजूद, एक कर्मकांडी, सामाजिक, धार्मिक, समर्पणमूलक,

विषमरूपता में समरूपता की खोज करती व्यवस्था - ब्राह्मणवादी व्यवस्था - के विज़न के तौर पर अपना सामर्थ्य बनाये रखा है; हालांकि जिन शक्तियों को इस समरूपता के साधन के तौर पर देखा गया था, वे स्वयं समय के साथ बदल गयीं। लेकिन पवित्र नदियों और पर्वतों से आच्छादित भूभाग के साथ जुड़ी यह व्यवस्था ही थी जो उपमहाद्वीपीय स्तर की वैधता को हासिल करने के सबसे पास तक पहुंच पायी।[21] इस अवधारणा के उन्नीसवीं सदी के पुनरुज्जीवन एवं राजनैतिकीकरण को इसी नैरंतर्य के संदर्भ में रख कर देखना होगा। भारतेंदु पुराणों से सुपरिचित थे, जैसा कि *हरिश्चंद्रचंद्रिका* के कई अंकों में अठारह मुख्य पुराणों के उनके द्वारा प्रस्तुत सार-संक्षेप से भली-भांति स्पष्ट है।[22] हालांकि वे भारतवर्ष और हिंदुस्तान के बीच कोई सोचा-समझा अंतर नहीं करते हैं, लेकिन असलियत यही है कि उनके द्वारा भारतवर्ष का इस्तेमाल स्पष्टतः हिंदू धार्मिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ तक महदूद है। यहां जिस भाषण का विश्लेषण किया गया है, वह चूंकि एक जनसभा में दिया गया भाषण था, जहां श्रोताओं में हिंदू, मुसलमान और यहां तक कि अंग्रेज़ भी मौजूद थे, इसलिए उन्होंने जिस पद का उपयोग किया, वह था 'हिंदुस्तान'। 'हिंदुस्तान' हिंदुओं और मुसलमानों, दोनों का निवास-स्थान हो सकता था, क्योंकि एक समय में इस देश के सभी बाशिंदे हिंदू कहे जाते थे, हालांकि आधुनिक युग का हिंदू (एक धार्मिक अभिधान वाले अर्थ में) देश के मूल निवासी होने की अपनी दावेदारी के बल पर इसके भीतर एक विशेषाधिकारयुक्त ओहदे पर क़ाबिज़ था। 'भारतवर्ष' का इस्तेमाल भारतेंदु ने सिर्फ़ एक बार, और वह भी लगभग अनजाने में, पृथ्वीराज-मोहम्मद गोरी की लड़ाई के उल्लेख के बाद किया, जो इस बीच सर्वोत्कृष्ट हिंदू-मुस्लिम टकराव का प्रतीक बन चुका था। इसके विपरीत, 'वैष्णवता और भारतवर्ष'[23] जैसे लेख में, जहां संदर्भ स्पष्ट रूप से हिंदू और धार्मिक था, भारतेंदु ने एक बार भी 'हिंदुस्तान' की चर्चा नहीं की। यहां उन्होंने ख़ुद को सीधे-सीधे भागवत पुराण वाले आदर्शीकरण की परंपरा में रखा और वैष्णव भक्ति को हिंदू धर्म की एकता और निरंतरता के निमित्त के रूप में देखा, लेकिन उनकी दृष्टि ज़ाहिरा तौर पर राष्ट्र एवं राष्ट्रीय धर्म की उन्नीसवीं सदी की समझ से भी प्रभावित थी। उस समय का राजनीतिक यथार्थ, विडंबनापूर्ण तरीक़े से, मात्र ब्रिटिश इंडिया था। अलबत्ता, इसकी भौगोलिक और प्रशासनिक चौहद्दियां 'भारतवर्ष' और 'हिंदुस्तान' की धारणा से ढंकी जा रही थीं। इस तरह भारतवर्ष, हिंदुस्तान और ब्रिटिश इंडिया की मानचित्र-रेखाएं एक-दूसरे को फलांगती, काटती और अतिछादित (ओवरलैप) करती थीं, लेकिन धारणाओं के रूप में इन्होंने अपने विशिष्ट संकेतार्थों को बरक़रार रखा और भारतवर्ष का राजनैतिकीकरण इस भूभाग के सच्चे हक़दार और कमतर हक़दार के बीच अंतर की अपनी समझ को अपने साथ लेकर आया।

इसी पृष्ठभूमि में आर्य-मलेच्छ द्विभाजन को भी समझने की ज़रूरत है।[24] हालांकि बहिरागत आर्य स्थानीय लोगों की अशुद्ध भाषा, साथ ही, आनुष्ठानिक अशुद्धता की ओर संकेत करने के लिए उन्हें मलेच्छ कहते थे, मूलतः यह पद आर्यों और उन जनजातियों के बीच की आंतरिक भिन्नताओं को स्थापित करने के लिए इस्तेमाल होता था जो कि आर्यदेश कहे जाने वाले इलाक़े पर एक समय क़ाबिज़ थे। जिन इलाक़ों में मलेच्छ निवास करते थे, यानी वे पहाड़ और जंगल जिनकी ओर वे खदेड़ दिये गये थे, उन्हें उस आर्यदेश की परिधि के बाहर माना जाता था, जिसकी पहचान थी, वर्ण-नियमों का पालन एवं वैदिक अनुष्ठानों का निष्पादन। वर्ण-व्यवस्था में नीच से नीच को भी, मिसाल के लिए, शूद्र के रूप में दाख़िला मिला था, लेकिन उन्हें मलेच्छ बताना जारी रहा।[25] अलबत्ता, अपने में मिलाने के बाद, अनार्यों में से अधिक शक्तिशाली लोगों को वर्ण-योजना में एक उच्चतर दर्जे से नवाज़ा गया। नौवीं सदी से मलेच्छ के रूप

में देसी लोगों की बड़ी तादाद का हवाला मिलना बंद हो गया। स्वयं ब्राह्मणवादी धर्म का तब विस्तार हुआ जब भागवत जैसे संप्रदायों ने अनार्यों को अपने दायरे में स्वीकार कर लिया। तब फिर मलेच्छों के रूप में मुख्यतः अरबों का ज़िक्र होने लगा। यहां जिस तरह के बहिष्करण की शुरुआत हुई, वह पारस्परिक था, यद्यपि उसका निर्धारण अलग तरीक़े से हुआ था, क्योंकि बहिरागत मुसलमानों के लिए, जिन्होंने वर्ण-व्यवस्था का हिस्सा बनने की कोशिश नहीं की, आनुष्ठानिक शुद्धता कोई विचारणीय पहलू नहीं था। आने वाली शताब्दियों में मुख्यतः निचले दर्जे की जो जातियां इस्लाम में धर्मांतरित हुईं, उन्होंने अपनी वंशानुगत जाति, पेशे और आनुष्ठानिक तौर-तरीक़ों को बरक़रार रखा और इस तरह, एक मायने में, मलेच्छ वाली अपनी पिछली हैसियत को और पक्का किया। इसके अलावा, इस्लामी इतिहासलेखन अपना अत्यंत विकसित अतीत-बोध अपने साथ लेकर आया, जिसने, स्वयं भारतीय परंपरा का एक हिस्सा बन जाने के बावजूद, ब्राह्मण परंपरा के बरक्स अपनी विशिष्टता क़ायम रखी।

उन्नीसवीं सदी के मध्य से आर्य वाले पक्ष को विचारधारात्मक स्तर पर और सुदृढ़ किया गया। इसने प्राचीनता की, मुस्लिमपूर्व भारतीय अतीत के साथ प्रत्यक्ष जुड़ाव की, और लिहाज़ा वर्तमान में जायज़ सांस्कृतिक प्रभुत्व की 'हिंदू' (दूसरी प्रयुक्ति के संकरे, धार्मिक अर्थ में) दावेदारी को और मज़बूती प्रदान की। 1850 से 1870 के बीच यूरोप के तुलनात्मक भाषाशास्त्र के विद्वान इस बात पर एकमत थे कि मानवजाति की विभिन्न नस्लों के वर्गीकरण को नियत करने के लिए भाषाई आधार सबसे भरोसेमंद आधार है। सामान्य भाषा का मतलब सामान्य मानसिकता भी है, जिसके संबंध-सूत्र भाषा के माध्यम के बज़रिये अतीत में ढूंढ़े जा सकते हैं।[26] अगर वैदिक संस्कृत भारोपीय भाषा-परिवार के पुरखों में से एक है तो - जैसा कि इस सिद्धांत के सबसे मुखर प्रवक्ताओं का दृढ़ विश्वास था - ई.पू. 2000 से लेकर वर्तमान काल तक भारोपीय भाषाओं और संस्कृति की निरंतरता मानी जा सकती है, और इस भाषा के आधुनिक भाषियों को प्राचीन आर्यों के प्रत्यक्ष वंशज के तौर पर देखा जा सकता है। उन्नीसवीं सदी के मध्य के इंग्लैंड में आर्य-मिथ की कुलीनता के प्रचारकों में सबसे मुखर और वाग्मी, साथ ही, सर्वाधिक विश्वासोत्पादक एवं प्रभावशाली नाम थे - सी. जे. बुनसेन (1791-1860) और फ्रेडरिख़ मैक्स मुलर (1823-1900)।[27] भारत में जो अंग्रेज़ थे, उन्होंने आर्य वाले इस विचार के प्रति और आर्य अतीत के गौरव में तथाकथित भारतीय योगदान तथा भागीदारी के प्रति इंग्लैंड में बैठे अपने कुछ समकालीनों के मुक़ाबले कम उत्साह प्रदर्शित किया, लेकिन भारतीयों के ख़िलाफ़ ब्रिटिश और ऐंग्लो-इंडियन नस्ली पूर्वग्रह का मुक़ाबला करने के लिए अलग-अलग मिशनरियों तथा नागरिकों द्वारा इसका इस्तेमाल किया गया। ऐसा नहीं था कि वे कमोबेश, और 1857 के उपद्रव के तुरंत बाद, ख़ास तौर से हिंदुओं के पक्षपाती थे, लेकिन उन्होंने नस्ली भेदभाव की बहुत ज़ाहिरा ज़्यादतियों का मुक़ाबला करने के कुछ प्रयास अवश्य किये। अलबत्ता, भारतीय इतिहास से और भारतीय जलवायु के प्रभावों से संबंधित पूर्वगृहीत फ़ैसले आर्य सिद्धांत के चलते पूरी तरह से ख़त्म नहीं होने थे। बाद के इंडो-आर्यों की नस्ली और, एवंप्रकारेण, सांस्कृतिक अशुद्धता को इंगित करना संभव था, क्योंकि वे देश के आर्यपूर्व निवासियों के साथ मिश्रित हो गये थे। इस तरह हिंदुस्तान के लोग ऐतिहासिक रूप से कमतर बने रहे और उनकी उपलब्धियां, अंतिम निष्कर्ष में, यूरोपीय आर्यों के साथ तुलनीय नहीं समझी गयीं, ख़ास तौर से ग्रेट ब्रिटेन के आर्यों के साथ, जो सबसे तरक़्क़ीपसंद और सबसे गौरवशाली साम्राज्यवादी होने के नाते विश्व इतिहास के शिखर पर स्थित माने जाते थे।[28]

साठ के दशक से अपनी आवाज़ को सुनवाने में कामयाब होने वाली हिंदू/हिंदुस्तानी प्रतिक्रिया अपने अभिप्राय में बिल्कुल अलहदा थी। यहां यूरोपीय परिवार के साथ आर्य-एकता पर बहुत बल नहीं दिया गया था। बल्कि ये लोग जिस चीज़ को लपके थे, वह थी आर्य परंपरा द्वारा सुझायी गयी राष्ट्रीय एकजुटता की संभावना। हालांकि आर्यों की शारीरिक शक्ति, शरीर-रचना और सैन्य पराक्रम पर पश्चिम का जो बल था, उसे हिंदुस्तानी राष्ट्रवादियों ने भी अपनाया, लेकिन उन्होंने मुख्यतः आर्यों के आध्यात्मिक बल और अंतर्दृष्टि पर ज़ोर दिया।[29] और भारतेंदु ने हर उस मौक़े पर आर्य वाले विचार को तलब किया जब हिंदू राष्ट्रीय अतीत के गौरव को प्रदर्शित करने की ज़रूरत आन पड़ी। इस अतीत से मलेच्छ-मुसलमान बहिष्कृत तो नहीं किये जा सके थे, लेकिन निहित तौर पर यह भी संभव था।

भारतेंदु के विचारों का आकलन : द्विभाजन, दुचित्तापन और तीसरा मुहावरा

ऊपर जिस राजनीतिक और सांस्कृतिक ढांचे का ख़ाका खींचा गया है, उसी के भीतर भारतेंदु और उनके समकालीनों ने अपने ब्रांड के राष्ट्रवादी विचार और लेखन को सिरजा और विकसित किया। भारतेंदु कितने तरक़्क़ीपसंद थे? परंपरा के साथ उनका क्या रिश्ता था? उस आधुनिकीकरण के हक़ में, जो एक राजनीतिक ज़रूरत भी बन गया था, वे किस हद तक और किस तरह के बदलाव के लिए तैयार थे? क्या एक उभरते हुए मध्यवर्ग के महत्वपूर्ण प्रवक्ता के तौर पर अंग्रेज़ों और देसी नरेशों के प्रति उनके रवैये में दुचित्तापन था? और 'हिंदू' शब्द के उनके द्वारा किये गये इस्तेमाल के बदलते संकेतार्थों का क्या मतलब है? मुसलमानों के प्रति उनके रवैये की परिवर्तनशीलता के क्या माने हैं?

भारतेंदु के कामों को जिस रूप में लिया गया, आगे मैं उसी की समीक्षा और आलोचनात्मक आकलन करूंगी। मेरा विशेष फ़ोकस बलिया वाले व्याख्यान से प्रेरित टिप्पणियों पर रहेगा। इस व्याख्यान ने केवल भारतेंदु के समकालीनों की टिप्पणियों को ही न्यौता नहीं दिया, बल्कि बीसवीं सदी में भी यह प्रक्रिया जारी रही, क्योंकि ज़ाहिरन इसे एक केंद्रीय वक्तव्य माना गया। हालांकि भारतेंदु एक सुपरिभाषित सांस्कृतिक परिवेश के भीतर से बोल रहे थे - वे निश्चित रूप से काशी के एक रईस या व्यापारिक अभिजात वर्ग के प्रतिनिधि भी थे - फिर भी उनके यहां नयी स्थापनाओं का प्रस्ताव और पक्षपोषण हो रहा था। जो विवेचनाएं और व्याख्याएं सामने आयीं, वे संभावित आकलन के एक स्पेक्ट्रम को उद्घाटित करती हैं, जो एक ऐसी शख़्सियत से प्रेरित है जिसे आसानी से पारंपरिक या आधुनिक, सांप्रदायिक या राष्ट्रवादी, राजभक्त या अंग्रेज़विरोधी के रूप में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता, यद्यपि आलोचकों ने प्रायः ऐसा ही किया। लेकिन, चूंकि वे आधुनिक और प्राक्-आधुनिक के मिलन-बिंदु पर टिके थे, उनके कामों में साथ-साथ मौजूद पूर्णतः द्विभाजित रवैयों को पहचान लेना संभव था; इस तरह वे महज़ दुचित्ते के रूप में भी देखे जा सकते थे। उनके व्याख्यान को लेकर आम आकलन और प्रतिक्रियाओं का सरसरी तौर पर किया गया सर्वेक्षण हमें मौजूदा अध्ययन के सरोकारों और उपागमों में दाख़िल होने का एक बिंदु मुहैया कराता है।

व्याख्यान की भाषा भारतेंदु की परवर्ती गद्य-शैली का प्रतिनिधि नमूना हैः सुमधुर, जीवंत, लतीफ़ों और हल्के-फुल्के मज़ाकों से बिंधी हुई, नाना प्रकार के स्रोतों से आये हुए उद्धरणों से भरपूर, जिनमें परंपरागत कहावतें, संस्कृत के पाठ और ब्रजभाषा काव्य तो हैं ही, उसी धड़ल्ले से उर्दू शायरी भी शामिल है। इनमें से ज़्यादातर उद्धरण किसी स्थापना के समर्थक साक्ष्य के तौर पर आने की बजाय सहचर के

तौर पर आते हैं। निबंध के कई साहित्यिक संकेतों और उनकी अहमियत को आर. एस. मैक्ग्रेगर ने, उस दौर के साहित्य के अपने पिछले प्रांजल विश्लेषण (1974) को आगे बढ़ाते हुए, सुलझाया है और संवेदनशीलता के साथ विश्लेषित किया है (1991)।[30] व्याख्यान में छवियों और विचारों की जिस संपदा का जादुई तरीक़े से आह्वान किया गया है, उसे अगर सावधानीपूर्वक संसाधित करें, तो वह समकालीन मत-निर्माण के संबंध में पर्याप्त अंतर्दृष्टि देता है, अगर हम लापरवाही से उद्धृत छंद को सीधे-सीधे अभिधा में पढ़ने की बजाय ऐहतियात के साथ संदर्भ में रख कर देखें।

भारतेंदु के समकालीनों और उत्तराधिकारियों - सहाय (1905), राधाकृष्णदास (1905), और कुछ समय बाद, ब्रजरत्नदास (1935)[31] - ने उनकी देशभक्ति की तारीफ़ की, लेकिन अपने मित्र और पथप्रदर्शक की राजभक्ति का बचाव करते हुए अंग्रेज़ों के प्रति उनकी अंतःस्थ निष्ठा पर बल दिया। भारतेंदु की गुस्ताख़ क़लम उनके ऊपर ग़ैरनिष्ठावान होने के जो आरोप लगवा रही थी, उससे मजबूर होकर उन्होंने ऐसा किया। ये लोग ख़ुद ब्रिटिश राज की प्रजा थे और इन्हें शासकों के प्रति निष्ठा या राजभक्ति तथा प्रबल देशभक्ति, दोनों के सहअस्तित्व में कोई अंतर्विरोध नहीं दिखता था। भारतेंदु के करिश्माई व्यक्तित्व के सम्मोहन में बंधे, लेकिन आवश्यक आलोचनात्मक दूरी के बग़ैर, उन्होंने भारतेंदु के जीवन और कार्यों के ब्यौरे पेश किये। ये पांडित्यपूर्ण, किंतु प्रशस्तिमूलक कृतियां थीं। यद्यपि इन जीवनियों और आरंभिक आकलनों के मूल्य को कम करके नहीं देखना चाहिए, क्योंकि इनमें सूचनाओं की वह संपदा है जो अन्यथा गुम हो जाती। लेकिन, जहां तक भारतेंदु की कृतियों के साहित्यिक मूल्यांकन का सवाल है, जिन सौंदर्यशास्त्रीय श्रेणियों का इस्तेमाल किया गया, वे मुख्यतः संस्कृत के शास्त्रीय रंगपटल से ली गयी थीं। इसका सीधा मतलब ये था कि कृतियों का मूल्यांकन 'पारंपरिक' के साथ बंधा रहा। भारतेंदु के राजनीतिक विचार, प्रदत्त स्थितियों में, 'राजभक्त' के अलावा किसी और श्रेणी में अंतर्भुक्त नहीं हो सकते थे।

यूरोपीय आलोचकों में जॉर्ज ग्रियर्सन उन शुरुआती लोगों में से थे जिन्होंने भारतेंदु की तारीफ़ की। अपनी किताब द *मॉडर्न वर्नाकुलर लिटरेचर ऑफ़ हिंदुस्तान* (1989) में उन्होंने हिंदी के सबसे महत्वपूर्ण आधुनिक कवियों और नाटककारों में भारतेंदु का ज़िक्र किया है। अलबत्ता, वैष्णव प्रभुत्व वाले हिंदू धर्म की अपनी विशिष्ट व्याख्या का निर्वाह करते हुए ग्रियर्सन का मुख्य सरोकार एक परंपरावादी वैष्णव कवि और भक्त के रूप में भारतेंदु की छवि को सामने लाना था।

लगभग एक शताब्दी बाद जुर्गन ल्युट ने, उत्तरप्रदेश के हिंदू राष्ट्रवादियों के अपने अध्ययन (1970) में, हिंदू राष्ट्रवाद की रचना में भारतेंदु की भूमिका का विस्तृत चित्रण करने का पहला प्रयास किया। उन्होंने रामविलास शर्मा के काम से, जिसकी आगे चर्चा होगी, काफ़ी मदद ली, पर इंडिया ऑफ़िस लाइब्रेरी, लंदन की अभिलेखीय सामग्री का मूल्यांकन पेश करते हुए अपने अध्ययन को ख़ासा समृद्ध किया। लेकिन अपने विश्लेषण में ल्युट ब्रिटिश इतिहासलेखन की परंपरा में ही आगे बढ़े, यानी इस मूल धारणा के साथ अग्रसर हुए कि हिंदू धर्म और इस्लाम दरअसल दो एकाश्मक धर्म हैं, जिनकी इस उपमहाद्वीप में हमेशा से अलग-अलग संस्कृतियां रही हैं और जुदा इतिहास रहे हैं, और इस तरह उन्होंने इस तथ्य की अनदेखी की कि इस चरण में हिंदू धर्म का एकत्व ख़ुद गढ़े जाने की प्रक्रिया में था। ल्युट ने भारतेंदु को सुधारवादी परंपरा में रख कर देखा, यानी एक ऐसे व्यक्ति के रूप में जिसने अपनी ही भक्ति परंपरा और भक्ति समुदाय से अच्छी-ख़ासी दूरी बना ली थी (1970: 84)। इसके अलावा, उस

समय चल रहे प्यूरिटनवादी सफ़ाई अभियान की शक़्ल में जो मिशनरी प्रभाव दिख रहा था, उसके प्रति सजगता दिखाते हुए ल्युट ने उस प्रभाव का मूल्य बढ़ा-चढ़ा कर आंका (157)। इसीलिए न तो धर्म की नयी परिकल्पना में मौजूद निरंतरताओं को ठीक से समझा गया, न ही भारतेंदु के परवर्ती गद्य की साहचर्यमूलक, उद्‌बोधनपरक साहित्यिक शैली को। इस तरह, हम पाते हैं कि अगर ग्रियर्सन ने एक परंपरावादी के रूप में भारतेंदु का आकलन किया, तो ल्युट उसके बरख़िलाफ़ एक सुधारवादी चिंतक के रूप में।

बीसवीं सदी के चालीस और पचास के दशक में ही भारतेंदु का विस्तृत साहित्यिक और राजनीतिक पुनर्मूल्यांकन सामने आ पाया। इस समय से उनके तरक़्क़ीपसंद रुझानों पर बल दिया जाने लगा और ऐसा अक्सर उनके उस पहलू की क़ीमत पर हुआ जो 'परंपरा' से बहुत निकट जुड़ाव रखता हुआ नज़र आता था। लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का अध्ययन (ख1948, 1974) भारतेंदु के कामों का एक शुरुआती व्यवस्थित और संतुलित मूल्यांकन था। उस दौर के साहित्य के अपने व्यापक अध्ययन और ज्ञान के साथ वार्ष्णेय न सिर्फ़ भारतेंदु के योगदान का, उनके समकालीनों और निकट उत्तरवर्तियों की अतिशयोक्तियों से रहित, आलोचनात्मक मूल्यांकन कर पाये, बल्कि एक साहित्यिक भाषा के रूप में आधुनिक हिंदी के निर्माण में और आधुनिक साहित्यिक विधाओं के प्रयोग में उनके योगदान की अहमियत को चिह्नित और व्याख्यायित भी कर पाये। अलबत्ता, बलिया व्याख्यान का उनका आकलन उनके अपने उपागम की शक्तियों और पक्षपातों को भी उजागर करता है। भारतेंदु पर परंपरा का जो ऋण था, उसकी अनदेखी करते हुए वे उन्हें मुख्यतः आधुनिकता का अग्रदूत (148) मानते हैं, और उनके व्याख्यान के बुनियादी संदेश को वयस्क शिक्षा, परिशोधित धर्म और परिष्कृत अनुष्ठान जैसे आमूल सुधारों की सिफ़ारिश के तौर पर देखते हैं, जो मुल्क में अधिक एकता और एकरूपता की राह हमवार करता। इसके अलावा, अंग्रेज़ों की मध्यस्थता द्वारा पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति जिस रूप में यहां आयी, उसके गुणों के प्रशंसक के रूप में भी वे भारतेंदु को देखते हैं (191)। लेकिन भारतेंदु के यहां मिलने वाली औपनिवेशिक शासन की तीखी आलोचना और उसके प्रति मूलगामी प्रतिरोध के महत्व को वार्ष्णेय कम करके आंकते हैं, क्योंकि अंग्रेज़ों की उपलब्धियों की प्रशंसा भारत में अंग्रेज़ी राज की आलोचना के साथ असंगत जान पड़ती है।

रामविलास शर्मा के अध्ययनों ([1942] 1975, [1953] 1984) में कवि के परंपरावादी आकलनों से और अधिक आमूल क़िस्म का प्रस्थान दिखलायी पड़ा। शर्मा पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारतेंदु और उनके समकालीनों की सरल, बोलचाल वाली और जीवंत गद्य शैली की सराहना की, जिसे रामविलास शर्मा स्वयं अपने समकालीनों द्वारा प्रयुक्त होता हुआ देखना चाहते थे; ऐसे समकालीन, जो बाद के भारी-भरकम, अधिक संस्कृतनिष्ठ, और बोलचाल के मुहावरे से अपना संपर्क गंवा चुके गद्य के शिकार हो गये थे। उन्होंने इस भाषा को भारतेंदु के पत्रकारीय कार्य के जनवादी पक्ष के बतौर देखा। उन्होंने पत्रिकाओं को विस्मृति के गर्त से निकालने की ज़रूरत पर बल दिया और अपनी पहली क़िताब के निबंधों में उन लेखों, संपादकीयों तथा टिप्पणियों से बहुतेरे उद्धरण दिये जिन्हें भारतेंदु की ग्रंथावलियों में जगह नहीं मिल पायी थी। विवेचित सामग्री के अधिक विस्तृत दायरे ने लेखक और उसके समय के बारे में एक अलग दृष्टि को उभरने का मौक़ा दिया। शर्मा इस तथ्य को भी रेखांकित करने वाले पहले व्यक्ति थे कि भारतेंदु के संबोध्य पुराने दौर के अभिजन नहीं रह गये थे, क्योंकि पत्रिकाओं में जिन मुद्‌दों पर चर्चा की गयी थी वे व्यापक जनता के साथ सरोकार रखने वाले मुद्‌दे थे। भारतेंदु के राजनीतिक

रैडिकलिज़्म की सराहना करने वाले पहले व्यक्ति भी शर्मा ही थे। 'भारत छोड़ो' आंदोलन के वर्ष 1942 में, मुल्क में ज़बर्दस्त लोकप्रिय राजनैतिकीकरण के परिणामस्वरूप, रामविलास शर्मा अपने पाठकों से उम्मीद कर सकते थे कि वे ब्रिटिश राज की स्पष्ट शब्दों में की गयी इस आरंभिक किंतु तीखी आलोचना की उनकी खोज को तवज्ज़ह दें और उसकी सराहना करें। शर्मा ने भारतेंदु की राष्ट्रीय आकांक्षाओं - 'एक सम्मिलित राष्ट्र की कल्पना' - पर बल दिया ([1942] 1975: 43)। संक्षेप में, उन्होंने भारतेंदु में एक मुकम्मल राष्ट्रवाद के सुराग़ पाये और इसे, दरअसल, संपूर्ण आज़ादी की मांग के बतौर समझना चाहा।

बलिया व्याख्यान का रामविलास जी द्वारा किया गया विश्लेषण उनके अपने विचार-लोक तक पहुंचने का साधन मुहैया कराता है। वे भारतेंदु के राजनीतिक विचारों की परिपक्वता पर बल देते हैं और उन्हें अपने समय से काफ़ी आगे का मानते हैं। परंतु इस रूप में उनके राष्ट्रवाद की पेशबंदी करते हुए शर्मा इस तथ्य की अहमियत को दरकिनार कर देते हैं कि वह राष्ट्रवाद अभी भी बिल्कुल बनती हुई स्थिति में था, कि कई मुद्दे सुलझाये जाने की प्रक्रिया में ही थे। इसके अलावा, अपने पठन के प्रबल राष्ट्रवादी अभिप्रायों का निर्वाह करते हुए, वे व्याख्यान में हिंदू-मुस्लिम एकता की अपील और 'हिंदू' को अधिक समावेशी तरीक़े से इस्तेमाल करने के निवेदन पर ही ग़ौर फ़रमाते हैं। इस तरह वे तेज़ी से अलग होते दो समुदायों के बीच के उन तनावों और वैर-भाव की अनदेखी करते हैं जो उस व्याख्यान में भी दर्ज हैं। उस दौर को हिंदू पुनरुत्थानवाद का दौर बताये जाने की कोशिशों को अगर रामविलास शर्मा असंगत बता कर ख़ारिज करते हैं[32], तो साथ में धार्मिक मुद्दों को भी दरकिनार कर देते हैं और इस तरह भारतेंदु के काम का यह ख़ासा विचारणीय पहलू हाशिये पर चला जाता है।

लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय और रामविलास शर्मा ने क्रमशः भारतेंदु की साहित्यिक शैली की आधुनिकता और उनके काम के रैडिकल राजनीतिक आयाम पर बल देना पसंद किया। तरक़्क़ीपसंद रवैयों के साथ पारंपरिक रवैयों के सहअस्तित्व में जो अंतर्विरोध निहित था, उसे उजागर होने के लिए परवर्ती आलोचकों का इंतज़ार करना पड़ा।

इस पुनर्मूल्यांकन को समाज सुधार और संप्रदायवाद के विषय-गुच्छों के आलोचनात्मक विवेचन के बीच सामने आना था। उन्नति का संदर्भ, जिसने बलिया व्याख्यान में प्रस्तुत चिंतन का ढांचा तैयार किया, सुधार या सामाजिक बदलाव के मुद्दे से अच्छा-ख़ासा ताल्लुक़ रखता था। शर्मा के अनुसार, भारतेंदु बहुत स्पष्ट रूप से सामाजिक बदलाव का समर्थन कर रहे थे। निस्संदेह, भारतेंदु ने अपने व्याख्यान में साफ़ तौर पर यह रेखांकित किया था कि वर्तमान संदर्भ में धर्मनीति को समाजनीति से अलहदा रूप में समझना होगा। इसके बावजूद, अगर एक ओर भारतेंदु और उनके समकालीन सामाजिक बदलाव के मुखर समर्थक थे, जैसा कि उनके द्वारा रचित साहित्य से बार-बार साबित होता है, तो दूसरी ओर रोज़मर्रा की ज़िंदगी में उनका रवैया अक्सर उनके घोषित विश्वासों के ख़िलाफ़ जाता था और यह भी उसी साहित्य से पता चलता है। सामाजिक वास्तविकता के ऐतिहासिक पुनर्निर्माण के लिए इस शुरुआती हिंदी साहित्य के मूल्य को पहचानने वाले पहले विचारक सुधीर चंद्र थे। उन्होंने 'समकालीन साहित्य के विश्लेषण के ज़रिये औपनिवेशिक चेतना की छानबीन' की (1984a: 145)। अपने निबंधों में, जो सत्तर के दशक के मध्य से छपने शुरू हुए, उन्होंने गहन विश्लेषण के लिए तीन सूचकों का चुनाव कियाः समाज सुधार, मुस्लिम प्रश्न और औपनिवेशिक जुड़ाव। इन मुद्दों को जिन अंतर्विरोधपूर्ण तरीक़ों से हल करने की कोशिश की गयी थी, उनके सुधीर चंद्र द्वारा किये गये संवेदनशील अध्ययन ने उस पद्धति की बुनियाद

रखी जिससे सामाजिक इतिहासलेखन के लिए शुरुआती हिंदी साहित्य का मूल्यांकनपरक उपयोग किया जा सकता है। इसके बाद से संबंधित लेखक के कामों को किसी एक या दूसरे रवैये में न्यूनीकृत करके देखना आसान नहीं रह गया। यानी अब आराम से उस पर सांप्रदायिक या राष्ट्रवादी, परंपरावादी या आधुनिक, औपनिवेशिक सत्ता का चापलूस या मुख़ालिफ़ की चिप्पी चस्पां नहीं की जा सकती। इसी बिंदु से आगे बढ़ना और इन दुचित्तेपनों, प्रधानतः हिंदू-मुस्लिम अलगाव तथा औपनिवेशिक प्रश्न के दायरे में मौजूद दुचित्तेपनों से सरोकार रखना वर्तमान अध्ययन का लक्ष्य है। यह देखना भी इसका लक्ष्य है कि क्या यह बता पाना मुमकिन है कि कब अर्थ के स्तर बदलते हैं या एक दूसरे को काटते हुए प्रकटतः प्रतीत होते हैं।

इस तरह, मिसाल के लिए, निम्नोक्त क़िस्म के एक विश्लेषण को, जो इस मायने में अनमोल है कि वह अर्थ के फ़र्क़ों की चीड़-फाड़ करता है, दो अवधारणाओं की ओर संकेत करने वाले समान पद के सहअस्तित्व की और अधिक पड़ताल के लिए दुबारा लिया जा सकता है। तनाव 'हिंदू' अवधारणा में निहित अंतर्विरोध के इर्द-गिर्द घूमता है। बलिया व्याख्यान के इस विश्लेषण में सुधीर चंद्र 'हिंदू' पद को अपनी उत्पत्ति में सांप्रदायिक मानते हैं। इसके अर्थ का जो विस्तार इसे राष्ट्रीय क्षेत्र को दख़ल और हस्तगत करने की ओर ले गया, उसे वे एक बाद की चीज़ के तौर पर देखते हैं (1984b: 11-12)।

> भारतेंदु की पीढ़ी के लिए, शायद उचित ही, उभरती हुई राष्ट्रीय चेतना और जारी रहने वाली सांप्रदायिक पहचानों के बीच कोई बुनियादी अंतर्विरोध न था। वे राष्ट्रवाद की परिकल्पना एक उच्चतम बिंदु और निष्ठाओं के एक पुंज के रूप में करते थे (15)।

यहां यह मान लिया गया है कि जारी रहने वाली सांप्रदायिक पहचानें पारंपरिक थीं। पर इस पद की कम-से-कम तीन प्रयुक्तियां मिलती हैं और, जैसा कि मैं पीछे दिखला पायी हूं, पहली, प्राक्-औपनिवेशिक, इलाक़ाई प्रयुक्ति तीसरी या राष्ट्रवादी प्रयुक्ति के साथ सबसे नज़दीकी समानता रखती है। लेकिन, राष्ट्रवादी अनुप्रयोग में इस पद का राजनैतिकीकरण हुआ है, साथ ही, उसमें सांस्कृतिक और ऐतिहासिक एकता निर्मित करने की एक सचेत कोशिश भी है। यह साफ़ है कि इस राजनैतिक पहलू और सचेत कोशिश को पहली प्रयुक्ति में अंतर्निहित मानना असंगत होगा। हालांकि उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दशकों में देश के लिए, समस्त उपमहाद्वीप के लिए, और अनुमानतः अंग्रेज़ी अधीनता वाले पूरे हिंदुस्तान के लिए, एक अभिधान के रूप में 'भारतवर्ष' प्रयुक्त होता दिखता है, पर हिंदुस्तान के लोगों के लिए 'भारतीय' शब्द इस समय तक प्रचलन में नहीं आया है। 'हिंदू' से ही हिंदुस्तान के लागों का भी बोध कराया जाता है। आगे मुस्लिम भाइयों के साथ जिस गठबंधन की कोशिशें हुईं, उसे बहुरंगी प्रकृति इसी चीज़ ने सौंपी। इससे समझा जा सकता है कि आज की तारीख़ में वह क्यों संभ्रमित करने की स्थिति में है। इन तीन प्रयुक्तियों को हम तब अलगा सकते हैं जब यह स्पष्ट हो जाये कि उनका प्रयोग किस संदर्भ में हो रहा है। मुसलमानों के साथ अपनी-अपनी नज़दीकी या दूरी संबोध्यों पर निर्भर रहती है। जब हिंदुओं को आंतरिक एकजुटता बनाने के लिए कहा जाता है, तब प्रायः मुसलमानों को अन्य की भूमिका सौंप दी जाती है। यानी, दूसरी प्रयुक्ति, धार्मिक अभिधान वाली, सबसे अधिक हावी है। अपने समकालीन पुनर्प्रचलन में, जहां उपमहाद्वीप के हिंदुओं को एक एकाश्मक धड़े के तौर पर देखा जाता है, तो यह कोई पारंपरिक प्रयुक्ति नहीं है, बल्कि आधुनिक है। जब मुद्दा आर्थिक राष्ट्रवाद का हो और

औपनिवेशिक स्वामियों को संबोधित किया जा रहा हो, तब हिंदू तीसरे या राष्ट्रवादी अर्थ में प्रयुक्त होता है, और इसमें मुसलमान भी शामिल होते हैं। अगर उस दौर का राष्ट्रवाद शुरुआती है, तो सांप्रदायिकता भी शुरुआती है, क्योंकि सांप्रदायिकता राष्ट्रवाद के विकास के साथ असंदिग्ध रूप से नत्थी है। क्रमशः हिंदुओं का और मुसलमानों का देशव्यापी समुदाय, जो सांप्रदायिक सोच का आधार तैयार करता है, राष्ट्र की अवधारणा के वजूद में आने के बाद ही मुमकिन और मानीख़ेज़ हो सकता था। इस तरह हिंदू की दूसरी और तीसरी, दोनों प्रयुक्तियां, जो आपस में घुल-मिलने और ओवरलैप करने को तत्पर रहती हैं, तीसरे या आधुनिकतावादी मुहावरे का एक हिस्सा हैं।

अंग्रेज़ों के साथ रिश्ते में दुचित्तापन भी इसी वजह से है। बलिया व्याख्यान में तकनीकी उपलब्धियों तथा पश्चिमी शिक्षा द्वारा लाये गये लोकतांत्रिक विचारों के लिए अंग्रेज़ों की तारीफ़ तो की गयी थी, पर साथ-साथ उपनिवेश क़ायम करने वालों के रूप में उनकी भूमिका को लेकर तनाव भी वहां बहुत स्पष्ट और मुखर थे। एक ओर, आर्थिक शोषण की लगातार चर्चा है, जो उस समय तक काफ़ी स्पष्ट हो चला था, और दूसरी ओर, अंग्रेज़ों के नस्ली नकचढ़ेपन से पैदा हुआ विद्वेष है - जिसके चलते 'हम ग़रीब गंदे काले आदमी' जैसी अभिव्यक्तियां दिखलायी पड़ती हैं। उनकी उपलब्धियों के लिए की गयी तारीफ़ को, औपनिवेशिक शक्ति के ख़िलाफ़ जो राष्ट्रवादी नाराज़गी है, उससे अलग रखने की ज़रूरत है। ज्ञान पांडे ने, अंग्रेज़ों पर 'असाधारण प्रशस्तियों' और 'प्रशंसा के स्तोत्रों' की बारिश के आधार पर, अंग्रेज़ों के साथ भारतेंदु के रिश्ते का उनकी 'असंदिग्ध राजभक्ति' के रूप में जो आकलन किया है, वह वृत्त को पूरा करने जैसा है (1990: 217)। शुरुआती जीवनीकारों ने अंग्रेज़ों के प्रति भारतेंदु की राजभक्ति पर ज़ोर दिया था, और उनके मूल्यांकन के हिसाब से यह राजभक्ति उपयुक्त और दुरुस्त थी। रामविलास शर्मा का अनुगमन करते हुए ऐसे आलोचनात्मक अध्ययनों की एक बाढ़-सी आयी जिन्होंने भारतेंदु में ब्रिटिश राज की सिर्फ़ आमूलचूल आलोचना देखी। पांडे एक बार फिर उन्हें राजभक्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं, हालांकि उनका आकलन स्पष्टतः नकारात्मक स्वर में है और इस रूप में शुरुआती जीवनीकारों के मूल्यांकन से मतभेद रखता है। भारतेंदु को 'अधिक-से-अधिक एक ढुलमुल राष्ट्रवादी...' (218) की श्रेणी में रखना उतना ही जल्दबाज़ी भरा लगता है। यह एक तथ्य है कि उस चरण में स्वराज का कोई विज़न नहीं था, इसलिए उस पूरे दौर का ही राष्ट्रवाद ढुलमुल था।[33]

भारतेंदु और उनके कामों का आलोचनात्मक मूल्यांकन एक छोर से दूसरे छोर की ओर जाता रहा है; उन पर पुनरुत्थानवादी होने का आरोप लगाने से लेकर उन्हें आधुनिकता के पुरोधा के रूप में सराहने तक, राजभक्त बताने से लेकर आमूल-परिवर्तनवादी बताने तक, हालांकि रामविलास शर्मा के बाद से आधुनिकता के अग्रदूत की भूमिका में उन्हें स्थिर करने की ओर एक निश्चित झुकाव रहा है। यह भूमिका साहित्यिक उत्पादन में भी देखी गयी है और उस राजनीतिक हैसियत में भी जो उन्हें प्राप्त थी।[34] उनके काम के पारंपरिक पहलुओं पर विचार करने का कोई ढांचा प्रकटतः उपलब्ध नहीं है, सिवाय उस ढांचे के जो पुनरुत्थानवादी के नकारात्मक अभिप्राय वाले 'टैग' ने मुहैया कराया है।

यहां एक बार फिर गुहा द्वारा प्रस्तावित वह राजनीतिक ढांचा एक विभेदमूलक विश्लेषण की संभावना उपलब्ध कराता प्रतीत होता है, जो अंग्रेज़ों की मौजूदगी और उनके मुहावरे के प्रति सहमति तथा सहकार के साथ-साथ प्रतिरोध और उच्छेदन (सबवर्शन) को भी देखने का अवसर देता है। अलबत्ता, आगे के विश्लेषण में मैं तीन मुहावरों से आच्छादित इस क्षेत्र को राजनीतिक/राष्ट्रवादी तक सीमित नहीं रखूंगी,

जैसा कि मूल रूप में गुहा का विचार है। इसकी बजाय, मेरी प्रयुक्तियां सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक को शामिल करेंगी, क्योंकि, जैसा कि मैं आगे दिखला पाने की उम्मीद करती हूं, कोई ऐसा क्षेत्र नहीं था जो अंग्रेज़ों के साथ की लेन-देन से अछूता रहा हो। इस मुठभेड़ से निकलने वाले तीसरे मुहावरे की सबसे अधिक समानता आधुनिकतावादी के साथ दिखती है, जिसका एक प्रभावी पक्ष राष्ट्रवादी ने निर्मित किया, लेकिन उसे पूरी तरह परिव्याप्त न करते हुए। इसके अलावा, यहां दूसरे मुहावरे, इस दौर में ठोस आकार लेने वाले क्लासिकी भारतीय मुहावरे, को किसी प्रदत्त के रूप में नहीं देखा जायेगा, बल्कि इस अध्ययन का एक लक्ष्य यह भी होगा, जहां मुमकिन हो, वहां इस बात का विश्लेषण करना और इस पर ज़ोर देना कि कैसे यह मुहावरा ख़ुद उन परंपराओं और पाठों से गृहीत था जो भारतेंदु और उनके साथियों को विरासत में मिले थे।

हिंदी और हिंदू जिस रूप में उन्नीसवीं सदी में संघटित हुए, उसकी पूर्व-परंपरा को, प्राक्-औपनिवेशिक परंपराओं के साथ उनकी निरंतरता की प्रकृति को, साथ ही नव्यतर अवधारणाओं के साथ उनके संबंध-सूत्र को तलाशने से पहले मैं उस प्राधिकार - सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक - के मुद्दे पर विचार करूंगी जिसने इस तीसरे मुहावरे के सृजन और वैधीकरण को मुमकिन किया। आने वाले अध्यायों में मैं प्रभुत्व की नयी संरचनाओं के साथ पुरानी संरचनाओं के उस सघन अंतर्गुम्फन और कार्यप्रणाली की समीक्षा करूंगी, जो काशी की प्राचीन नगरी, उसके महाराजाओं, पुरोहितों और व्यापारियों की महिमा और सांस्कृतिक प्रभाव को नये ढंग से उभारने में संलग्न थी।

अनुवाद : संजीव कुमार

टिप्पणियां

1. *नवोदित हरिश्चंद्रचंद्रिका* (11. 3 दिसंबर 1884) में यह हिंदी का पाठ इस अंग्रेज़ी शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ थाः 'हाउ कैन इंडिया बी रिफ़ॉर्म्ड'। यह भारतेंदु की पत्रिका थी, जिसे सात वर्षों के अंतराल के बाद उन्होंने हाल ही में अपने प्रबंधन में वापस लेते हुए दुबारा खड़ा किया था। इस भाषण का पाठ कई बार छपा है, लेकिन सबसे सहूलियत के साथ इसे *ग्रंथावली* के खंड 3 में (889-903) में पाया जा सकता है।

   भारतेंदु की कृतियां सबसे पहले रामदीन सिंह द्वारा संकलित और प्रकाशित की गयी थींः *हरिश्चंद्रकला,* 6 खंड, बांकीपुर, 1888। यह लंबे समय तक छापे में उपलब्ध नहीं रही। मानक संस्करण ब्रजरत्नदास और शिवप्रसाद मिश्र के संपादन में निकलाः *भारतेंदु ग्रंथावली,* 3 खंड, बनारस। बाद में, उन तीन खंडों की सामग्री के साथ-साथ कुछ अतिरिक्त सामग्री को मिला कर एक ज़िल्द में निकाला गयाः *भारतेंदु समग्र,* संपादक - हेमंत शर्मा, बनारस, 1987। तीनों रचनावलियां कमोबेश चुनी हुई रचनाओं की तरह हैंः पत्रिकाओं में प्रकाशित चीज़ों का एक बड़ा हिस्सा अभी भी अनुपलब्ध है।

   इस अध्ययन में मैंने *ग्रंथावली* से ही उद्धरण दिये हैं। *समग्र* की मदद सिर्फ़ वहीं ली है जहां संबद्ध सामग्री *ग्रंथावली* में नहीं है।

2. मत शब्द का इस्तेमाल भारतेंदु ने थोड़े ढीले-ढाले अर्थों में किया है। वे इसे संप्रदाय के अर्थ में भी इस्तेमाल करते हैं, जिसमें छिटके हुए समूह वाला आशय निहित है, और वे *हिंदूमत* की भी बात करते हैं (जैसे *ग्रंथावली 3* में 'वैष्णवता और भारतवर्ष' में; पृ. 801) जिसमें हिंदू धर्म को एकरूप समष्टि मानने वाला आशय निहित है। मत, वाद, दर्शन, मार्ग, धर्म आदि पद उपमहाद्वीप की प्राक्-आधुनिक परंपराओं में जिन रूपों में इस्तेमाल किये गये, उनके लिए देखें, स्टीटनक्रोन (1993:125f.)।
3. स्टोक्स द्वारा उद्धृत ([1959] 1982: 269)। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज़ों के राजनीतिक रवैये और प्रशासनिक तौर-तरीक़ों पर स्टोक्स आज भी अधिकारी विद्वान हैं। आगे के विवरणों में उनकी कृति से मदद ली गयी है।

4. *इंडिया* (1888: 359-60), स्टोक्स द्वारा उद्धृत (284-5)।
5. *हिंदी की उन्नति पर व्याख्यान* (1877) में। यह *समग्र* (228-30) में उपलब्ध है। अध्याय चार में इस पर विस्तार से विचार हुआ है।
6. देखें, शुरुआती राष्ट्रवादी लेखन पर सुदीप्त कविराज की यह दुरुस्त टिप्पणी :

   ...ये लेखक इन सीमाओं के भीतर इसलिए नहीं बने रहते कि वे अंग्रेज़ी राज को पसंद करते हैं। कुछ मायनों में, उपनिवेश क़ायम करने वाली एक पश्चिमी बुद्धिवादी सभ्यता को लेकर उनकी नामंज़ूरी बाद के राष्ट्रवादियों के मुक़ाबले प्रायः ज़्यादा गहरी और बुनियादी है; लेकिन वे औपनिवेशिक पराधीनता के ख़ात्मे को ऐतिहासिक रूप से एक संभव परियोजना के रूप में देखते ही नहीं। उनके लिए अपने युग का ऐतिहासिक प्रश्न, जिसके गिर्द समस्त सामाजिक चिंतन चक्कर काटता था, यह था कि किस तरह इतने वैविध्यपूर्ण संसाधनों से संपन्न एक सभ्यता उपनिवेशवाद के अधीन हो गयी? लेकिन यह प्रश्न इस प्रश्न से अलग था कि किस तरह इस अधीनता को राजनीतिक तौर पर ख़त्म किया जा सकता है। पद्धतिगत रूप से, यह याद रखना ज़रूरी है कि वे इस दूसरे सवाल का नकारात्मक उत्तर नहीं दे रहे; यह सवाल उनके विमर्श के भीतर पूछा ही नहीं गया है (1992क: 6)।

   दरअसल, इस मुक़ाम पर शुरुआती राष्ट्रवादी और अंग्रेज़ साम्राज्यवादी, दोनों अंग्रेज़ी राज के स्थायित्व में यक़ीन करते थे। ब्रिटिश रवैये के एक संवेदनशील अध्ययन के लिए, जिसमें उस दौर के पत्रों, डायरियों और उपन्यासों का विस्तृत विश्लेषण है, देखें, हचिन्सन्स, *द इल्यूज़न्स ऑफ़ परमनेंसः ब्रिटिश इंपीरियलिज़्म इन इंडिया* (1967)।
7. कोह्न ([1983] 1990: 166) द्वारा उद्धृत।
8. उद्धृत, कोह्न ([1983] 1990: 192)
9. देशी प्रेस द्वारा तैयार किया गया सार्वजनिक वृत्त और भारतेंदु की दो पत्रिकाओं की भूमिका पर अध्याय 5 में विस्तार से विचार किया जायेगा।
10. इस पद के भूराजनीतिक अर्थ के बारे में आगे की सूचनाएं मुखर्जी (1976) के लेख पर आधारित हैं। अल-बरूनी का हवाला ई. सचाऊ के *अलबरूनी'ज़ इंडिया* (1: 198) में पाया जा सकता है; अकबर के शासन-काल पर सूचनाएं एच. एम. इलियट और जे. डाउसन के *द हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया ऐज़ टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियंस* (5: 186) में, निज़ामुद्दीन अहमद बख़्शी के *तबाक़त-ई-अकबरी* में मिलती हैं। मुखर्जी (1976: 186, 190) में उद्धृत।
11. मुखर्जी (1976: 195) में उद्धृत।
12. मिसाल के लिए, मराठी कवि एकनाथ (1533-99) द्वारा लिखित भारुद (छंदों में संवाद वाली एक विधा), *हिंदू तुर्क संवाद* में इस पद का इस्तेमाल; देखें, ज़ेलिओट (1982)। या प्रायः एक सदी बाद हिंदू राजा के रूप में अपना राज्याभिषेक कराने का शिवाजी का फ़ैसला। गॉर्डन (1993: 87) के अुनसार, इस काम का कोई परा-प्रादेशिक महत्व उतना नहीं था जितना कि आंतरिक राजनीतिक महत्व। यह स्थानीय जागीदारों के ऊपर अपनी सत्ता स्थापित करने का उपक्रम था। शिवाजी के राजकवि भूषण के काव्य में, विशेष कर उनके संकलन *शिवराज भूषण* में (जो कि 1667-73 के बीच लिखा गया था और *भूषण ग्रंथावली* में उपलब्ध है), इस बात के पर्याप्त संकेत मौजूद हैं कि हिंदू-तुर्क के विरोध को राजनीतिक रूप में भी देखा जाता था, क्योंकि शिवाजी इनमें स्पष्टतः हिंदुओं के रक्षक के रूप में चित्रित किये गये हैं।

    ओ' कॉनेल ने पुरातन बंगाली गौड़ीय पाठों का जो सर्वेक्षण किया है, उसके अनुसार, 'हिंदू' पद वहीं इस्तेमाल होता था जहां यह आवश्यक जान पड़ता था कि जो इस समूह के अंदर माने जाते हैं और जो साफ़-साफ़ बाहरी हैं (मुसलमान), उनके बीच एक सीमा-रेखा खींची जाये। आम तौर पर ऐसा करने का अवसर अनुष्ठानों के प्रसंग में ही उपस्थित होता था। ओ' कॉनेल के अनुसार, हिंदू धर्म 'रस्मी या आनुष्ठानिक क़िस्म की कुछ क्रियाओं की ओर संकेत करता प्रतीत होता है जिन्हें करने का अधिकार हिंदुओं और सिर्फ़ हिंदुओं को है। लेकिन सर्वेक्षण में आये हुए किसी भी पाठ में इस बात पर कोई स्पष्ट विचार-विमर्श नहीं मिलता कि ''हिंदू'' या ''हिंदू धर्म'' के मायने क्या हैं' (1973: 340)।

लेकिन इस तथ्य के बावजूद, कि 'हिंदू' एक धार्मिक नाम के रूप में इस्तेमाल होता था, उपलब्ध साक्ष्यों से ऐसा साफ़ प्रतीत होता है कि यह सामूहिक आत्म-प्रेक्षण या किसी उपमहाद्वीपीय स्तर के निरूपण के लिए इस्तेमाल होने वाला पद नहीं था।

13. 'हिंदू' पद के संबंध में यूरोपीय ग़लतफ़हमियों पर देखें, स्टीटेनक्रॉन (1989), उसके पहले के निबंधों (1988: 130ff) को भी देखें।
14. कॉफ़्फ़ (1969) की किताब भारत के आधुनिकीकरण में ब्रिटिश प्राच्यवादियों की भूमिका पर सबसे शुरुआती विनिबंध है, हालांकि अपने आकलन में यह ग़ैर-आलोचनात्मक रूप से उत्साही है। केजरीवाल (1988) की किताब भारतीय अतीत की खोज में एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल के योगदान का अधिक संतुलित, यद्यपि उतना ही ग़ैर-आलोचनात्मक, लेखा-जोखा है।

    इस तरह के प्रशंसात्मक मूल्यांकन की विपरीत धुरी सईद के *ओरिएंटलिज़्म* ([1978] 1985) के प्रकाशन के द्वारा निर्मित होनी थी। उसने मध्यपूर्वी/अरबी प्रसंग में प्राच्यवादी उद्यम की थोक भाव से जो भर्त्सना की, उसका ही अनुपालन इंडेन (1986, 1990) ने किया है। उसने हिंदुस्तान में इंडोलोजी और ऐंथ्रोपॉलोजी के अकादमिक अनुशासनों के लिए वही कार्यभार अपने हाथ में लिया, यानी ज्ञानमीमांसात्मक बुनियादों के गोपन का कार्यभार। सईद के अनैतिहासिक और अभेदपरक उपागम के लिए देखें डालमिया-लुडरिट्ज़ (1993) जिसमें सईद के अभिग्रहण पर और सामग्री है, सईद और इंडेन, जो कि अपने प्राविधिक उपकरणों के चुनाव में अधिक सर्वसंचयवादी है, की संयुक्त आलोचना के लिए देखें, अहमद (1991b)।

    प्राच्यवादी प्रयास का एक संतुलित आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन होना अभी भी बाक़ी है। उसे आगामी विद्वज्जनों के उद्यम का इंतज़ार है।
15. भारत में मुस्लिम शासन संबंधी ब्रिटिश इतिहासलेखन के विषय का अब तक का जो सबसे विस्तृत और प्रांजल अध्ययन है, उसके लिए देखें, ग्रेवाल (1970)।
16. अलबत्ता, 'हिंदू' पद को उन्नीसवीं सदी में बिलाशर्त स्वीकृति नहीं मिली। सनातनता के बिल्कुल आरंभिक पक्षधरों में से एक, विष्णुबावा ब्रह्मचारी (1825-71) ने अपने मराठी लेखन में मलेच्छ स्रोतों से आने की बिना पर इस पद के इस्तेमाल से इंकार किया। अपने *वेदोक्तधर्मप्रकाश* (1859) में उन्होंने हिंदू धर्म के बजाय वेदोक्तधर्म की बात की। इसी तरह दयानंद सरस्वती ने भी हिंदू धर्म की जगह आर्यधर्म को तवज्जह दी। सदी का अंत आते-आते इन रूपभेदों को ख़त्म हो जाना था, साथ ही उन समुदायों के बीच की तकरारों और मुख़ालफ़तों को भी, जो एक हिंदू समुदाय का संघटन करने के लिए आगे आ रहे थे। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में मराठा लुटेरों के हाथों जो यातनाएं मिली थीं, उन्हें सफलतापूर्वक दमित किया जाना था, ताकि सिर्फ़ हिंदू-मुसलमान के विरोध-भाव की पेशबंदी हो सके। इस प्रक्रिया की ओर मेरा ध्यान खींचने के लिए मैं सुधीर चंद्र की आभारी हूं।
17. देखें, बिपन चंद्रा ([1966] 1969)।
18. पुराणों में भारतवर्ष के भूगोल और विश्वरचना के सारगर्भित संक्षिप्त विवरण के लिए देखें, रोसर (1986: 130-1)। जिस तरह यह विवाद का विषय है कि इसकी स्थलाकृति ठीक-ठीक क्या थी, उसी तरह यह भी कि इसके नाम की उत्पत्ति कैसे हुई, क्योंकि क्रमशः वेदों, ब्राह्मणों, महाकाव्यों और पुराणों में अलग-अलग जनों को भरत बताया गया है। इसके लिए देखें, मोहनचंद (1990: 195-205)। इस पर ज़ोर देना ज़रूरी है, क्योंकि भारतवर्ष की धारणा के ताक़तवर बने रहने के बावजूद उसके सुनिश्चित संदर्भ-बिंदु शताब्दियों के दौरान ख़ासे बदलते रहे हैं।
19. पुराण के खेमराज श्रीकृष्णदास वाले संस्करण का अध्याय 54 इसी विषय को समर्पित है।
20. गीता प्रेस के संस्करण में भाग 5, 9 में संकलित।
21. देखें, थापर, जो 'उपमहाद्वीपीय अस्मिता' की बात करती हैं (1989: 212)।
22. हरिश्चंद्रचंद्रिका (2/8, 1875) में लंबी किस्तों में प्रकाशित 'अष्टादश पुराण की उपक्रमणिका'। ग्रंथावली 3 में भी उपलब्ध (713-51)।

23. संभवतः 1884 में लिखा गया यह निबंध ग्रंथावली 3 में उपलब्ध है (789-802)। अध्याय 6 में इसका विस्तार से विश्लेषण हुआ है।
24. मलेच्छों के बारे में आगे की टिप्पणी थापर (1978: 152-92) पर आधारित है।
25. जैसा कि थापर ने दर्ज किया है (1978: 157), इसके परिणामस्वरूप जो मिश्रण सामने आया, उसमें सामान्यतः संकर जाति के तौर पर जाने गये सभी सामाजिक समूहों को निश्चित वर्ण का दर्जा नहीं दिया जा सका। हालांकि उन्हें शूद्र के पद पर रखा गया, पर उनमें से कई, जैसे अंबष्ठ, उग्र और निषाद, मलेच्छ के रूप में बाद में भी वर्णित होते रहे।
26. देखें, केमिलायनेन (1964)।
27. जर्मनी में इस विचार के विकास के ब्यौरों और भाषाई मानवशास्त्र के इस क्षेत्र में मैक्समुलर के विशेष योगदान के लिए देखें, डालमिया-लुड्रिट्ज़ (1987)।
28. इसीलिए हेनरी मेन, मैक्समुलर को प्रतिध्वनित करते हुए, कलकत्ता विश्वविद्यालय में 1866 में दिये गये अपने भाषण में हिंदुस्तानियों को यह सलाह दे सकते थे कि वे 'उस शानदार नियति को उसके सभी नतीजों के साथ स्वीकार करें, जिसने धरती के दूसरे छोर से मानवजाति के महानतम परिवार की युवतम शाखाओं में से एक को इस काम के लिए यहां ला पहुंचाया है कि वह वृद्धतम का पुनरुद्धार करे और उसे शिक्षित करे'। लियोपोल्ड (1974: 600) से उद्धृत।
29. उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी की शुरुआत में आर्य-विचार को लेकर राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया क्या थी, इसके विस्तृत विश्लेषण के लिए देखें, लियोपोल्ड (1970)।
30. अलबत्ता, व्याख्यान में आये हुए कुछ रूखे वक्तव्य पाठक को इस दिशा में बहका सकते हैं कि वह उन्हें भारतेंदु के रवैये का कुल जमा मान ले। 'अगर हिंदुस्तानियों को अपने देश में तरक़्क़ी लाने के लिए काम करना चाहिए तो, जैसा कि भारतेंदु कहते हैं, उन्हें उसी तर्क से अपनी भाषा में तरक़्क़ी लाने के लिए भी काम करना चाहिए। आश्चर्यजनक तरीक़े से इस शब्द - 'भाषा' - पर ज़ोर नहीं दिया गया है; शायद वे ऐसा महसूस करते हैं कि उनके अपने उत्तर भारतीय लोग अभी तक भाषाविषयक उनके संदेश को सुनने के लिए तैयार नहीं हैं' (मैक्ग्रेगर, 1991: 100)। परंतु, निज भाषा का समर्थन करने का परामर्श कोई अचानक आया हुआ विचार नहीं है, बल्कि यह हिंदी के लिए ताज़िंदगी चलाये गये अभियान का चरम बिंदु उपस्थित करता वक्तव्य है।
31. मदन गोपाल द्वारा अंग्रेज़ी में लिखी गयी जीवनी (1985), जिसमें पहले के एक काम (1972) की सामग्री को भी ले लिया गया है, मुख्यतः इन तीन जीवनियों पर आधारित है, हालांकि उसमें स्रोतों का हवाल नहीं दिया गया है।
32. रामविलास शर्मा के कामों के नये संस्करण संशोधित और अद्यतन हैं। हिंदू पुनरुत्थानवाद की बहस एक स्वातंत्र्योत्तर परिघटना है, और यह स्पष्टतः पहले के आकलन के साथ बाद में जोड़ी गयी चीज़ है। लेकिन, रामविलास शर्मा के उपागम को स्वतंत्रता-पूर्व और -उत्तर में बांट कर देखने की बजाय संपूर्णता में ही उस पर विचार करना व्यावहारिक है, क्योंकि उसमें एक दृष्टिगत निरंतरता बनी रही है।
33. हम सिर्फ़ बलिया व्याख्यान से 'भारतेंदु के काम की संपूर्णता' निकाल नहीं सकते; हरिश्चंद्र के विचारों, और उनके सहकर्मियों तथा समकालीनों के विचारों में हुए विकासों को उस दौर की पत्रिकाओं और पुस्तिकाओं में संरक्षित साक्ष्यों की नये सिरे से छानबीन करते हुए मूल्यांकित करना होगा।
34. मिसाल के लिए, शंभुनाथ और अशोक जोशी (1986) द्वारा संपादित पुस्तक के ज़्यादातर लेखों का आशय ऐसा ही है।

'अंधेरे में' : अस्मिता और आत्मनिर्वासन के प्रश्न

चंचल चौहान

वर्ष 2014 मुक्तिबोध की पुण्यतिथि और 'अंधेरे में' कविता की रचना के पचास साल के रूप में देश के विभिन्न हिस्सों में मनाया गया। अनेक आयोजन हुए। इस कविता के विकृत अर्थ या अनर्थ भी किये गये, उसी तरह जैसे 1970 के दशक की शुरुआत में नामी आलोचकों तक ने किये थे। उन्हीं के साथ वैचारिक असहमति रखते हुए तर्कसंगत तरीक़े से पहली बार 'अंधेरे में' पर चंचल चौहान का एक लेख जनकवि विजेंद्र के संपादकत्व में भरतपुर से निकलने वाली पत्रिका 'ओर' में 1972 में छपा था। यहां उसी लेख को इस अवसर पर पुनर्प्रकाशित करते हुए हम गजानन माधव मुक्तिबोध और उनकी रचना को स्मरण कर रहे हैं। —संजीव कुमार

याद रखो
कभी अकेले में मुक्ति न मिलती
यदि वह है तो सबके ही साथ है।

—मुक्तिबोध

पश्चिम के क्षयग्रस्त पूंजीवाद ने वहां के बुद्धिजीवियों के सामने जिस बोध को प्रस्तुत किया, उसमें अस्मिता के लोप और आत्मनिर्वासन की विशेष चर्चा हुई है। ये समस्याएं पूंजीवादी सभ्यता की समस्याएं हैं और उसी के अंतर्विरोधों से जन्मी हैं। जिस प्रकार फ्रायड को मानव की मूलवृत्ति, 'लिबिडो', उसकी अर्द्ध सामंती चेतना ने सुझायी थी, उसी प्रकार युंग की अवधारणा, 'जिजीविषा' की मूलवृत्ति का आधार पूंजीवाद में देखा सकता है। अस्तित्ववाद की प्रबलता का कारण भी पतनोन्मुख पूंजीवादी व्यवस्था में देखा जा सकता है। यही कारण है कि इन विचारों की धारा पिछले पांच दशकों की कृतियों में अत्यधिक मुखर हुई है। बुद्धिजीवियों को ज़िंदगी 'वेस्टलैंड' लगने लगी और आदमी 'आउट साइडर'। उन्हें 'नदी के द्वीप' या 'उछली हुई मछली' बनकर अपनी 'अस्मिता' बचाने की छटपटाहट होने लगी। अपने को 'भीड़' से ऊपर रखने की व्यक्तिवादी प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ने लगी। भीड़ से अलगाव आत्मनिर्वासन में बदल गया।

यह प्रवृत्ति स्पष्ट तौर पर प्रतिक्रियावादी थी। सामूहिकता के विरुद्ध गढ़े गये नारे मध्यवर्गीय व्यक्तिवादिता को आकर्षक लगे, फलस्वरूप ऐसे लेखकों ने अपने को 'भीड़' में शामिल करना 'आत्महत्या' समझा। मुक्तिबोध आधुनिकता के नाम पर की गयी इस साज़िश को समझ चुके थे। उन्होंने लिखा कि उच्च वर्ग 'इस समय साहित्य में ऐसे विचारों का प्रचार करना चाहता है जिनके द्वारा हमारा साहित्यिक व्यक्ति अनुभूत वास्तवों की पाशविकता और अमानवीयता पर परदा डाल दे, और वह जनता की ओर उन्मुख न हो।' (*रचनावली*-4, पृ. 156) मुक्तिबोध का इशारा 'अस्मिता की खोज' और

'आत्मनिर्वासन' की थीम की ओर है जैसा कि उनके उदाहरणों से स्पष्ट है। वे कहते हैं कि 'नये कवि को सामूहिकता से चिढ़ है' क्योंकि 'पश्चिमी विचार-पत्र उसे वैसा ही सिखाते हैं। उसे सिखाया गया है कि सचेत आत्मनिर्णीत विवेकपरक संकल्प से शून्य होकर व्यक्ति अपने को समूह में विलीन कर देता है, इसलिए हे जागरूक सचेत महानुभाव, तुम अपने को समूह में विलीन मत करो। दूसरों शब्दों में, जनता समूह है—वह अज्ञ है, अंधकारग्रस्त है, वह जल्दी ही भीड़ बन जाती है। उसका साथ मत दो। तुम सचेत व्यक्तिशाली प्राण केंद्र हो। उसमें अपने आपको विलीन मत करो।' (वही, पृ. 156) इस व्यंग्य-शैली में वे आत्ममुग्ध नये कवि को बताते हैं कि 'अपने अंतिम निष्कर्ष में यह विचारधारा अत्यंत प्रतिक्रियावादी है, वह जन के प्रति घृणा पर आधारित है, और बुद्धिजीवियों को जनता से अलग करने का उपाय है।'(वही, पृ. 157) मुक्तिबोध ने इस घृणित व्यक्तिवादी विचारधारा को नष्ट करने की आवाज़ उठायी। उन्होंने अपनी कई कविताओं में ऐसे काव्यनायकों की सृष्टि की है जो प्रारंभ में निःसंग, अस्तित्ववादी और आत्मनिर्वासित होते हैं, किंतु कविता के अंत तक उनका 'व्यक्तित्वांतर' हो जाता है। 'व्यक्तितत्वांतर' (डिक्लास) की प्रक्रिया 'अंधेरे में' में अपनी पूर्ण कलात्मकता के साथ प्रस्तुत हुई है।

डॉ. नामवर सिंह ने 'अंधेरे में' के विषय में [illegible] लिखा कि इस कविता की 'अंतिम पंक्तियां उस **अस्मिता** या 'आइडेन्टिटी' की खोज की ओर संकेत करती हैं जो आधुनिक मानव की सबसे ज्वलंत समस्या है। निस्संदेह इस कविता का मूल कथ्य है **अस्मिता की खोज**।' सत्य यह है कि मुक्तिबोध की किसी की कविता का मूल कथ्य 'अस्मिता की खोज' नहीं है बल्कि उनके काव्य का संवेदनात्मक उद्देश्य है—अस्मिता का विलय, 'व्यक्तित्वांतर', सर्वहारावर्ग में अपनी मध्यवर्गीय **अस्मिता का विलय**। अस्मिता की फ़िक्र तो उस समय अज्ञेय जैसे व्यक्तिवादियों को लगी हुई थी, जो 'बना दे चितेरे' में चित्रकार से अपेक्षा करता है कि 'पहले सागर आंक' यानी जन-जीवन और 'सागर आंक कर फिर आंक एक उछली हुई मछली/ऊपर अधर में।' जन-समुद्र से अलग और ऊपर अज्ञेय का वाचक 'अपनी इयत्ता की सारी आकुल तड़प के साथ उछली हुई मछली/एक अकेली मछली' की तरह चित्रित होना चाहता है। 'अज्ञेय' की यह 'आकुल तड़प' **अस्मिता की खोज** की तड़प है, महामानव बनने की तड़प। लेकिन उनमें यह वैज्ञानिक दृष्टि नहीं कि 'उछली हुई मछली' की अस्मिता महाशून्य में संभव नहीं, उसे जन-समुद्र में गिरना ही होगा। मुक्तिबोध इस यथार्थ को जानते हैं। उन्होंने अपनी एक अन्य कविता में 'मछली' की जगह वाचक का सिर उछाला :

> कि कंधे से अचानक सिर कटा और
> उड़ गया, ग़ायब हुआ (जो शून्य यात्रा में स्वगत कहता
> अरे! कब तक रहोगे आप अपनी ओट!)
>
> (*रचनावली*-2, पृ. 233-34)

अस्मिता की खोज में रत तथा 'आप आपनी ओट' रहने के ख़्वाब में मस्त मध्यवर्ग के 'टीले' को वे सलाह देते हैं :

> मेरी सलाह है—
> लुढ़को

पूर्ण-विनाश और अनस्तित्व उनका
तुम्हारे निजत्व का चरम विकास है
इसलिए, ओ दृषद-आत्मन्
कट जाओ, टूट जाओ (*रचनावली*-2, पृ. 420)

लुढ़कने, कट जाने, टूट जाने का अर्थ है—मध्यवर्गीय अस्मिता का विलय जो कि 'निजत्व का चरम विकास है', इसी का दूसरा नाम 'व्यक्तित्वांतर' है। वे चाहते हैं कि शोषित मध्यवर्गीय व्यक्ति को अपनी मिथ्याचेतना छोड़ कर सर्वहारावर्ग में अपनी अस्मिता का विलय कर देना चाहिए। मार्क्सवादी वैज्ञानिक दृष्टि के अभाव के कारण वह अंधेरे में है। जीवनानुभवों के दबाव के कारण वह अपने को 'डिक्लास' करने की प्रक्रिया में डाल देता है। 'अंधेरे में' कविता अपनी नाटकीयता और कलात्मकता के साथ ऐसे ही मध्यवर्गीय वाचक के 'व्यक्तित्वांतर' की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया की कहानी है।

'अंधेरे में' का वाचक, कविता के प्रारंभ में, अपनी अस्मिता को बचाये रखने वाला आत्मनिर्वासित मध्यवर्गीय आदमी है। वह अपनी अस्मिता को विलुप्त नहीं करना चाहता, लेकिन ज़िंदगी के अंतर्विरोध और यथार्थ की चोट उसे किसी एक दिशा की ओर धकेलती है। अपनी सही स्थिति के प्रति उसका अज्ञान या मिथ्या चेतना ही वह अंधकार है जो उसे आत्मनिर्वासित किये हुए है। क्या यह एक अनुभूत सत्य नहीं है कि निम्नमध्यवर्ग पर भी आर्थिक संकट, शोषण की मार और दैनिक आवश्यकताओं की आपूर्त्ति में कमी की चोट पड़ रही है? उसे सर्वहारा के साथ क़दम से क़दम मिलाकर चलने में शर्म क्यों आती है? उसके अपने ढुलमुलपन के कारण उसका मोहभंग शनैः शनैः होता है। उसे उसकी अस्मिता और व्यक्तिवादिता तथा आत्मनिर्वासन की बुरी लत शोषितों की कतार में खड़ा नहीं होने देती। तब आत्मसंघर्ष होता है। यह संघर्ष अज्ञान और ज्ञान के बीच, अंधेरे और प्रकाश के बीच, वैयक्तिकता और सामूहिकता के बीच होता है। उसका अनुभवजन्य विवेक भीतर गुहार करता है, 'तमसो मा ज्योतिर्गमय'; उसकी व्यक्तिवादिता कहती है कि 'पुनर्मूषको भव', व्यक्तित्वातंर में क्या रखा है!!

'अंधेरे में' कविता की संरचना इन्हीं विरुद्धों के आधार पर हुई है। ध्यान से देखें तो वह 'अंधेरे में' से 'प्रकाश' की ओर, व्यक्ति से समूह की ओर, अस्मिता से आत्मविलय की ओर, स्वात्म से निःस्वात्म की ओर, **आत्मनिर्वासन** से **आत्मविस्तार** की ओर, और 'मैं' से 'हम' की ओर यात्रा करती है। इसका विकास इन्हीं विरुद्धों के कारण हुआ है। विरुद्धों के बिना विकास नहीं होता। कविता के भीतर पैठकर देखें कि यह विकास कैसे हुआ है?

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है : 'अंधेरे में' का वाचक आरंभ में आत्मनिर्वासित है, क्योंकि वह अपनी खोजी हुई अस्मिता को अकेले में सुरक्षित रखे हुए है। यह उसका अज्ञान है, इसलिए वह अंधकार में है। कविता का आरंभ 'ज़िंदगी के/कमरों में अंधेरे' से होता है। वह शोषित है, इसलिए उसे अपनी संवेदना के कारण अवचेतन में 'फटेहाल रूप' शोषित वर्ग की पदचाप सुनायी देती है लेकिन वह रूप दिखायी नहीं देता—'वह नहीं दीखता/नहीं ही दीखता'। वाचक उससे, अपनी आंतरिक मजबूरी के कारण, संवेदनात्मक संबंध जोड़ने को विवश होता है, अतः वह उसे जानने के लिए उत्सुक होता है :

...मेरे हृदय की धक्-धक्
पूछती है—वह कौन
सुनायी जो देता, पर नहीं देता दिखायी (*रचनावली*-2, पृ. 321)

'हृदय की धक् धक्' ज्ञानात्मक-संवेदन के रूप में उस 'कोई एक' को देखना भी चाहती है। वाचक को अपने अपरिपक्व अनुभाव ज्ञान के आधार पर 'वह' का रूप 'कोई अनजानी अनपहचानी आकृति' के रूप में दिखायी देता है, इसीलिए अगली उत्सुकता होती है :

कौन वह दिखायी जो देता, पर
नहीं जाना जाता है!!
कौन मनु? (वही, पृ. 321)

'नहीं देता दिखायी' और 'दिखायी जो देता' का यह पैराडाक्स अनायास नहीं है। 'विवेक-प्रक्रिया, क्रियागत-परिणाति' की ये प्रारंभिक सीढ़ियां है जो पहले सिर्फ़ सुनायी देता था, अब दिखायी भी देने लगता है, लेकिन पहचाना नहीं जाता। वाचक को वह 'मनु' के रूप में दिखता है। 'मनु' सफ़ेदपोश 'पेटी बुर्जुआ' का प्रतीक है, वाचक की अपनी दृष्टि आरोपित होकर 'वह' को अपने वर्ग (मध्यवर्ग) के आदमी के रूप में पहचान पाती है। इसीलिए, शुरू में 'वह सलिल के तम-श्याम शीशे में कोई **श्वेत आकृति'** के रूप में पहचाना जाता है। लेकिन यह पहचान ग़लत है इसलिए वह 'मुसकाता है/पहचान बताता है/किंतु है हत्प्रभ/ नहीं वह समझ में आता।' समझ में न आ पाने की वह मजबूरी अंधेरे के कारण है। सिर्फ़ संवेदना से तो वह समझ में नहीं आ सकता, उसके लिए ज्ञान के प्रकाश की ज़रूरत होती है। जब अनुभवजन्य यथार्थ चेतना का प्रकाश दमक जाता है तभी 'वह' की पहचान हो जाती है। वेदनानुभूति की बिजलियां कौंध जाती हैं और वाचक अपने परिवेश का आभास पा लेता है :

तलाब के आस पास, अंधेरे में वन वृक्ष
चमक चमक उठते हैं हरे हरे अचानक
वृक्षों के शीश पर नाच-नाच उठती है **बिजलियां**
.....
घुसती है **लाल लाल मशाल** अजीब सी
अंतराल विवर के तम में
लाल लाल कुहरा
कुहरे में, सामने, रक्तालोक-स्नात-पुरुष एक (वही, पृ. 322)

कविता के प्रारंभ के 'अंधेरे' से 'लाल लाल मशाल' के प्रकाश बिंब तक की यात्रा अर्थहीन नहीं है। संवेदनात्मक-ज्ञान का स्फुरण और उसका विकास इन बिंबों से प्रतीकित हुआ है। मध्यवर्गीय वाचक का दिमाग़ी गुहा-अंधकार और अनुभूतिजन्य वैज्ञानिक दृष्टि से उसे अपने आसपास का अपना शोषित वर्ग दिखायी दे सकता है। 'रक्तालोक स्नात पुरुष' उसी शोषित सर्वहारा वर्ग का प्रतीक है। मुक्तिबोध की एक अन्य रचना 'भूल-ग़लती' में भी उसका चित्र खींचा गया है :

पहने हथकड़ी वह एक ऊंचा क़द
समूचे जिस्म पर लत्तर
झलकते **लाल लंबे दाग़**
बहते खून के। (रचनावली- 2, पृ. 390)

'अंधेरे में' का वाचक इस सर्वहारा का 'संभावित स्नेह सा प्रिय रूप देखकर/विलक्षण शंका' की स्थिति में पड़ जाता है। वह 'संदेह' करता है क्योंकि 'विवेक प्रक्रिया' में संदेह का एक रोल होता है। वह चिनगारी के समान होता है, ज्ञान की 'लाल लाल मशाल' उसी से जलती है। तभी वाचक 'रक्तालोक-स्नात-पुरुष' को पहचान कर, कलात्मक रूप से, इस तरह व्याख्यायित कर देता है :

वह रहस्यमय व्यक्ति
अब तक न पायी गयी मेरी अभिव्यक्ति है
पूर्ण अवस्था वह
निज संभावनाओं, निहित प्रभावों, प्रतिमाओं के
मेरे परिपूर्ण का आविर्भाव
हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव वह
आत्मा की प्रतिमा। (वही, पृ. 322)

इस खंड में 'अभिव्यक्ति' शब्द को, जहां तक मैं समझता हूं, आलोचकों ने ठीक रूप से व्याख्यायित नहीं किया है। इसे अधिकतर 'काव्यभिव्यक्ति' मानकर 'अंधेरे में' को 'कविता के बारे में कविता' क़रार दे दिया है। दरअसल, यहां प्रयुक्त 'अभिव्यक्ति' शब्द स्थूल के लिए सूक्ष्म बिंब के रूप में प्रयुक्त हुआ है। मुक्तिबोध ने कई रचनाओं में ऐसे प्रयोग किये हैं। उदाहरण के लिए उनकी 'भूल-ग़लती' कविता को फिर देखा जा सकता है। 'भूल-ग़लती' को मानवीकृत कर दिया गया है :

भूल-ग़लती
आज बैठी है जिरह बख़्तर पहनकर
तख़्त पर दिल के (वही, पृ. 390)

और इसी प्रकार प्रौलीतेरियत को सूक्ष्म बिंब 'ईमान' से चित्रित किया गया है :

पहने हथकड़ी वह एक ऊंचा क़द
वह क़ैद कर लाया गया ईमान (वही, पृ. 390)

'ईमान' की तरह ही 'अंधेरे में' की 'अभिव्यक्ति' भी शाब्दिक न होकर प्रतीकात्मक है। कोश के अनुसार भी 'अभि=आसपास, साथ का + व्यक्ति = आदमी' ; यानी, आसपास का या साथ का जन, जो 'जगत की गलियों में घूमता है प्रतिपल/वह फटेहाल रूप।' मुक्तिबोध प्रायः शब्दों के ऐसे नव्य प्रयोग किया करते थे। उन्होने *एक साहित्यिक की डायरी* में इसी तरह 'अद्वितीय' शब्द को नया अर्थ दिया—'अकेले' और इस प्रकार 'अकेलेपन और आत्मनिर्वासन' का राग अलापने वाले नये कवियों पर क़रारे व्यंग्य किये। मेरा विचार है कि 'अभिव्यक्ति' भी नये अर्थ-अनुषंग से भरी हुई है। उन्होंने उसे 'पूर्ण अवस्था' 'परिपूर्ण का आविर्भाव' और 'आत्मा की प्रतिमा' भी कहा है। वस्तुतः ये सब शोषित वर्ग के रूप में 'रहस्मय पुरुष' के सूक्ष्म बिंब है। मुक्तिबोध की 'पूर्ण अवस्था', दरअसल, 'आत्मनिर्वासन' की विलोम है, उसका अर्थ है व्यक्तित्व का समूह यानी अपने वर्ग में विलय, जैसे बूंद समुद्र में मिलकर ही अपनी पूर्ण अवस्था प्राप्त करती है। विलय ही 'परिपूर्ण का आविर्भाव' है। मध्यवर्गीय वाचक भी शोषित है, इसीलिए शोषितवर्ग का प्रतीक 'वह' पुरुष उसकी 'आत्मा की प्रतिमा' है वह उसके जीवन का नग्न सत्य है। मुक्तिबोध ने 'अभिव्यक्ति' की हुलिया तथा उससे संबंधित प्रश्न यहां दिये भी हैं। (वही, पृ. 322-23) इससे यह बात

और अधिक स्पष्ट हो जाती है कि 'अभिव्यक्ति' का यह प्रयोग प्रतीक रूप में सर्वहारा के लिए हुआ है।

मध्यवर्गीय वाचक जब इस सत्य को समझ लेता है कि उसे अपने परिवेश में दिखने वाले ग़रीब वर्ग यानी 'रक्तालोक स्नात पुरुष' को देखना समझना चाहिए, तो वह अपने को वर्गापसरित (Declass) करने की प्रक्रिया ('क्रियागत परिणति') में डाल पाता है। यह संवेदनात्मक ज्ञान की 'लाल लाल मशाल' से ही संभव हो सका है, परंतु इस ज्ञान की मशाल सुविधा और प्रलोभन की हवा से बुझायी भी जा सकती है :

इसलिए बाहर के गुंजान
जंगलों से आती हुई हवा ने
फूंक मार एकाएक मशाल ही बुझा दी
कि मुझको यों अंधेरे में पकड़कर
मौत की सज़ा दी (वही, पृ. 323)

'अंधेरे में' का यह प्रथमखंड मध्यवर्गीय वाचक के वर्गापसरण की प्रक्रिया की प्रारंभिक अनुभूति को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करता है। यह अवस्था अस्थायी थी, वह 'शंका' और 'संदेह' से संचालित थी, इसलिए जंगली व्यवस्था के प्रलोभन काम कर गये। इसका परिणाम यह होता है कि वाचक को परिणति की प्रक्रिया में अवरोध नज़र आता है। प्रकाश से, वह कुछ समय के लिए, फिर अंधेरे में आ जाता है :

किसी शून्य बिंदु के **अंधियारे खड्डे में**
गिरा दिया गया मैं
अचेतन स्थिति में (वही, पृ. 323)

इसीलिए कविता का दूसरा खंड फिर 'सूनापन' और 'अंधेरे में' की सैटिंग से शुरू होता है 'सूनापन सिहरा/अंधेरे में ध्वनियों के बुलबुले उभरे'। परंतु वाचक में एक हल्का परिवर्तन हो चुका होता है। पहले जहां 'रहस्यमय व्यक्ति' अपनी 'पहचान बताता' था, अब वाचक उसके द्वारा बजायी गयी सांकल के खटकने पर उसे स्वयमेव पहचान लेता है :

विमन प्रतीक्षातुर कुहरे में घिरा हुआ
द्युतिमय मुख-वह भरा चेहरा
भोला भाला भाव
पहचानता हूं बाहर जो खड़ा है (वही, पृ. 323)

वाचक अब उस चेहरे को पहचान लेता है यद्यपि 'मैं' स्वयं अंधेरे में है लेकिन 'वह' द्युतिमुख है। मुक्तिबोध ने प्रकाश के बिंबो को सावधानीपूर्वक रहस्यमय पुरुष से जोड़ा है :

अरे, उसके चेहरे पर खिलती हैं **सुबहें**
गालों पर चट्टानी **चमक** पठार की
आंखों में **किरणीली** शांति की लहरें (वही, पृ. 324)

वाचक अंतर्मन से उस वर्ग से मिलना चाहता है जो प्रकाशित है, जागरूक है। उसकी निजी कृत्रिम

परिस्थितियां (वर्ग-चरित्र) उसके मार्ग में बाधा बनती हैं। 'शक्ति ही नहीं है कि उठ सकूं ज़रा भी'। इसीलिए वह 'कतराता रहता' है। कविता के इस अंश में चित्रित आत्मसंघर्ष अनूठा है। निर्णय-अनिर्णय, आशा-हताशा, आत्मविश्वास-आत्मपराजय के तनावों के बीच जीकर वह इस निर्णय पर पहुंचा है :

नहीं, नहीं, उसको मैं छोड़ नहीं सकूंगा
सहना पड़े मुझे चाहे जो भले ही। (वही, पृ. 325)

इस निर्णय को क्रियान्वित करने के लिए अशक्त वाचक उठता है। 'वह' के प्रति इतना भर संवेदन उसके भीतर संवेदनात्मक ज्ञान जागृत कर देता है :

आत्मा में भीषण
सत्-चित्-वेदना जल उठी, दहकी।
विचार हो गये विचरण-सहचर। (वही, पृ. 325)

इस 'वेदना' और 'विचार' को लेकर ही मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी अपना वर्गापसरण कर सकता है; तभी वह शोषणमुक्त और सुखी हो सकता है। 'रात की पंक्षी' वाचक को इसी तथ्य का संकेत देता है कि उसे अपने शोषित वर्ग में मिल चाना चाहिए :

उसको तू खोज अब
उसका तू शोध कर! (वही, पृ. 326)

इस कविता का तीसरा खंड उससे पूर्व के दो खंडों की तरह, 'अंधेरे में' से प्रारंभ नहीं होता है। यह बिंब-योजना आकस्मिक नहीं है। 'अंधेरे में ध्वनियों के बुलबुलों' ने वाचक को एक ज्ञान-रश्मि दे दी है। इसीलिए तीसरे खंड के प्रारंभ में ही एक हल्का प्रकाश है :

समझ न पाया कि चल रहा स्वप्न या
जागृति शुरू है।
दिया जल रहा है,
पीतालोक-प्रसार में काल गल रहा है।

यह 'पीतालोक-प्रसार' संवेदनात्मक ज्ञान का पहला चरण है। इस ज्ञान ने वाचक के भीतर 'स्वात्म' और 'निःस्वात्म' के बीच संघर्ष छेड़ दिया। वह आत्मनिर्वासित अपने कमरे में पड़ा है; मगर 'आंखें खुली हुई हैं।' उसके सामने प्रश्न है कि क्या अकेले में उसका कोई अस्मिता है?

सलेट-पट्टी पर खींची गयी तसवीर
भूत जैसी आकृति—
क्या वह मैं हूं?
मैं हूं? (वही, पृ. 326-27)

ये प्रश्न किसी अस्तित्ववादी दार्शनिक को अस्तित्ववाद से प्रेरित प्रतीत हो सकते हैं, किंतु है उल्टा। ये प्रश्न अस्तित्ववाद को चुनौती देते हैं। अस्तित्ववादी दर्शन के अनुसार व्यक्ति अकेला ही पैदा हुआ है और अकेलेपन से अभिशप्त है। यदि वह अपना विलय भीड़ में कर देता है तो अपना अस्तित्व खो बैठता

है। मुक्तिबोध की उक्त पंक्तियों की 'आइरनी' में वाचक के प्रश्नों का उत्तर छिपा है, अकेले में अस्मिता को सुरक्षित समझने वाले व्यक्तिवादियों को ज्ञान होना चाहिए कि व्यक्ति रूप में उनकी कोई अस्मिता नहीं है और न हो सकती है, वह वर्ग या समूह का एक अंश होता है अतः उसका अस्तित्व सामूहिकता में है, अकेले में नहीं। मुक्तिबोध ने अन्यत्र कहा है—'मेरा अपना ख़याल है (बहुत से लोग इसे नहीं मानेंगे) प्रत्येक आत्मचेतस् व्यक्ति को अपनी मुक्ति की खोज होती है और वह किसी व्यापकतर-सत्ता में **विलीन होने में ही** अपनी सार्थकता समझता है।' 'अंधेरे में' का आत्मचेतस् वाचक महसूस करता है कि अकेले में वह न होने के बराबर है—'स्लेट पट्टी पर खींची गयी तस्वीर' जैसा उसका अस्तित्व है। यही बोध उसे शोषित समाज की 'व्यापकतर सत्ता' की ओर बढ़ाता है। इस संदर्भ में मुक्तिबोध का लेख 'साहित्य में सामूहिक भावना' (*रचनावली*-5, पृ. 37-40) भी दृष्टव्य है। लेख के अंत में उन्होंने कहा है; 'हमारे साहित्य और दर्शन, कला और विज्ञान में सामूहिक भावना का प्रभाव भरना ही हमारे विकास की दिशा है। तभी आत्मा का ताल सामाजिक लय में लीन होगा, और सामाजिक लय आत्मा के ताल में चलेगी। (वही, पृ. 40)

'इस चौड़े ऊंचे टीले पर' कविता में भी मध्यवर्गीय वाचक के सामने आरंभ में अस्मिता की समस्या है। वहां उस का रूप क्या है?

पत्थर का बुत
अपना जड़ीभूत सिर ताने खड़ा हुआ है!! (*रचनावली*-2, पृ. 375)

वहां भी 'रहस्यमय पुरुष' उसे 'डिक्लास' करने की प्रक्रिया में डालता है। वाचक अपनी अस्मिता को रखने की कोशिश में महसूस करता है :

मैं ज़िंदा हूं
मैं हूं
'आइ एग्ज़िस्ट'
साबित सही सलामत (वही, पृ. 376)

लेकिन आख़िर यह ज़िंदापन या अस्मिता किसकी है—पत्थर के बुत की। यही इस अस्मिता की आयरनी है। इसी कविता में जब वाचक रहस्यमय पुरुष से पूछता है, 'क्या हूं, क्यों हूं, कैसे हूं यह सब बताइए' तो इसका सत्यवेधी उत्तर मिलता है :

तुम क्या हो, कैसे हो, क्यों हो
इसका उत्तर
टीन के कनस्तर ही देंगे। (वही, पृ. 379)

'अंधेरे में' कविता में इन प्रश्नों का उत्तर अल्पतम शब्दों में, 'भूत जैसी आकृति' से संकेतित कर दिया गया है। वाचक के व्यक्तित्व के समाजीकरण की प्रक्रिया इस प्रश्न के तुरंत बाद शुरू हो जाती है। इसे संकेतित करने के लिए मुक्तिबोध ने दो ध्वनिबिंबों का सृजन किया है : एक, 'दूर जंगल में सियारों का हो-हो' और दूसरा, 'पास पास आती हुई घहराती गूंजती किसी रेलगाड़ी के पहियों की आवाज़।' क्या ये बिब अर्थहीन हैं? सामाजिक जंगल में 'हो-हो' (To be, to exist) की आवाज़ करने वाले सियार

अस्मिताखोजी सामूहिकता-विरोधी तत्व हैं; राजनैतिक शब्दावली में प्रतिक्रियावादी लोग हैं; रेलगाड़ी गत्यात्मक सामूहिकता का प्रतीक है इसीलिए 'सियारों का हो-हो' का वह ऐंटीथीसिस है। वाचक अंतर्मन से कहीं न कहीं सामूहिकता से जुड़ चुका है, इसीलिए उसे चिंता हो जाती है कि 'कहीं कोई रेल एक्सीडेंट न हो जाय' और तभी उसे 'चिंता के गणित अंक/असामानी-सलेट पट्टी पर चमकते/खिड़की से दिखते हैं।' वैयक्तिकता की गुंजलक से छूटकर सामाजिकता का अहसास व्यक्तित्वांतरण की पहली सीढ़ी है। इस अहसास के साथ ही वाचक को ताल्स्ताय दीख जाते हैं।

ताल्सताय क्यों दिखे? मध्यवर्गीय व्यक्ति अपने को एक झटके में 'डिक्लास' कभी नहीं कर पाता है उसे पहले 'स्वानुभूत आदर्श, फिर 'विवेक प्रक्रिया' से गुज़रना पड़ता है, तब 'क्रियागत परिणति' की अवस्था आती है। वैयक्तिकता की कुंडली से निकलकर वह पहले कलाकार का काल्पनिक आदर्शवाद अपनाता है। ताल्सताय इसी आदर्शवाद के प्रतीक हैं। हालांकि उन्होंने अपने आदर्शवाद के हठ में मार्क्सवाद की भी आलोचना की थी फिर भी वे यथार्थ की जमीन को देखते रहे, इसीलिए वे 'सितारों के बीच-बीच घूमते व रुकते पृथ्वी को देखते' (वही, पृ. 327)। सामाजिकता की आदर्शवादी यूटोपिया का सर्जक कलाकार अपने व्यक्ति-केंद्र से अलग नहीं हो पाता। इसीलिए वाचक में 'किसी भीतरी धागे का आख़िरी छोर' के रूप में निजत्व का मोह अटका हुआ है। वही, केंद्रीय संवेदन 'दबी हाय हाय-नुमा' और इसीलिए 'शायद ताल्सताय नुमा' है। ताल्सताय ने विवेक (Reason) के बजाय भावनाओं को महत्व दिया, मगर यथार्थ को फिर भी प्रतिबिंबित किया। धरती पर क्या हो रहा है इसका आभास भी होना ज़रूरी है। वही ज्ञान या विवेक-प्रक्रिया उसे परिणति की ओर ले जायेगी।

आदर्शवाद की स्थिति के तुरंत बाद उसका ऐंटीथिसिस—यथार्थवाद सामने आ जाता है। 'निस्तब्ध नगर के मध्य रात्रि-अंधेरे में सुनसान प्रोसेशन' आज का यथार्थ है। परदे के पीछे होने वाला गोलमाल समझ में आते ही आदमी बदलने लगता है। जनता को छलने वाले षड्यंत्रकारियों का विचित्र 'प्रोसेशन' वाचक को दीख जाता है। 'शोषण-पाप का परंपरा-क्रम' जिन आंखों को दीख जाता है, उनकी 'अस्मिता की खोज' का 'दबी हाय-हाय नुमा' केंद्रीय कष्ट विलुप्त हो जाता है। इसीलिए इस कविता का वाचक जहां इस खंड के आरंभ में 'समझ न पाया कि चल रहा स्वप्न या जागृति शुरू है', वहां इस 'सांवले जुलूस' को देखकर वह अपनी हालत का अहसास कर लेता है :

सब सोये हुए है।
लेकिन, मैं जाग रहा देख रहा
रोमांचकारी वह जादुई करामात!! (*रचनावली*-2, पृ. 328)

जीवन के सत्य और परिवेश के यथार्थ की पकड़ 'संवेदनात्मक ज्ञान' के बिना संभव नहीं है। वाचक अपने को समाजीकरण की प्रक्रिया में डालकर यह ज्ञान अर्जित करता है। इस ज्ञान के सहारे 'जाग रहा देख रहा' वाचक पूरे शोषकवर्ग को नंगा देख रहा होता है। 'विचित्र प्रोसेशन' शोषकवर्ग के लोगों का है। उसमें 'मंत्री भी, उद्योगपति और विद्वान'—ब्यूरोक्रेट्स, पूंजीपति और बुद्धिजीवी—सब चल रहे हैं। वाचक उनके 'भीतर का राक्षसी स्वार्थ' और उनके 'छिपे हुए उद्देश्य' अब आसानी से जान पा रहा है। इस दृश्य को देखकर उसका संवेदनात्मक ज्ञान और तीव्र होता है :

'विचारों की फिरकी/**सिर** में घूमती है (वही, पृ. 330)

पूंजीवादी वर्ग नये विचारों की इस फिरकी को समाप्त करना चाहता है। उसे वाचक से ख़तरा महसूस होता है। वे लोग जान जाते हैं :

आधी रात अंधेरे में उसने
देख लिया हमको
व जान गया वह सब
मार डालो, उसको ख़त्म करो एकदम (वही, पृ. 330)

यहां अपरिणत वाचक की जिजीविषा उसे भागने को मजबूर करती है। अब तक आत्मनिर्वासित, अकेला रहकर वह अपनी अस्मिता को बचा रहा था, लेकिन अब तो अकेले में भी वह नहीं बचती :

हाय, हाय! मैंने उन्हें देख लिया नंगा,
इसकी मुझे और सज़ा मिलेगी। (वही, पृ. 331)

'विचित्र प्रोसेशन' से वाचक का संवेदनात्मक ज्ञान और अधिक बढ़ जाता है। यही विवेक-प्रक्रिया है जो क्रियागत परिणति की ओर वाचक को धकेलती है। इसी अनुपात में वाचक का ज्ञानात्मक संवेदन भी बढ़ना चाहिए। सिर्फ़ विचारों की फिरकी सिर में घूमने से काम नहीं चलता। संवेदन को प्रायः हृदय से जोड़ा जाता है, जैसे ज्ञान को 'मस्तिष्क' या 'सिर' शब्द से। वाचक का दिल अभी मज़बूत नहीं हुआ है। उसकी पूर्णावस्था तो व्यक्तित्वांतर के बाद ही संभव है। इस कविता का चौथा खंड 'दिल' की ट्रैजिडी को लेकर शुरू हुआ है :

अकस्मात्
चार गजर कहीं खड़का
मेरा **दिल** धड़का

काले-काले शहतीर छत के
हृदय दबोचते
.....
किंतु न शरीर में बल है
अंधेरे में गल रहा **दिल** यह (वही, पृ. 331)

लेकिन यह कमज़ोरी उसे 'व्यापकतर सत्ता' में विलीन होने को बाध्य करती है। वह जुझारू वर्ग से अपना तादात्म्य करके उस षड्यंत्र से ('मारो गोली, दागो स्साले को एकदम') से मुक्ति पा सकता है। उसे अपनी अस्मिता का नहीं पूरे 'जग का भान' (विश्वदृष्टि) होना चाहिए। समझ के विकास के साथ यह प्रक्रिया भी आगे बढ़ती है :

एकाएक मुझे **भान होता है जग का**
...
किसी जन-क्रांति के दमन निमित्त यह/मार्शल-लॉ है। (वही, पृ. 331)

इस विश्वदृष्टि और परिवेश की सही पहचान के साथ ही 'संवेदनात्मक ज्ञान' और 'ज्ञानात्मक संवेदन' एकाकार हो जाते हैं :

> **बुद्धि** की मेरी रग रग
> गिनती है समय की **धक्-धक्** (वही, पृ. 331)

अपनी अस्मिता बचाने के चक्कर में, 'भागता मैं। दम छोड़/घूम गया कई मोड़।' इसी भागने की प्रक्रिया में वह विवेक हासिल करता है। 'कई मोड़' जीवन के मोड़ हैं जिनमें से होकर मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी गुज़रता है। इसी दौड़ के दौरान वाचक को वैज्ञानिक सामाजिक दृष्टि यानी मार्क्सवाद का **वट-वृक्ष** दीख जाता है :

> दीखता है सामने ही अंधकार-स्तूप-सा
> भयंकर बरगद—
> सभी उपेक्षितों, समस्त वंचितों
> ग़रीबों का वही घर, वही छत। (वही, पृ. 332)

यहां दो प्रश्न उठ सकते हैं, वह 'वट-वृक्ष' वैज्ञानिक विश्वदृष्टि या मार्क्सवाद का ही प्रतीक क्यों है और यदि है तो 'अंधकार स्तूप-सा भयंकर' क्यों है? इसका प्रमाण हैं मुक्तिबोध की निम्न पंक्तियां जो इस प्रतीक को समझने में हमारी मदद करती है :

> ... आपसी फुसफुसाहटों में यह तर्क आविष्कृत किया गया कि जो कवि अपनी आकुल मूल्यात्मक संवेदनाओं द्वारा **प्रगतिवाद के वट-वृक्ष की छाया में पहुंचना चाहता है** वहां उस 'प्रगतिवादी-सिद्धांत-व्यवस्था द्वारा अथवा प्रगतिवादी नेताओं के प्रभाव से उसकी काव्यश्री फीकी पड़कर समाप्त हो जाती है।

मुक्तिबोध ने 'प्रगतिवाद' की जो व्याख्या 1942 में अपने एक लेख में की थी, उसमें प्रगतिवाद, दर असल, मार्क्सवाद का ही पर्याय था। (दृष्टव्य *रचनावली*-5, पृ. 28-30)

उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि मुक्तिबोध का आवर्त्ती प्रतीक 'वट', 'अक्षय वट', 'बरगद' मार्क्सवाद का ही प्रतीक है, क्योंकि 'सभी उपेक्षितों, समस्त वंचितों' को वही सामर्थ्य देता है। लेकिन सुविधाजीवी मध्यवर्गीय व्यक्ति को यह मार्क्सवाद प्रारंभ में 'भयंकर' लगता है क्योंकि उसके साथ 'लाल क्रांति' का स्वप्न जुड़ा रहता है। मुक्तिबोध भी आम मध्यवर्ग के लेखकों की तरह स्वयं कभी इसी विचारधारा को विरोधी शक्ति मानते थे जैसा कि उन्होंने *तार सप्तक* के वक्तव्य में कहा भी था। अपरिणत वाचक को यह भयंकर लगता है, किंतु संवेदनात्मक स्तर पर समस्त उपेक्षितों और समस्त वंचितों व ग़रीबों से जब वह जुड़ जाता है तब 'बरगद' भयंकर नहीं लगता। यह निकटता तब पैदा होती है जब 'बरगद' के नीचे रहने वाला 'सिरफिरा जन' - वही वर्गहारा 'गा रहा कोई पद, कोई गान/आत्मोद्बोधमय'। तब वाचक भी उस बरगद के पास आ जाता है :

> 'मैं इस **बरगद के पास** खड़ा हूं।' (*रचनावली*-2, पृ. 334)

अब यह बरगद भयंकर नहीं है। बल्कि वह 'बरगद-पात' से ही अपनी परिणति के संकेत पाता है :

....ऊपर से गिरकर
कन्धे पर बैठ गया **बरगद-पात** एक
क्या वह संकेत, क्या वह इशारा?

'बरगद' के नीचे पागल के गीत ने वाचक की 'चैन भुला दी', 'डिक्लास' होने की प्रक्रिया में तीव्रता आ गयी। 'अंधेरे में' कविता की प्राणशक्ति यही गीत है :

अपने ही ख़यालों में दिन-रात रहना
असंग बुद्धि व अकेले में सहना
ज़िंदगी निष्क्रिय बन गयी तलघर
....
विवेक बघार डाला स्वार्थों के तेल में
आदर्श खा गये
अब तक क्या किया!
जीवन क्या जिया!!
ज़्यादा लिया और दिया बहुत-बहुत कम
मर गया देश, अरे, जीवित रह गये तुम' (वही, पृ. 332-333)

मध्यवर्गीय वाचक को इस गीत ने झकझोर दिया। आख़िर 'असंग बुद्धि व अकेले में' आत्मनिर्वासन का रोना रोने वाले और फिर भी जीवित रहकर अस्मिताखोजी मध्यवर्ग ने अब तक किया क्या? इस सवाल ने वाचक की आत्म-विलय की प्रक्रिया को और तेज़ कर दिया :

मेरा चेहरा
घुलता है जाने किस अथाह गंभीर,
सांवले जल में,
झुके हुए गुमसुम टूटे हुए घरों के
तिमिर अतल में
घुलता है मन यह (वही, पृ. 334)

वाचक के 'चेहरे' और 'मन' का घुलना आंशिक रूप से उसके स्वात्म के विलय का संकेत देता है। संवेदना से वह अपनी अस्मिता के विलय में सक्रिय है और अभी विवेक-प्रक्रिया के दौर से गुज़र रहा है। यहां यह विचारणीय है कि जैसे-जैसे वाचक इस प्रक्रिया से गुज़रता जाता है, वैसे-वैसे वह प्रकाश की ओर अग्रसर होता जाता है। कविता का प्रारंभ 'कमरों में अंधेरे' से हुआ था, तीसरे खंड में 'दिया जल रहा था', जिसके 'पीतालोक प्रसार में काल गल रहा' था, कविता के पांचवें खंड में 'दिया' का स्थान 'मणि तेजस्क्रिय रेडियो-ऐक्टिव रत्न' ले लेते हैं :

तिमिर को भेदकर चमकते हैं पत्थर
मणि, तेजस्क्रिय रेडियो-ऐक्टिव **रत्न** भी बिखरे
...
रत्नों की रंगीन रूपों की **आभा**

फूट निकलती
खोह की बेडौल भीतें हैं **झिलमिल** (वही, पृ. 336)

मुक्तिबोध ने प्रकाश के इन बिंबों को व्याख्यायित भी कर दिया है। वे वाचक के 'अनुभव, वेदना, विवेक-निष्कर्ष' और विचारों की 'रक्तिम-अग्नि के मणि' हैं। वे सारे के सारे विवेक-प्रक्रिया के आवश्यक अंग है।

बाह्य परिवेश में मार्शल-लॉ लगा हुआ है। क्रांति के दमन निमित्त व्यवस्था ने पूरी सतर्कता बरती हुई है। मध्यवर्गीय वाचक अपनी 'विवेक प्रक्रिया' के दौरान अभी भी अकेला है। फलस्वरूप, वह संघर्ष की इस घड़ी में अपने को धिक्कारता है। कविता का छठा खंड वाचक के आत्मालोचन से प्रारंभ होता है और तभी वह निर्णय ले लेता है :

यह न समय है
जूझना ही तय है (वही, पृ. 336)

'जूझने' का नाम लेते ही उसका व्यवस्था की दमनकारी शक्तियों से सामना होता है। ये शक्तियां हैं—सरकारी तंत्र (ब्यूरोक्रेसी) और पुलिस तथा सेना। वाचक इन तीनों शक्तियों को क्रांति के दमन के लिए तैनात पाता है। कविता के इस खंड में पुलिस और सेना को प्रत्यक्ष तौर पर तथा ब्यूरोक्रेसी को प्रतीक स्तर पर दर्शाया गया है। वाचक देखता है :

गुंबद-विवर में बैठे हुए बूढ़े
असंभव पक्षी
बहुत तेज़ नज़रों से देखते हैं सब ओर
मानो कि इरादे
भयानक चमकते। (वही, पृ. 337)

ये 'असंभव पक्षी' (उल्लू) मुक्तिबोध की कविताओं में हर जगह सरकारी अफ़सरशाही के लिए प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरण के लिए 'चांद का मुंह टेढ़ा है', 'डूबता चांद कब डूबेगा', 'बारह बजे रात के' आदि कविताएं देखी जा सकती हैं। 'डूबता चांद कब डूबेगा' कविता में लगभग ऐसा ही वर्णन है :

त्यागे मंदिर के अधटूटे गुम्बद पर स्थित
वीरान प्रदेशों का घुग्घू
चुपचाप, तेज़ देखता रहा (वही, पृ. 304)

दमन की दूसरी शक्ति, पुलिस भी 'गश्त में घूमती है'। 'भयानक सिपाही जाने किस थकी हुई झोंक में/अंधेरें में सुलगाता सिगरेट अचानक/तांबे से चेहरे की ऐंठ झलकती।' साथ ही दमनकारी शक्तियों का 'संगीन नोकों पर टिका हुआ सांवला बंदूक-जत्था' भी खड़ा है और 'एक ओर टैकों का दस्ता भी खड़े-खड़े ऊंघता' दिखायी देता है।

'जूझना' तय मानकर चलने वाला वाचक दुश्मन की शक्तियों का अनुमान रखता है। यह भी विवेक-प्रक्रिया का अंग है। इतने हथियारबंद तंत्र से वह अकेले और बिना रणनीति जाने टक्कर कैसे ले सकता है! उसे अभी और कुछ जानना है। उसे उनसे सीखना है जिन्होंने ऐसी शक्तियों से कभी टक्कर ली थी।

इसीलिए वाचक 'जादू से बंधा हुआ चल पड़ा उस ओर' जिधर तिलक की पाषाण मूर्ति खड़ी है। वाचक की तरह तिलक ने भी जूझना तय किया था। मुक्ति-संग्राम के क्रांतिकारी नेता तिलक ने स्वराज्य को जन्मसिद्ध अधिकार घोषित किया था। लेनिन ने 5 अगस्त, 1908 के 'प्रालीतेरी' पत्र के अंक में तिलक की भूमिका पर प्रकाश डाला था। तिलक ने भी 'रूसी नेता लेनिन' शीर्षक से *केसरी* नामक पत्र में नवंबर, 1917 में एक लेख लिखा था। वाचक जूझने से पहले यह ऐतिहासिक विवेक पाना चाहता है। बिना इस विवेक के वह अपने को सही रूप में परिणत नहीं कर सकता। देश की राजनीति का ज्ञान उसे होना चाहिए। तिलक की मूर्ति के सामने वाचक का पहुंचना इसी का संकेत देता है। तिलक की पाषाण-मूर्ति की नासिका से 'लाल-लाल गरमीला रक्त' टपकता है। वस्तुतः वह तिलक की मुक्तिकामना का स्वप्न है जो पूरा नहीं हुआ है। चिंता में उलझे तिलक को देखकर वाचक कह उठता है :

हाय हाय पित : पित : ओ,
चिंता में इतने न उलझो
हम अभी ज़िंदा हैं ज़िंदा (वही, पृ. 339)

तिलक की चिंता से वाचक को जन-मन उद्देश्य का अहसास तो होता है लेकिन उसे उद्देश्य की सफलता का रहस्य नहीं पता है। तिलक ने उस उद्देश्य का ज्ञान दे दिया। इस विवेक से उसका निजत्व और क्षीण हुआ : 'छीले जा रहा मेरा निजत्व कोई।' इसी छील-छाल के दौरान उसे तिलक के 'ऐंटीथीसिस' गांधीजी मिल जाते हैं। सफलता का रहस्य जानने के लिए वाचक उस 'देव' के सम्मुख भी 'अति दीन हो जाता है।' स्वाधीनता का श्रेय गांधीजी को मिला था। जनता ने गांधीजी का साथ दिया था। हमारी स्वाधीनता की अगुआई पूंजीपतिवर्ग के हाथ में थी, अतः वे सफल हो गये थे। वह दौर अब गुज़र गया है। जनवादी क्रांति तो गांधीजी से आगे की पीढ़ी को करनी है। अतः गांधीजी वाचक को बताते हैं :

हम हैं गुज़र गये ज़माने के चेहरे,
आगे तू बढ़ जा। (वही, पृ. 340)

लेकिन आगे बढ़ना इतना आसान नहीं। उसमें सफलता तभी मिल सकती है जब वाचक अपना आत्मनिर्वासित व्यक्तित्व जनता में विलीन कर दे। यह सत्य मार्क्सवादी सत्य है। गांधीजी इस सत्य को जानते थे, इसीलिए वे कहते हैं :

दुनिया न कचरे का ढेर कि जिस पर
दानों को चुगने चढ़ा हुआ कोई भी कुक्कट
कोई भी मुरग़ा
यदि बांग दे उठे ज़ोरदार
बन जाये मसीहा

स्पष्ट है कि जनता को कचरा समझकर उससे ऊपर उठकर कोई अस्मिता का खोजी मुर्ग़ा मसीहा नहीं बन सकता है। वह जनता का होकर ही कुछ हो सकता है। जनता को 'डार्क मासेज़' 'मॉब', 'दिमाग़ ख़राब' समझने वाले व्यक्तिवादी 'लकड़ी के रावणों' को ही 'भीड़' से नफ़रत होती है। वे मसीहा नहीं बन सकते, सिर्फ़ 'उछली हुई मछली' बनने का सपना भर देख सकते हैं। मार्क्स ने जनता की शक्ति

का उद्‌घाटन किया था और इतिहास की निर्माता शक्ति के रूप में उसका महत्व खोजा था। यह सत्य नया सत्य था। गांधीजी इस सत्य से अवगत थे क्योंकि उनकी सफलता का रहस्य भी यही था। वे वाचक को यह सत्य सौंप देते हैं :

मिट्टी के लोंदे में किरगीले कण-कण
गुण हैं
जनता के गुणों से भी संभव
भावी का उद्‌भव (वही, पृ. 341)

उक्त शब्द 'गंभीर शब्द' हैं; वे 'नये सत्य' के शब्द हैं। मुक्तिबोध ने इस सत्य को 'शिशु' के प्रतीक द्वारा चित्रित किया है। गांधीजी इस नवसत्य का 'शिशु' वाचक को सौंप देते हैं :

मेरे पास चुपचाप सोया हुआ यह था।
संभालना इसको, सुरक्षित रखना। (वही, पृ. 341)

कविता के पांचवें खंड तक वाचक अपने ही अनुभव-निष्कर्षों के सहारे भागदौड़ कर रहा था। राजनीतिक समझ उसे अब काफ़ी हद तक समाजीकृत कर देती है। वैयक्तिक अनुभव ही पर्याप्त नहीं होते। मार्क्स की वैज्ञानिक दृष्टि उसे सचेत करती है। उस नये सत्य के **शिशु** को लेकर वाचक आगे बढ़ता है :

सहसा रो उठा कंधे पर वह **शिशु**
अरे, अरे, वह स्वर अतिशय परिचित
पहले भी कई बार कहीं तो भी सुना था!! (वही, पृ. 341)

यह सत्य का **शिशु** गांधीजी के पास 'चुपचाप सोया हुआ था क्योंकि वह 'अहिंसा' के साथ जुड़ा हुआ था। अब वह सत्य सोया नहीं रह सकता। और 'चीखता है क्रोध से लगातार!!'

यहां एक प्रश्न उठ सकता है कि 'शिशु' का अर्थ 'नया सत्य' ही क्यों है, वह 'क्रांति' का, या 'भारत' का, या 'जनता' का प्रतीक क्यों नहीं (कई समीक्षकों ने इसे उक्त रूपों में व्याख्यायित भी किया है)। इसका उत्तर 'ब्रह्मराक्षस' के 'सजल उर शिष्य' मुक्तिबोध के 'समीकरणों का गणित' दे सकता है। उसे उनकी रचनाओं में ढूंढ़ा जा सकता है। 'अंधेरे में' के वाचक के लिए इस **शिशु** का वह 'स्वर अतिशय परिचित' है। मैं तो कहूंगा, मुक्तिबोध के साहित्य के पाठक के लिए भी यह स्वर अतिशय परिचित है। कवि ने इस 'शिशु' के जन्म की घोषणा *तार-सप्तक* में कर दी थी :

वह ज्ञान-लिप्सा-क्षितिज-सपना
रे वही तुझमें अनेकों स्वप्न देगा
औ, अनेकों **सत्य के शिशु**
नव-हृदय के गर्भ में द्रुत
आ चलेंगे। (*रचनावली*-1, पृ. 111)

'सत्य के शिशु' को मुक्तिबोध सदैव अपने साथ लिये रहे। *तार सप्तक* के दूसरे संस्करण में जोड़ी गयी कविता 'एक आत्म-वक्तव्य' में भी वह विद्यमान रहा :

गठरी में छिपा रखा निजी रेडियम
सिर पर टोकरी में
छिपाया है मैंने कोई यीशु
अपना कोई **शिशु** (*रचनावली*-2, पृ. 394)

यह शिशु 'डूबता चांद कब डूबेगा' कविता में वाचक को 'बहते झरने के तट' पर मिलता है :

बहते झरने के तट आया
देखा **बालक! अनुभव बालक!!** (वही, पृ. 305)

वह 'मेरे लोग' कविता में 'ज़िंदगी की कोख में जनमा/नया इस्पात' बनता है। 'एक अंतर्कथा' में 'ज्ञानात्मक संवेदन' रूपांतरित होकर 'नया सत्य' बन जाता है :

अजीब अनुभव है
सिर पर की टोकरी-विवर में **मानव-शिशु**
वह कोई सद्योजात
मृदुल-कर्कश स्वर में
रो रहा। (वही, पृ. 143)

'ओ काव्यात्मन फणिधर' कविता में वाचक अपनी नागात्मक कविताओं से कहता है :

चुपचाप अंधेरे में उतरो
...
यह तो है विचित्र बात
किसी ने आत्मज सद्योजात
वहां लाकर रक्खा, छोड़ा त्यागा—
शिशु रोता है ज़ोर शोर के साथ!! (वही, पृ. 180)

उक्त कविता का वाचक जानता है कि उस 'शिशु स्वर' से अर्गला टूटती है'; इसीलिए वह अपनी कविताओं से कहता है, 'वह **शिशु** आक्रोश जी चलो तुम अंधियारे में।' वह चाहता है कि नया सत्य श्रमिक-वर्ग के पास पहुंचा दिया जाये। श्रमिक जनता के स्तन्य से वह **शिशु** विकसित होगा :

धीमे चलके
शिशु उसके पास रखो धीरे हलके हलके
.....
श्रम-गरिमा का पी दूध
सत्य नवजात
विकसता जायेगा। (वही, पृ. 182)

उक्त पंक्तियां 'शिशु' के प्रतीकार्थ का उद्‌घाटन कर देती हैं। यही 'सत्य नव जात' अन्य सभी कविताओं का 'शिशु' है। हिंदी के मूर्धन्य आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने इसे अनुमान से 'दायित्व-बोध' का प्रतीक माना है। उनका यह तुक्का ठीक नहीं बैठा। अन्य आलोचकों ने 'क्रांति' या 'जनता' का प्रतीक बताया। मुक्तिबोध-काव्य को न समझने की हड़बड़ीपूर्ण नादानी का यह परिणाम है।

'ओ काव्यात्मन फणिधर' का 'सत्य नवजात' ही वह शिशु है, 'अंधेरे में' के वाचक को जिसका 'वह स्वर अतिशय परिचित!!! पहले भी कई बार कहीं तो भी सुना' हुआ प्रतीत होता है। **नये सत्य** का आक्रोश वाचक को अपने व्यक्तित्व का विलय कर देने के लिए पूर्णरूपेण तैयार कर देता है। अंधेरे में भटकने वाला अस्मिताखोजी वाचक **नये सत्य** को संवेदनात्मक ज्ञान में बदल देता है। यह **नये सत्य** के अभ्यांतरीकरण की प्रक्रिया है। इसीलिए 'शिशु' 'सूरजमुखी फूल-गुच्छे' में बदल जाता है। अर्थ यह है कि मार्क्सवाद उसके ज्ञान में बदलकर उसके अंधेरे जीवनपथ को प्रकाश विकीकरण से भरने लगता है। अब उसके पास अपने अनुभव, विवेक-निष्कर्ष भी हैं और महान समाजशास्त्रियों का दिया हुआ नया सत्य भी। इस अनुभव-ज्ञान का प्रकाश उसे अपने भीतर के निजत्व के रहे-सहे अंश को भी समाप्त करने का साहस प्रदान करता है। वही ज्ञान स्वात्म के ओरांग उटांग पर गोली दागने के लिए 'वज़नदार रायफल' बन जाता है। परिणति की प्रक्रिया इसी अंश के बाद पूरी हो जाती है क्योंकि रही सही अस्मिता और व्यक्तिवादिता को गोली मार दी जाती है :

बीच में कोई ज़मीन पर पसरा
फैलाये बाँहें ढह पड़ा आख़िर
...
वह कलाकार था
गलियों के अंधेरे का, हृदय में, भार था
पर, कार्यक्षमता से वंचित व्यक्तित्व
चलाता था अपना असंग अस्तित्व। (वही, पृ. 343)

वह वाचक का अपना ही 'असंग अस्तित्व' था जिसे उसने समाप्त कर दिया है। वह पूर्णरूपेण 'डिक्लास' हो जाता है। उसकी 'निष्क्रिय' 'निःसंग' अस्मिता विलय पा जाती है। वह संघर्ष में कूद पड़ता है। इसीलिए वह अकेलेपन को भूलकर समस्या के वैज्ञानिक हल की ओर बढ़ता है :

एकदम ज़रूरी दोस्तों को खोजूं
पाऊं मैं नये-नये सहचर
सकर्मक सत्-चित्-वेदना भास्कर!! (वही, पृ. 344)

संघर्ष में कूदते ही उसे ख़तरों से जूझना पड़ता है। वह आततायी सत्ता के सम्मुख पकड़कर पेश कर दिया जाता है। उसकी स्क्रीनिंग होती है। उसे 'थॉरोली' 'क्रॉस एक्ज़ामिन' किया जाता है। पीठ पर चाबुक की मार पड़ती है। वाचक इस 'टेरर' से 'डिमॉरलाइज' नहीं होता है। उसके 'आत्म-विस्तार' की गति और तेज़ होती है :

मन यह हटता है देह की हद से
जाता है कहीं पर अलग जगत में। (वही, पृ. 346)

इसी प्रक्रिया में वाचक के 'दर्दीले-फैले-फैलेपन की मिठास' सर्वव्यापी बन जाती है :

हम कहां नहीं हैं
सभी जगह हम
निजता हमारी? (वही, पृ. 346)

यहां ध्यातव्य है कि 'निजता हमारी?' के आगे लगा हुआ प्रश्नचिन्ह यह संकेत देता है कि वाचक की 'निजता' विलीन हो गयी। मुक्तिबोध का यही प्रश्नचिन्ह क्या उनकी कविता में 'अस्मिता की खोज' देखने वाले आलोचकों के आगे प्रश्नचिन्ह नहीं लगा देता है? 'मैं' जब 'हम' हो गया तो अस्मिता रही ही कहां? वह सामूहिकता में विलय पा गयी।

कविता के सातवें खंड तक पहुंचते-पहुंचते वाचक पूर्णरूपेण 'परिणत' और सकर्मक हो उठता है। इसीलिए आततायी सत्ता के चंगुल से छूटकर वह अकेला नहीं रहना चाहता :

मुझे अब खोजने होंगे साथी—
काले गुलाब व स्याह सिवंती,
स्याह चमेली
संवलाये कमल (वही, पृ. 347)

यह लश्कर श्रमिक कामरेडों का है। 'अंधेरे में' का वाचक अस्मिता के खोजियों की तरह 'भीड़ में मैलखोरी गंध' से परेशान नहीं है। उसे तो वे मज़दूर गुलाब, चमेली और संवलाये कमल लगते हैं। वह उन कामरेडों की तलाश में है। वह अपने युग की प्रचलित शीतल, रंगीन शब्दाभिव्यक्ति को छोड़कर उनमें आवेश भरना चाहता है। इसीलिए वह उनसे संपर्क स्थापित करना चाहता है। 'मुझे नहीं मालूम' कविता के पुनश्च में भी कवि ने यही संकेत दिया था :

प्रत्येक **पुष्प** से पूछता हूं हाल चाल
प्रत्येक लता से करता हूं संपर्क
और उसकी महक भरी
पवित्र छाया में गहरी **विलुप्त होता** हूं मैं....
...
मैं कहीं नहीं हूं। (*रचनावली*-2, पृ. 158)

मैंने प्रारंभ में ही कहा था कि मुक्तिबोध की किसी भी कविता का कथ्य 'अस्मिता की खोज' नहीं है। उनकी कविताएं तो 'नि'स्वात्म के विकास' की कविताएं हैं; 'अस्मिता के विलय' की कविताएं है। 'अंधेरे में' का वाचक जब 'मैं हूं' से 'मैं कहीं नहीं हूं' में बदल जाता है, तो 'अभिव्यक्ति के सारे ख़तरे/उठाने' को तैयार हो जाता है। क्रांतिकारी विचारधारा के 'अरुण कमल' को लाने के लिए वह हर कष्ट और विघ्न पार करने का निश्चय कर लेता है :

पहुंचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार
तक कहीं देखने को मिलेंगी हमको
नीली झील की लहरीली थाहें
जिसमें कि प्रतिपाल कांपता रहता
अरुण कमल एक (वही, पृ. 348)

क्रांति की विचारधारा का यह 'अरुण कमल' भी मुक्तिबोध की कई कविताओं में आया है। 'कल हमने जो चर्चा की थी' कविता में संकेत है, 'इन झीलों में मुग्ध खिली हैं / **लाल पंखुरियां** / जन-अनुभव की

कमल श्रेणियां।' (वही, पृ. 314) इसी प्रकार 'एक अरूप शून्य के प्रति' कविता जो कि धर्म या ईश्वर के प्रति लिखी गयी है, में भी कवि कहता है :

ज़िंदगी के दलदल कीचड़ में धंसकर
वक्ष तक पानी में फंसकर
मैं वह **कमल** तोड़ लाया हूं
...
मुझे तेरी बिलकुल ज़रूरत नहीं है। (वही, पृ. 190)

वाचक क्रांतिकारी विचारधारा को अपनाकर महसूस करता है कि 'दिमाग़ में जान है/दिलों में दम है।' 'लोगों की मुट्ठियां बंधी हैं/अंगुली संधि से फूट रहीं किरनें/**लाल लाल**।' वाचक शनैः शनैः बौद्धिक जुगाली छोड़कर क्रांति में अपना सकर्मक सहयोग देने लगता है। उसके 'निःस्वात्म का विकास' इतना अधिक हो जाता है कि :

पर्चा पढ़ते हुए उड़ता हूं हवा में
चक्रवात-गतियों से घूमता हूं नभ पर
ज़मीन पर एक साथ
सर्वत्र सचेत उपस्थित। (वही, पृ. 350)

और तब वाचक को 'ज़िंदगी-सरहद/सूर्यों के प्रांगण पार भी जाती सी दीखती।' और यहीं पर वाचक बिना किसी दुराव छिपाव के घोषणा कर देता है :

'मैं परिणत हूं।' (वही, पृ. 350)

'परिणत' वाचक को अस्मिता का खोजी वैयक्तिक संकुचित चेतना का 'स्वातंत्र्य व्यक्ति का वादी/छल नहीं सकता।' उसके ज्ञान की मशाल अब फूंक मार कर नहीं बुझायी जा सकती है। वह अब 'जन' बन गया है। इसलिए

साथ-साथ घूमते हैं, साथ-साथ रहते हैं
साथ-साथ सोते हैं, खाते हैं, पीते हैं
जन-मन-उद्देश्य।। (वही, पृ. 351)

'जन-मन-उद्देश्य' जब फलीभूत हुआ तो 'कहीं आग लग गयी, कहीं गोली चल गयी।' 'रक्तपायीवर्ग से नाभिनालबद्ध' लोग तभी 'महामौन' की प्रतिष्ठा करने लगते हैं, उनकी 'वाणी मौन' हो जाती है :

सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्
चिंतक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं
उनके ख़याल से यह सब गप है। (वही, पृ. 351)

इस चुप्पी से वाचक को अहसास हो जाता है कि 'बौद्धिक वर्ग है क्रीतदास/किराये के विचारों का उद्भास।' क्रांति में बच्चे से लेकर बूढ़े तक शरीक हैं। 'दादा का सोंटा भी करता है दांव पेंच।' कक्का की लाठी और बच्चे की पें-पें सभी हथियारों का काम कर रहे हैं। वे सारे के सारे 'अरे अरि पर ही टूट पड़े अनिवार।'

संघर्ष के दौरान संकल्पशक्ति से लोगों के दिल और अधिक मज़बूत होते जाते हैं। वाचक के 'परिणत' होने के बाद संघर्ष इतना तेज़ हो जाता है कि सारी निश्चयात्मक शक्तियां एकजुट हो जाती हैं। 'युवकों में होता जाता है 'व्यक्तित्वांतर' और तभी 'द्रुतवेग बहती है शक्तियां निश्चयी।' इस 'द्रुतवेग' के बिंदु पर अपनी कल्पना को पहुंचा कर कवि घटना को ऐसा मोड़ देता है जिसे 'ऐंटी-क्लाइमैक्स' कहा जा सकता है। आठवें खंड का यह उत्तरार्द्ध वाचक को फिर अकेला छोड़ देता है :

एकाएक फिर स्वप्न भंग
बिखर गये चित्र कि मैं फिर अकेला (वही, पृ. 353-54)

क्या कविता का यह लचर अंत है? हरगिज़ नहीं, यह अंत ज़रूरी था। वाचक के लिए अपने को क्रांतिपूर्व परिवेश में पाना एक जीता जागता यथार्थ है; उसे झुठलाया तो नहीं जा सकता। वह तो जानता है कि 'मेरे प्रतीक रूपक सपने फैलाते हैं/आगामी के।' हां यह ज़रूर है कि यह 'फैंटेसी कल वास्तव होगी।' वाचक ने अपने वर्तमान का 'ऐंटीथीसिस' तो देख लिया, किंतु उस वर्तमान से फिलहाल तो वह मुक्त नहीं है। इसलिए क्रांति के स्वप्न को वर्तमान में एकाएक भंग होना पड़ा। यह स्वप्न उसके भीतर परिवर्तन कर चुका है। वाचक अभी भी परिणत है, यही इस कविता का विकास है। अब वह 'अंधेरे में' नहीं है। 'आत्मा में **चमकीली प्यास** भर गयी है।' उसे अब 'जगभर दीखती है **सुनहली तस्वीरें**।' उसने क्रांति को स्वप्न में देखा था, जागने पर उस क्रांति रूपी प्रणयिनी की याद आ रही है। यूरोप के मध्ययुगीन रोमांस काव्य के नायकों (प्रिंस अर्थर आदि) की तरह उस प्रेमिका को स्वप्न में देखा था, वह उसे प्रकाश में ढूंढ़ेगा।

पूरी कृति में बिबों का द्वंद्वात्मक विकास देखने लायक है। कविता का प्रारंभ 'ज़िंदगी के.../कमरों में' अंधेरे से हुआ था, फिर उसमें 'दिया' का पीतालोकप्रसार दिखायी दिया, फिर 'अग्निमणि' और 'सूरजमुखी फूलगुच्छों' ने 'प्रकाश विकीरण' किया। और अंत तक आते-आते :

कमरे में **सुबह की धूप** आ गयी है।
गैलरी में फैला है **सुनहला रविछोर** (वही, पृ. 354)

'सुनहला रविछोर' निषेध का निषेध करता है। तब इस प्रकाश में वाचक को अपने उस रहस्मय व्यक्ति—सर्वहारा को पहचानने में देर नहीं लगती :

...वह व्यक्ति
सामने
गलियों में, सड़कों पर, लोगों की भीड़ में
चला जा रहा है (वही, पृ. 354-55)

यहां आकर कवि ने उस व्यक्ति को फिर व्याख्यायित कर दिया :

वह जगत की गलियों में घूमता है प्रतिपल
वह फटेहाल रूप। (वही, पृ. 355)

वह सर्वहारा जनता है, वही उसकी 'परम अभिव्यक्ति' यानी आसपास की व्यक्तिसत्ता है जो भावी का निर्माण करेगी। वाचक का यह भ्रम कि जनता उसको खोजेगी समाप्त हो जाता है। इसलिए 'उठी हुई बांह' उठी ही रह जाती है। अब तो उसे स्वयं क्रांतिकारी जनता को खोजना होगा। वाचक परिणत होकर

अपने को इस खोज की प्रक्रिया में लगा देता है। इसीलिए वह 'हर गली में/और हर सड़क पर/झांक-झांक' कर हर एक चेहरा देख रहा है जिससे कि वह यह जान सके कि कौन उसके शत्रु हैं और कौन उसके मित्र। वर्गचेतस् होने के लिए इस 'विवेक-प्रक्रिया' और 'क्रियागत परिणति' की आवश्यकता है। वह इस खोज में जुट जाता है।

खोजता हूं पठार.../पहाड़.....समुंदर
जहां मिल सके मुझे
मेरी वह खोई हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्मसंभव। (वही, पृ. 355-56)

कविता की उक्त पंतियों में से 'अस्मिता की खोज' का कथ्य निकालना आलोचना की ऐसी-तैसी करना है। ऐलेन टेट ने 'टेंशन' के सिद्धांत का प्रतिपादन करते समय जिस 'एक्सटेंशन' की बात कही थी, यदि उस तरह भी हमारे यहां 'कविता के नये प्रतिमान' चोरी करने वाले नामचीन हिंदी आलोचक इन पंक्तियों को गहराई में उतर कर 'एक्सटेंड' करते तो भी इस तरह अर्थ का अनर्थ न होता, इस कविता पर आधुनिकतावादियों की 'अस्मिता की खोज' आरोपित न करते। 'पठार', 'पहाड़', 'समुंदर' पर ज़रा 'क्रीड़ाभाव' या 'लीलाभाव' से ज़रा हटकर थोड़ा ग़ौर करें। क्या ये मात्र बिंब हैं? मेरे विचार से, वे क्रमशः निम्नवर्ग, मध्यवर्ग और उच्च शोषक वर्ग के प्रतीक हैं। इसके प्रमाण मुक्तिबोध काव्य में ही हैं। 'पठार' को सर्वहारा के प्रतीक-रूप में 'अंधेरे में' ही चित्रित किया गया है :

अरे, उसके चेहरे पर खिलती हैं सुबहें
गालों पर चट्टानी चमक **पठार** की (वही, पृ. 3240)

इसी प्रकार 'पहाड़' या 'पहाड़ी' का प्रयोग कई जगह मध्यवर्ग या मध्यवर्गीय प्रवृत्तियों के लिए हुआ है। पूंजीवाद का 'लकड़ी का रावण' जिस 'शैल शिखर' पर खड़ा है वह मध्यवर्ग ही तो है; 'नक्षत्र खंड' कविता में जिस 'भूरी पहाड़ी' को खोद डालने की बात की है वह, जैसा कि वाचक स्वयं व्याख्यायित कर देता है, मध्यवर्ग की 'सतही जानकारी में अजाना/ज़िंदगी का स्तर' ही तो है। 'चंबल की घाटी में' कविता में भी :

सामने ही, तिकोनी **पहाड़ी** के सिर पर
गोल स्याह खुरदरा
बहुत बड़ा सिफ़र एक
लेटा है ख़ामोश। (वही, पृ. 407)

यह तिकोनी 'पहाड़ी' मध्यवर्ग है जिसके सिर पर 'विलक्षण स्वत्व वह/गहन निजत्व वह' बैठा हुआ है यानी जिसके सिर पर 'अस्मिता की खोज' का भूत सवार है। 'अंधेरे में' जिन दुर्गम पहाड़ों की बात आयी है वे भी मध्यवर्ग के ही प्रतीक हैं। और 'समुंदर'**?** वह उच्च शोषक वर्ग का प्रतीक है। 'एक स्वप्न कथा' कविता इसका प्रमाण है, ध्यान से देखें तो उसकी निम्नांकित पंक्तियां अलग से किसी व्याख्या की गुंजाइश नहीं छोड़तीं :

हो न हो
इस काले **सागर** का
सुदूर-स्थित पश्चिम किनारे से
ज़रूर कुछ नाता है
इसीलिए, हमारे पास सुख नहीं आता है। (वही, पृ. 269)

इस प्रकार 'अंधेरे में' कविता का वाचक वर्ग-चेतना के आधार पर उस सर्वहारा जनता (अभिव्यक्ति=आसपास की व्यक्तिसत्ता) को खोजता है, अपनी 'अस्मिता' को नहीं। वह व्यक्तिसत्ता जनता 'अनिवार' है। ऐतिहासिक भौतिकवाद बताता है कि उसके प्रवाह का निवारण नहीं किया जा सकता; नहीं तो वह शोषकों के द्वारा दासयुग से आगे बढ़ने ही क्यों दी जाती। 'यह भवितव्य अटल है इसको अंधियारे में झोंक न सकते।' यह व्यक्तिसत्ता 'आत्मसंभवा' है। कविता के प्रारंभ में इसे 'आत्मा की प्रतिमा' भी कहा था। यहां आत्मा का अर्थ वाचक का अंतर्मन नहीं है। वह 'इंडिविजुअल' यानी व्यक्ति इकाई के अर्थ में है। जनता का सामूहिक रूप अनेक 'आत्म' से मिलकर बना है। अतः वह 'आत्मसंभवा' उद्‌भूत हुई। यह एक काव्यात्मक पैराडॉक्स है कि समूह इकाई से जन्मा है। लेकिन है तो सत्य। समाज की सारी शोषित इकाइयां मिलकर ही 'अभिव्यक्ति' यानी जुझारू व्यक्तिसत्ता बनाती है। मुक्तिबोध ऐसे प्रयोगों के कुशल कारीगर थे। शब्दों में वे नये अर्थ-अनुषंग भरते थे। उनकी बारीक कलाकारिता को न समझ सकने के कारण ही उनकी कविता के विषय में ऊलजलूल धारणाएं पनपायी जाती रही हैं। इसीलिए 'आत्मसंभवा' में से 'अस्मिता' निकाल ली गयी और कविता के 'दर्दीले फैले-फैलेपन की मिठास' की अवहेलना कर दी गयी। इस मिठास का अनुभव करने के लिए 'श्रद्धा संबल' नहीं, 'सत-चित्-वेदना' का संबल ज़रूरी है। वह तभी उपलब्ध होगा जब मुक्तिबोध-साहित्य का मध्यवर्गीय पाठक भी 'ज़िंदगी के दलदल कीचड़ में धंसकर कक्ष तक पानी में फंसकर' क्रांतिकारी विचारधारा का कमल फूल प्राप्त कर ले और मुक्तिबोध की तरह महसूसे :

अजीब सी अकुलाहट दिल में उभरती है
मैं कुछ गहरे में उतरना चाहता हूं (*रचनावली*-2, पृ. 172)

विश्लेषण-संश्लेषण की गहराई में उतरकर ही हम महसूस कर सकते हैं :

चमकता है अंधेरे में
प्रदीपित द्वंद्व चेतस् एक
सत्-चित्-वेदना का फूल (वही, पृ. 146)

मो. : 09811119391

'पीके' के बहाने अ-धर्म चर्चा

जवरीमल्ल पारख

वर्ष 2014 के अंत में प्रदर्शित विधु विनोद चोपड़ा और राजकुमार हिरानी की हिंदी फ़िल्म 'पीके' ने बॉक्स ऑफ़िस पर कामयाबी के नये रिकॉर्ड क़ायम किये हैं। बताया जाता है कि उसने अब तक भारत में तीन सौ करोड़ से अधिक का व्यवसाय किया है और पूरे विश्व में छह सौ करोड़ से ज़्यादा का, जो अब तक प्रदर्शित हुई भारतीय फ़िल्मों में सबसे अधिक है। लेकिन 'पीके' को हिंदुत्व समर्थक संगठनों द्वारा ज़बर्दस्त विरोध का भी सामना करना पड़ा है। कई शहरों में इसके प्रदर्शन को जबरन रोका गया है, कुछ जगह सिनेमाघरों में तोड़फोड़ भी की गयी है। फ़िल्म के विरोध में कुछ आवाज़ें मुस्लिम संगठनों की तरफ़ से भी उठी है। हिंदुत्वपरस्त संगठनों के अनुसार 'पीके' द्वारा हिंदुओं की भावनाओं को आहत किया गया है। 'पीके' के विरोध में बाबा रामदेव भी काफ़ी सक्रिय रहे हैं। शायद उन्हें फ़िल्म के एक चरित्र तपस्वी महाराज (सौरभ शुक्ल) में अपनी छवि नज़र आयी हो। 'पीके' में सिर्फ़ हिंदू धर्म के पाखंड की आलोचना नहीं है, वरन इस्लाम और ईसाई धर्म में व्याप्त पाखंड की भी आलोचना की गयी है। 'पीके' के संदर्भ में यह कहना पूरी तरह सही नहीं है कि इसमें धार्मिक पाखंड की आलोचना की गयी है, वरन धार्मिक आस्था को व्यक्त करने के जो तरीक़े प्रचलन में हैं, उनके औचित्य पर भी प्रश्नचिन्ह लगाया गया है, भले ही उन विश्वासों को पाखंडपूर्ण न कहा जाये। इसके साथ ही फ़िल्म में उन बाबाओं की भी तीखी आलोचना की गयी है जो धर्म की आड़ में कई तरह के धंधे चलाते हैं और भोले-भाले लोगों को अपने जाल में फांसते हैं। भारत में आजकल ऐसे बाबाओं का ज़बर्दस्त बोलबाला है हालांकि उनमें से कुछ अपनी ग़ैरक़ानूनी करतूतों के कारण जेल की हवा खा रहे हैं। फ़िल्म के मुख्य कलाकार आमिर ख़ान को ख़ास तौर पर हमले का निशाना बनाया गया है। यह कहा जा रहा है कि मुसलमान होने के कारण ही उन्होंने 'हिंदू विरोधी' फ़िल्म बनायी है। आलोचना करने वाले भूल गये हैं कि आमिर ख़ान फ़िल्म के सिर्फ़ अभिनेता है, फ़िल्म के निर्माता (विधु विनोद चोपड़ा), निर्देशक (राजकुमार हिरानी) और लेखक (अभिजात जोशी) सभी हिंदू है और फ़िल्मों के बारे में थोड़ी भी जानकारी रखने वाला जानता है कि फ़िल्म की कहानी के लिए निर्माता, निर्देशक और लेखक उत्तरदायी होते हैं। अभिनेता तो निर्देशक के अनुसार अपने पात्र को अभिनय द्वारा प्रस्तुत करने के लिए उत्तरदायी है। निश्चय ही, अभिनेता ही दर्शकों के सामने आता है, इसलिए फ़िल्म की पहचान अभिनेताओं के कारण होती है, लेकिन इसी वजह से उन्हें फ़िल्म की कहानी के लिए ज़िम्मेदार ठहराना या तो नासमझी है या जानबूझकर बदनाम करने की कोशिश। ज़ाहिर है कि हिंदुत्ववादी संगठन नासमझ तो नहीं हैं। आमिर ख़ान के बहाने दरअसल वे हिंदुओं को फ़िल्मों

के ख़िलाफ़ भड़काना चाहते थे। लेकिन 'पीके' को मिली अपार लोकप्रियता ने उनके इरादों को काफ़ी हद तक नाकाम कर दिया है।

राजकुमार हिरानी की अन्य फ़िल्मों ('मुन्नाभाई एमबीबीएस', 'लगे रहो मुन्नाभाई' और 'थ्री इडियट्स') की तरह 'पीके' भी समकालीन सामाजिक प्रश्नों को लोकप्रिय ढंग से उठाती है। हिरानी की फ़िल्में अपनी प्रस्तुति में लोकप्रियता के उसी ढांचे को अपनाती हैं जिन्हें हिंदी की अन्य फ़िल्मों में भी देखा जा सकता है, लेकिन इस ढांचे को अपनाते हुए भी वह अपने सामाजिक लक्ष्य से प्रायः नहीं भटकती। हिरानी की फ़िल्में अपने चरित्र में मूलगामी भले न हों, लेकिन उदार लोकतांत्रिक और प्रगतिशील जीवन मूल्यों का प्रभाव उन पर देखा जा सकता है। हिरानी की फ़िल्मों का गहरा संबंध समकालीन यथार्थ से है और उनका कथ्य शहरी और क़स्बाई मध्यवर्ग से जुड़ा होता है। इसे 'पीके' में भी देखा जा सकता है। 'पीके' में बहुत कुछ ऐसा है जिसका संबंध हमारे वर्तमान यथार्थ से है। हमारे राजनीतिक-सामाजिक ढांचे के अंतर्विरोधों को एक ऐसे बिंदु से देखा गया है जिस बिंदु से लोकप्रिय सिनेमा हमारे समय के यथार्थ को देखने का आदी नहीं है। 'पीके' की तुलना पिछले साल प्रदर्शित फ़िल्म 'ओ माई गॉड' से की गयी है जिसमें भी धार्मिक पाखंड की तीखी आलोचना की गयी है, लेकिन ऐसा करते हुए वह धार्मिक आस्था के आगे प्रश्नचिह्न लगाने का साहस नहीं जुटा पाती। 'पीके' इस दृष्टि से अलग तरह की फ़िल्म है।

'पीके' का मुख्य पात्र पीके (आमिर ख़ान) दूसरे ग्रह से आया एक एलियन है। वह मनुष्य की तरह दिखता है लेकिन उसे मनुष्य की तरह न तो कपड़े पहनने की ज़रूरत है और न ही उसका सोच और विश्वास मनुष्य की तरह है। उसकी दुनिया में न तो ईश्वर है और न ही धर्म। वह बहुत सी भिन्नताओं और पहचानों से भी मुक्त है जिन्हें सभ्यता और संस्कृति के नाम से मनुष्य ने अपना रखा है। वह अपने यान से राजस्थान के रेगिस्तानी इलाक़े में उतरता है, बिल्कुल नंगा। लेकिन उसके पास गले में एक लॉकेट लटका हुआ है और उस लॉकेट में एक चमकीला क्रिस्टल जैसा पत्थर भी है जो दरअसल एक तरह का रिमोट है और इस रिमोट के माध्यम से वह अपने ग्रह से यान को वापस बुला सकता है। पृथ्वी पर उतरने के साथ ही उसका वह लॉकेट एक व्यक्ति गले में से खींचकर भाग जाता है। ज़ाहिर है, इस रिमोट के चोरी हो जाने से उसके लिए पृथ्वी से अपने ग्रह को लौटना और अपने यान को बुलाना मुमकिन नहीं है। फ़िल्म की कहानी यही है कि वह एलियन अपने उस रिमोट को वापस हासिल कर पायेगा या नहीं?

एलियन की संकल्पना 'ओ माई गॉड' में ईश्वर की संकल्पना से अलग तरह की है। ईश्वर की संकल्पना के साथ कठिनाई यह है कि आप उसके साथ कई तरह के चमत्कार तो जोड़ सकते हैं, लेकिन अंततः उसे उसी ढांचे में सीमित रखना होता है जिस ढांचे के अंदर मनुष्य ने अब तक ईश्वर को गढ़ा है। दूसरी कठिनाई यह है कि एक प्रविधि के तौर पर ही सही, जब ईश्वर को एक पात्र की तरह पेश किया जाता है तो कहीं न कहीं फ़िल्मकार ईश्वर के अस्तित्व के होने को सही ठहरा रहा होता है। यही कारण है कि 'ओ माई गॉड' का नास्तिक नायक (परेश रावल) फ़िल्म के अंत तक आस्तिक बन जाता है। लेकिन 'पीके' फ़िल्म का एलियन पीके (आमिर ख़ान) ईश्वर नहीं है। पीके (फ़िल्म में इस एलियन का नाम पीके इसलिए पड़ता है कि उसकी अजीबोग़रीब हरकतों के कारण लोग उसे पीये हुए यानी शराबी समझने लगते हैं और यही कारण है कि सब उसे पीके कहने लगते हैं) पृथ्वी के मनुष्यों की तरह अन्य ग्रह का एक मनुष्य है। मनुष्यों से भिन्न, फिर भी मनुष्य। लेकिन इस मनुष्य रूपी एलियन या एलियन रूपी मनुष्य

की दुनिया में कोई ईश्वर नहीं है। न सिर्फ़ ईश्वर नहीं है, वह ईश्वर की संकल्पना से परिचित भी नहीं है। ईश्वर नहीं है, इसलिए धर्म जैसी संस्था या अवधारणा से भी वह परिचित नहीं है। ईश्वर, गॉड, ख़ुदा महज़ उसके लिए ऐसे शब्द हैं जिससे उसके मन में कोई धारणा नहीं बनती। यही कारण है कि उसके लिए पृथ्वी के मनुष्यों द्वारा 'ईश्वर ही ऐसा कर सकता है' या 'ईश्वर ही जानता है' या 'ईश्वर की शरण में जाओ' जैसी बातों का अर्थ सिर्फ़ यही है कि ईश्वर कोई ऐसी भौतिक सत्ता (व्यक्ति या संस्था) है जो रिमोट दिलाने में उसकी मदद कर सकती है। इसलिए जब लोग उसे ईश्वर की शरण में जाने के लिए कहते हैं, उसे मंदिर, मस्जिद, चर्च आदि जगहों पर जाकर प्रार्थना करने या ईश्वर के सामने सिर झुकाने के लिए कहते हैं, या प्रसाद चढ़ाने के लिए कहते हैं, तो उसका अर्थ उसके लिए सिर्फ़ इतना ही है कि पृथ्वी पर ईश्वर कोई ऐसी सत्ता है जो काफ़ी शक्तिमान है और जो उसके खोये रिमोट को वापस दिला सकता है। लेकिन इस परम शक्तिमान की वास्तविकता भी इसी प्रक्रिया में उसके सामने खुलती चली जाती है। उसे मालूम पड़ जाता है कि ऐसी कोई सत्ता नहीं है जो उसका खोया रिमोट उसे वापस दिला दे।

ईश्वर की वास्तविकता खुलने की प्रक्रिया में पीके कई ऐसे अंतर्विरोधों से टकराता है जिसका कोई उत्तर उसे नहीं मिलता। कम-से-कम धर्मों के पास इसका कोई उत्तर नहीं होता। लोगों की धार्मिक पहचान दरअसल उन पर थोपी गयी पहचान है। अलग-अलग तरह की वेशभूषा किसी को हिंदू, दूसरे को मुसलमान, तीसरे को ईसाई बनाती है और इसी तरह वेशभूषाओं के बदलने से मनुष्य सिख, जैन, बौद्ध आदि बन जाते हैं। यानी कोई न हिंदू पैदा होता है, न मुसलमान और न ही कोई अन्य धर्मावलंबी। तपस्वी महाराज (सौरभ शुक्ला) के सामने पीके ठीक यही साबित करता है कि धर्म मनुष्य की वास्तविक पहचान नहीं है। फ़िल्म में एक प्रसंग में तपस्वी महाराज यह दावा करते हैं कि वे मनुष्य को देखकर पहचान सकते हैं कि उसका धर्म क्या है, यानी वह हिंदू है, मुसलमान है या सिख है। लेकिन पीके उन अलग-अलग धर्मावलंबियों की वेशभूषा में थोड़े से हेरफेर द्वारा तपस्वी महाराज को धोखा देने में कामयाब हो जाता है। इसी तरह एक अन्य प्रसंग में सड़क पर से उठाया गया पत्थर भगवान बन जाता है क्योंकि उसे यही कहकर एक पेड़ के नीचे आरोपित कर दिया गया है। लोग उस पत्थर के ईश्वर के सामने अपनी मनोकामना पूरी करवाने के लिए बिना सोचे विचारे माथा टेकने लगते हैं। माथा टेकने वालों में वे युवा भी शामिल हैं जिनसे अपेक्षा की जाती है कि इन अंधविश्वासों से ऊपर उठकर विवेक से फ़ैसले लेंगे। लेकिन हम देखते हैं कि परीक्षा में कामयाब होने के लिए वे आसानी से इस तरह के अंधविश्वासों के शिकार हो जाते हैं। यह महज़ संयोग नहीं है कि हमारे देश का मौजूदा प्रधानमंत्री जिसने एम.ए. तक की शिक्षा प्राप्त की है, डॉक्टरों की सभा में यह दावा करता है कि हज़ारों साल पहले भारत में प्लास्टिक सर्जरी न केवल मौजूद थी बल्कि इतनी विकसित थी कि मनुष्य की गर्दन पर हाथी का सिर जोड़ा जा सकता था। उसने ठहरकर यह सोचना भी गवारा नहीं किया कि मनुष्य की गर्दन पर हाथी (के बच्चे) की गर्दन कैसे चिपकायी जा सकती है। क्या मनुष्य की गर्दन को हवा से फुलाकर हाथी की गर्दन बराबर बनाया गया या हाथी की गर्दन को मनुष्य की गर्दन के बराबर छोटा किया गया। यह एक बात तो बाहरी आकार-प्रकार के अंतर की है। लेकिन इसके अलावा सैकड़ों ऐसे पक्ष हैं जिनके बारे में शायद हमारे प्रधानमंत्री को हवा तक नहीं है। विज्ञान कोई जादू की छड़ी नहीं है। वह प्रयोगों द्वारा सिद्ध कुछ ऐसे सिद्धांतों पर टिका होता है जो सभी जगह और सभी समय के लिए सत्य होते हैं। अगर हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के योग से पानी बनता है तो वह सभी जगह सिर्फ़ इसी ढंग से बनेगा। अगर पृथ्वी में चीज़ों को अपनी तरफ़ खींचने की

शक्ति है, जिसे हम गुरुत्वाकर्षण कहते हैं, तो वह सभी समय और पृथ्वी के सभी हिस्से के लिए सत्य होगा। लेकिन ये वैज्ञानिक सत्य कुछ अन्य वैज्ञानिक सत्यों से जुड़े होते हैं और वैज्ञानिक इन प्राकृतिक विज्ञान के सार्वभौम सिद्धांतों को जानकर कुछ नये आविष्कार करने में कामयाब होता है। गुरुत्वाकर्षण की शक्ति को जानकर ही मनुष्य यह भी जान पाता है कि उसकी तोड़ क्या है और वह धीरे-धीरे विमान बनाने में कामयाब होता है। वह जानता है कि भारी चीज़ें पानी में डूब जाती हैं, लेकिन यह भी जानता है कि वस्तु के भार से ज़्यादा यदि उसका आयतन होगा तो वह वस्तु पानी में डूबेगी नहीं बल्कि तैरने लगेगी और इस तरह वह बड़े-बड़े जहाज़ बनाने में कामयाब हो जाता है। लेकिन ऐसा वह एक दिन में और अचानक नहीं करता। प्लास्टिक सर्जरी जैसी आधुनिक शल्य चिकित्सा के साथ चिकित्सा विज्ञान की एक नहीं, अनेक खोजें जुड़ी हैं और जिनकी जानकारी निश्चय ही हमारे प्रधानमंत्री को नहीं है। वह मिथकीय कथाओं को वास्तविक बताकर धर्मभीरु जनता में भारत के प्रति मिथ्या गर्व-भावना भरना चाहते हैं और इस तरह अंधराष्ट्रवाद की भावना को बल पहुंचा रहे होते हैं।

मनुष्य की विवेकहीनता का लाभ वे लोग उठाते हैं जो धर्म का इस्तेमाल निहित स्वार्थों को पूरा करने के लिए करते हैं। ये स्वार्थ सिर्फ़ निजी नहीं होते और न ही इनका संबंध सिर्फ़ धन और समृद्धि हासिल करने से होता है। लेकिन जो सबसे ख़तरनाक पहलू है, वह यह कि आज धर्म का इस्तेमाल राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक वर्चस्व को क़ायम करने के लिए भी किया जा रहा है। आम आदमी की धर्म संबंधी जड़बद्ध मानसिकता को हवा देकर, धर्म को मनुष्य की एक मात्र और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहचान बताकर और इस तरह उन्हें अलग-अलग समूहों और समुदायों में बांटकर और उन्हें एक-दूसरे से लड़ाकर उन पर वर्चस्व क़ायम किया जाता है। तपस्वी महाराज के माध्यम से इसी वर्चस्व की वास्तविकता को उजागर किया गया है। फ़िल्म की नायिका जग्गू उर्फ़ जगतजननी (अनुष्का शर्मा) का विदेश में पढ़ते हुए एक पाकिस्तानी युवक सरफ़राज़ युसूफ़ (सुशांत सिंह राजपूत) से प्रेम हो जाता है। जब जग्गू के पिता जयप्रकाश साहनी (परीक्षित साहनी) को इसकी जानकारी मिलती है, तो वह घबरा जाते हैं। वह उनकी सोच के परे है कि उनकी बेटी एक विधर्मी (मुसलमान) और शत्रु देश (पाकिस्तान) के युवक से प्रेम करे और उससे शादी करना चाहे। जग्गू के पिता तपस्वी महाराज के बहुत बड़े भक्त और अनुयायी हैं और वह कोई भी काम उनसे पूछे बिना नहीं करते। इस मामले में भी वह भागकर तपस्वी महाराज के पास पहुंचते हैं। तपस्वी महाराज स्काइप के द्वारा जग्गू से सीधे बात करते हैं। वह जानते हैं कि जग्गू को मुसलमान या पाकिस्तान के विरुद्ध सीधे भड़काकर काम नहीं साधा जा सकता, इसलिए वह यह दावा करते हुए कि वह भविष्य जान सकते हैं, जग्गू को बताते हैं कि सरफ़राज़ उसे धोखा देकर चला जायेगा। जग्गू को इस बात पर यक़ीन नहीं होता। इसलिए वह इस बात को आज़माने के लिए सरफ़राज़ को तत्काल शादी करने के लिए कहती है। सरफ़राज़ कुछ हिचकिचाहट के बाद जग्गू की बात को स्वीकार कर लेता है। दोनों चेपल में जाकर शादी करना तय करते हैं। लेकिन तय समय पर सरफ़राज़ चेपल में नहीं पहुंचता बल्कि एक बच्चा जग्गू को एक पत्र लाकर देता है जिसमें लिखा होता है कि वह शादी करने में असमर्थ है। जग्गू निराश हो जाती है और भारत लौट आती है। इस घटना से जग्गू के पिता का तपस्वी महाराज के प्रति विश्वास और बढ़ जाता है। लेकिन ग़ौरतलब यह है कि यह पूरी घटना सिर्फ़ तपस्वी महाराज की चमत्कारी शक्ति के प्रति विश्वास ही नहीं बढ़ाती बल्कि हिंदुओं में मुसलमानों और पाकिस्तान के प्रति विद्वेष को भी और मज़बूत करती है। इस प्रकार तपस्वी महाराज सिर्फ़ धर्म के प्रचारक

नहीं है। इस धर्म प्रचार का एक राजनीतिक पहलू भी है।

भारत जैसे देश में जहां हिंदू बहुसंख्यक हैं लेकिन कई अन्य धर्मों को मानने वाले लोग भी सदियों से काफ़ी बड़ी तादाद में रहते आये हैं, उनके बीच विद्वेष और नफ़रत का बढ़ना सामाजिक सौहार्द के लिए ख़तरनाक है। धर्म के आधार पर ध्रुवीकरण भारतीय राजनीति का एक ऐसा नकारात्मक पक्ष है जिसकी कोशिश आज़ादी के पहले से होती रही है और आज़ादी के बाद भी इस पर विराम नहीं लगा है। आज केंद्र में भारतीय जनता पार्टी सत्ता में है। यह पार्टी उसी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का घटक है जिसका गठन ही इस देश को हिंदू राष्ट्र बनाने के लिए हुआ है। जो मानता है कि यह देश सिर्फ़ हिंदुओं का है और शेष सभी धर्म विदेशी हैं। लेकिन उनकी यह इच्छा तभी पूरी हो सकती है जब बहुसंख्यक हिंदू उनका समर्थन करे। इस समर्थन को हासिल करने के लिए धर्म के आधार पर ध्रुवीकरण आवश्यक है। सांप्रदायिक ध्रुवीकरण के लिए संघ परिवार ऐसे मसले उठाता रहता है जो हिंदुओं को धार्मिक रूप से अपील कर सकें। अपनी इस सांप्रदायिक मुहिम को पिछले तीन दशकों में वह उग्र रूप से चला रही है और उसके लिए वह कई तरह के मुद्दे उठाती रहती है। रामजन्म भूमि आंदोलन ऐसा ही एक मुद्दा था। इसी तरह हिंदुओं में यह भय पैदा करना कि उनकी जनसंख्या घट रही है और मुसलमानों की जनसंख्या बढ़ रही है और एक दिन ऐसा आयेगा कि हिंदू अपने ही देश में अल्पसंख्यक हो जायेंगे, इसी ध्रुवीकरण की मंशा से प्रेरित है। इसी संदर्भ में 'लव जिहाद' का मुद्दा भी उठाया गया है। लव जिहाद संघ परिवार द्वारा गढ़ा गया शब्द है जिसके अनुसार मुस्लिम युवक साज़िश के तहत हिंदू लड़कियों को बरगलाते हैं और उन्हें अपने जाल में फांस कर उनसे शादी करते हैं और इस तरह उन्हें हिंदू से मुसलमान बनाते हैं। मुस्लिम युवक से शादी करने के कारण उनके बच्चे भी मुसलमान बनते हैं। इस तरह मुसलमानों की जनसंख्या बढ़ती है। संघ परिवार के अनुसार 'लव जिहाद' मुसलमानों के लिए एक तरह का जिहाद (धर्मयुद्ध) है जिसका मक़सद अन्य धर्मावलंबियों की स्त्रियों को मुसलमान बनाकर उनके द्वारा मुसलमानों की संख्या बढ़ाना है।

'लव जिहाद' की इस हिंदुत्वपरस्त धारणा में कई पेंच हैं। यहां यह मान लिया गया है कि हिंदू लड़कियों को आसानी से बरगलाया जा सकता है और वे मुस्लिम युवकों के जाल में फंस सकती हैं। यह भी मान लिया गया है कि जो भी हिंदू लड़की किसी मुस्लिम युवक से शादी करती है या शादी करने की इच्छा रखती है, तो उसके पीछे प्रेम कारण नहीं है बल्कि मुस्लिम युवक की साज़िश है जिसका मक़सद मुसलमानों की जनसंख्या बढ़ाना है। अगर यह मान लिया जाये कि जो मुस्लिम युवक हिंदू लड़की से शादी करता है, वह साज़िश के तहत करता है, तो यह भी माना जाना चाहिए कि कोई मुस्लिम युवती कभी भी किसी हिंदू लड़के से शादी नहीं करेगी और अगर ऐसा करेगी भी तो वह अपने पति को भी मुसलमान बनने के लिए प्रेरित करेगी। लेकिन क्या ऐसे उदाहरण मिलते हैं? देखा यही गया है कि यदि हिंदू लड़की मुसलमान युवक से शादी करके इस्लाम स्वीकार करे या न करे, उसके बच्चे मुसलमान ही माने जाते हैं, तो यह भी सही है कि मुसलमान लड़की हिंदू लड़के से शादी करके हिंदू हो या न हो, उनके बच्चे हिंदू ही माने जाते हैं। यह सच्चाई है कि यदि कुछ हिंदू युवतियों ने मुस्लिम युवकों से शादी की है, तो मुस्लिम युवतियों ने भी हिंदू लड़कों से शादी की है। यह मानना कि हिंदू लड़कियों को आसानी से फंसाया जा सकता है, अपनी ही बहनों और बेटियों पर अविश्वास करना है। फ़िल्म 'पीके' में जग्गू और सरफ़राज़ की प्रेम कहानी का संदर्भ भी यह लव जिहाद ही है। तपस्वी महाराज के प्रभाव के कारण ही जग्गू के पिता इस बात के लिए तैयार नहीं होते कि उनकी बेटी की शादी सरफ़राज़ से हो। फ़िल्म

में लव जिहाद का कोई उल्लेख नहीं आया है, लेकिन यह महत्त्वपूर्ण है कि जब देश में हिंदू और मुसलमान युवाओं के बीच पारस्परिक मैत्री और प्रेम को राजनीतिक विवाद और सांप्रदायिक विद्वेष का मसला बना दिया गया है, 'पीके' ने मुसलमान युवक और हिंदू लड़की के बीच प्रेम को न सिर्फ़ कहानी का हिस्सा बनाया है बल्कि उस मुस्लिम युवक को पाकिस्तानी बताने का साहस भी दिखाया है, जिस पाकिस्तान के प्रति नफरत फैलाने में संघ परिवार सबसे आगे रहा है।

जग्गू और सरफ़राज की प्रेम कहानी के साथ फ़िल्म में दो चीज़ें और जोड़ी गयी हैं। एक, तपस्वी महाराज के बहाने बाबाओं के चारों ओर रचे जाने वाले भ्रमजाल को काटना और दो, इंसानी रिश्ते को धर्म और राष्ट्र की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर देखना। जब पीके तपस्वी महाराज की चालबाज़ियों का एक-एक कर पर्दाफाश करता है और टीवी के माध्यम से जग्गू उसे देश भर में प्रसारित कर देती है, और तपस्वी महाराज को लगता है कि अगर यह मुहिम चलती रही तो धर्म की आड़ में उनके सारे धंधे बंद हो जायेंगे, तो उसे मजबूर होकर टीवी पर आकर पीके का सामना करना पड़ता है। वह जग्गू की कथित प्रेम कहानी का इस्तेमाल अपनी साख को ज़माने के लिए करता है। इस तरह वह यह भी साबित करने का प्रयत्न करता है कि पीके दरअसल, एक विधर्मी और शत्रु देश का एजेंट है और हमारे धर्म (हिंदू धर्म) और हमारे देश (भारत) को बदनाम करने के लिए भेजा गया है। जग्गू जानती है कि यह मामला अगर उठता है तो तपस्वी महाराज न सिर्फ़ उसे बदनाम करने में कामयाब होंगे वरन पीके के लिए अपना रिमोट हासिल करना भी असंभव हो जायेगा। लेकिन पीके जो स्पर्श के द्वारा अतीत में हुई घटनाओं को देख सकता है (यह एलियन के साथ जोड़ी गयी एक ऐसी चमत्कारिक प्रविधि है जिसे फ़िल्म ईश्वर और धर्म से नहीं जोड़ती बल्कि उस ग्रह की वैज्ञानिक उपलब्धि से जोड़ती है), यह जान जाता है कि जग्गू सरफ़राज के बारे में एक ग़लतफ़हमी की शिकार है और इसी ग़लतफ़हमी को वह सरफ़राज़ द्वारा धोखा दिये जाने के रूप में देख रही है। जब चेपल में जग्गू सरफ़राज़ का इंतज़ार कर रही होती है, ठीक उसी समय एक अन्य लड़की, जिसके पास एक छोटा पिल्ला भी है, अपने प्रेमी का इंतज़ार कर रही है। वह लड़की उस पिल्ले को जग्गू को देकर स्वयं फादर से बात करने के लिए चली जाती है। ठीक उसी समय वह बच्चा चिट्ठी लेकर आता है जिसे कहा गया है कि उसे चिट्ठी उस लड़की को देनी है जिसके पास पिल्ला हो। जग्गू के हाथ में पिल्ला देखकर वह चिट्ठी भी उसे दे देता है। वह चिट्ठी न तो सरफ़राज़ की होती है और न ही वह जग्गू के लिए है। लेकिन चिट्ठी के मजमून को पढ़कर जग्गू को लगता है कि यह सरफ़राज़ ने उसके लिए भेजी है और यह जानकर कि सरफ़राज़ ने शादी करने से इन्कार कर दिया है, वह वहां से चली जाती है। जब सरफ़राज़ वहां पहुंचता है तब तक जग्गू जा चुकी होती है। सरफ़राज भी ठीक वही समझता है जो जग्गू समझती है यानी जग्गू भी विवाह से पीछे हट गयी है। पीके जग्गू से पूछता है कि उसने कैसे मान लिया कि चिट्ठी सरफ़राज ने भेजी है? पीके उसे सरफ़राज से संपर्क करने के लिए कहती है और कुछ कठिनाइयों के बाद वह सरफ़राज से संपर्क करने में कामयाब हो जाती है और इस तरह दो प्रेमी फिर से मिल जाते हैं। इस तरह महज़ संयोग से जो घटित हुआ लेकिन तपस्वी महाराज ने जिसे एक ख़ास अर्थ में ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया, वह भ्रमजाल न सिर्फ़ जग्गू का ख़त्म होता है बल्कि उसके पिता को भी लगता है कि तपस्वी महाराज के पास ऐसी कोई चमत्कारी शक्ति नहीं है जिसका वह दावा करता है। इस तरह जब लव जिहाद के बहाने हिंदू-मुसलमान के बीच प्रेम संबंधों को संदिग्ध बनाया जा रहा है और जब पाकिस्तान के विरुद्ध नफ़रत फैलायी जा रही है, ठीक

उस समय यह फ़िल्म यह संदेश देती है कि प्रेम में न धर्म देखा जाता है और न राष्ट्र। प्रेम करने का हक़ सबको है। जगतजननी और सरफ़राज़ को भी, भले ही उनका धर्म और उनका देश अलग-अलग ही क्यों न हो। प्रख्यात टेनिस खिलाड़ी सानिया मिर्ज़ा ने भारत के लिए कई अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिताएं जीतीं और दुनिया में भारत का नाम रौशन किया, लेकिन जब उसने एक पाकिस्तानी क्रिकेट खिलाड़ी शोएब मलिक से शादी की तो अचानक इन्हीं हिंदुत्वपरस्त ताक़तों द्वारा वह देशद्रोही और नफ़रत की हकदार बना दी गयी।

वैसे तो कम्युनिस्ट पार्टियों को छोड़कर प्रायः सभी बूर्ज्वा पार्टियां बाबाओं और मौलवियों का इस्तेमाल अपने राजनीतिक लाभ के लिए करती हैं, लेकिन भारतीय जनता पार्टी इस मामले में सबसे आगे है। जितने साधु-साध्वियां इस पार्टी में है, उतने किसी और पार्टी में नहीं। भाजपा इनका इस्तेमाल सांप्रदायिक ध्रुवीकरण के लिए करती है। चाहे लव जिहाद का मामला हो, या रामज़ादे और हरामज़ादे का मामला, या गोडसे के महिमामंडन का या हिंदू स्त्रियों को अधिकाधिक बच्चे पैदा करने का आह्वान करने का मामला—हिंदुत्व की विचारधारा को इन साधु-साध्वियों के माध्यम से अपने नग्न रूप में फैलाया जाता है। 'पीके' के तपस्वी महाराज पर हालांकि ऐसा कोई लेबल नहीं लगाया गया है, लेकिन वह अपने सोच और आचरण में भाजपा के बाबाओं के ज़्यादा नज़दीक नज़र आता है। यही नहीं, बाबा रामदेव की तरह वह भी बहुधंधी है और पीके से उसे अपने इन धंधों के बंद होने का ख़तरा पैदा हो जाता है।

'पीके' पर आरोप लगाया गया है कि यह हिंदू धर्म पर हमला करती है, उसका मज़ाक उड़ाती है लेकिन दूसरे धर्मों के बारे में कुछ नहीं कहती। दरअसल यह फ़िल्म किसी भी धर्म को नहीं बख़्शती। इसमें इस्लाम और ईसाई धर्म की कुछ प्रचलित रूढ़ियों को व्यंग्य का निशाना बनाया गया है। फ़िल्म ईश्वर के अस्तित्व को प्रश्नांकित करती है, लेकिन बहुत लुके-छिपे रूप में। लेकिन ऐसा करते हुए वह ईश्वर मात्र को, चाहे उसे भगवान कहें या गॉड या ख़ुदा, सभी के अस्तित्व को नकारती है। एक संस्था के रूप में वह धर्म (चाहे कोई भी धर्म क्यों न हो) मात्र को अपनी आलोचना और व्यंग्य का निशाना नहीं बनाती बल्कि इन धर्मों में प्रचलित रूढ़ियों और अंधविश्वासों को अपनी आलोचना और व्यंग्य का निशाना बनाती है और वह भी काफ़ी हल्के-फुल्के ढंग से। कमोबेश आम दर्शक के अपने अनुभव के दायरे में रहते हुए। दरअसल, आज का आम आदमी कई तरह के अंतर्विरोधों के बीच जी रहा है। वह एक ओर धार्मिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों और बाबाओं के चमत्कारों के चक्कर में भी पड़ा रहता है, लेकिन दूसरी ओर इनके प्रति उसके मन में संदेह भी बना रहता है। आसाराम बापू, बाबा रामदेव, या ऐसे सैकड़ों बाबाओं के प्रति आस्था रखने वाले लाखों-लाख होंगे, लेकिन इस देश में इन बाबाओं के प्रति अनास्था रखने वाले, इनका मज़ाक उड़ाने वाले लोगों की संख्या इनके अनुयायियों से कई-कई गुना ज़्यादा होगी। ईश्वर और धर्म की संकल्पना जितनी पुरानी है, उनको संदेह की दृष्टि से देखने की परंपरा भी कम पुरानी नहीं है। यह भारत के लिए भी सच है और अन्य देशों और समुदायों के लिए भी सच है। यह समझना भूल है कि हिंदू धर्म ही इस मामले में उदार है और अन्य धर्म अपनी आलोचना करने की छूट नहीं देते। लेकिन हम देखते हैं कि सभी धर्मों में सदैव ऐसे लोग और ऐसा साहित्य रहा है। मुस्लिम समुदाय में सलमान रश्दी और तसलीमा नसरीन जैसे साहित्यकार भी होते हैं और 'ख़ुदा के लिए' और 'बोल' जैसी साहसपूर्ण फ़िल्में भी बनायी जाती हैं और ऐसा करने के लिए वे अपनी जान भी जोख़िम में डालने से नहीं हिचकते।

मो. : 09810606751 / ईमेल : jparakh@gmail.com

दलित साहित्य की भाषिक सैद्धांतिकी

टेकचंद

भाषिक सैद्धांतिकी क्या है?

भाषा को भावों की अभिव्यक्ति से आगे प्रयोगकर्ता के बोध व अनुभव का सूचक कहा गया है। अनुभव के विस्तार से भाषा का विस्तार संबद्ध है। इस विषय में नामवर सिंह का कथन है, '...परिवेश का बोध भाषा की क्षमता पर निर्भर है। किसी की भाषा-शक्ति उसकी बोध-शक्ति का प्रमाण है : व्यक्ति का अपना भाषा संसार ही अनुभव का संसार है; इसलिए अनुभव-संसार के विस्तार के लिये भाषा-संसार का प्रसार अनिवार्य शर्त है।'[1] हालांकि यह काव्य भाषा के संदर्भ में कहा गया है लेकिन यहां दो बातें उभरकर आती हैं। एक, भाषा से व्यक्ति के बोध का ज्ञान होना; दूसरी, अनुभव के विस्तार के लिये भाषा के प्रसार की अनिवार्यता। पहली बात अनुभूति से संबद्ध है और दूसरी अभिव्यक्ति से।

समाज भाषा-विज्ञान यह स्पष्ट कर चुका है कि भाषा व्यक्ति और समाज से निरपेक्ष नहीं हो सकती। और जब व्यक्ति और समाज में स्तर भेद हो तो क्या उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति में अंतर न होगा? *भाषा और समाज* की भूमिका में रामविलास शर्मा लिखते हैं, 'यदि भाषा का संबंध समाज से है, उसका विकास सामाजिक संपर्क के एक साधन रूप में होता है, तो यह स्पष्ट है कि समाज का अध्ययन किये बिना सामाजिक संपर्क स्थापित करने के साधन का अध्ययन भी नहीं हो सकता। समाज एक गतिशील प्रक्रिया है। उसमें वर्ग हैं, वर्ग संघर्ष है, व्यक्तिगत संपत्ति है, शोषण है और शोषण के विरुद्ध जनता का संघर्ष है...।'[2]

जबकि भाषा का संबंध समाज से है और समाज एक गतिशील प्रक्रिया है, तब उसकी भाषा भी गतिशीलता को व्यक्त करेगी। समाज में वर्ग और वर्ग संघर्ष है तो भाषा उससे कैसे अछूती रह सकती है? भाषा में वह स्तर भेद नज़र आना चाहिये जो समाज में मौजूद है। भाषा सामाजिक परिवर्तन को उसकी ऐतिहासिकता में व्यक्त करती है। 'किसी भी वक्ता द्वारा प्रयुक्त भाषा उसके वर्ग, भौगोलिक क्षेत्र, व्यवसाय, जातीयता और लिंग इत्यादि से प्रभावित होकर विशिष्ट रूप धारण कर ही लेती है। मनुष्य अपने आसपास के परिवेश ओर समाज से, वातावरण से भाषा सीखता है, इसलिए उसकी भाषा में उसका समाज प्रतिबिंबित होती ही है। लोगों के भाषा व्यवहार में जितने भेद दिखाई देते हैं, वे वास्तव में समाज में व्याप्त भेद और विविधताएं होती हैं जिन्हें भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति भी मिलती है। इसलिए समाज-भाषावैज्ञानिक विषमरूपी भाषा व्यवहार को भाषा का वास्तविक रूप मानकर उसके अध्ययन पर

बल देते हैं।'[3] जब हम भारतीय समाज को नज़दीक से देखते हैं तो समाज में व्याप्त विषमता तथा स्तर भेद भाषा में भी दिखायी पड़ जाता है। इस दृष्टि से दलित साहित्य का अध्ययन उपयोगी होगा।

दलित साहित्य : विचार और भाषा

गौतम बुद्ध का दर्शन और विचार दलित साहित्य तथा विमर्श का आधार है। बाद में सिद्धों, नाथों तथा संत कवियों ने इसे रचनात्मक धरातल पर आगे बढ़ाया। जाति के विरोध में यह बड़ा आंदोलन था जिसे भक्ति-साधना के रूप में परिभाषित किया गया। डॉ. अंबेडकर के संघर्षों ने इसे वैचारिक तथा क़ानूनी रीढ़ दी। बाद में यह एक राजनैतिक-सामाजिक आवश्यकता के रूप में जाना गया। जहां तक भाषा का सवाल है, यह सदैव जनभाषा (लोकभाषा) में रहा है। आलोचकों ने 'लोक' को 'शास्त्र' के बरक्स खड़ा किया। सबाल्टर्न स्कूल के सिद्धांतकारों ने अस्मितावादी विमर्शों को उन्हीं की भाषा में लिखने-कहने को प्रेरित किया। ज़ाहिर है कि सदियों तक समाज के हाशिये पर रहने के कारण शिक्षा, सम्मान, संसाधनों से वे सदैव वंचित रहे हैं। इसका असर उनके भाव-बोध और फिर अभिव्यक्ति पर पड़ना ही था। किसी के रोने को ये तो नहीं कह सकते कि सुर में रोये। रुदन तो रुदन है, क्रोध को भी संयमित नहीं किया जा सकता। इसी तरह विरोध-प्रतिरोध होगा तो वह भी बहुत व्यवस्थित नहीं होगा। उसके भाव-बोध में जो संकल्पनाएं नहीं अटेंगी, उनका विरोध करेगा ही। इसलिए दलित लेखन हो या स्त्रीवादी स्वर, सबसे पहले ब्राह्मणवादी वैचारिकी और पितृसत्ता का विरोध वहां प्राथमिक स्तर पर मिलता है। इस विरोध की मुखर अभिव्यक्ति साहित्य में मिलती है।

स्त्री-विमर्शकार तो भाषा के एकांगी पक्ष को ठुकरा चुके हैं। भाषा के सजग प्रयोग और पुंसवादी नज़रिये का वे विरोध कर चुके हैं। वे भाषा की लड़ाई को राजनैतिक लड़ाई मानते हैं।'[4] भाषिक सत्य को वे एकांगी सत्य मानते हैं। 'एकांगी सत्य' और 'राजनैतिक लड़ाई' से दलित रचनाकारों का वास्ता भी पड़ रहा है। मैं ज़ोर देकर कहना चाहता हूं कि हिंदी साहित्य का जो पुनर्लेखन आज चल रहा है, वह मुख्यधारा के विचारकों के लिये बेशक नया है, लेकिन स्त्री और दलित चिंतक तो इसे बहुत पहले शुरू कर चुके हैं। मुख्यधारा के आलोचकों ने बेशक नये ज्ञान-विज्ञान के औज़ारों के विकसित होने पर साहित्य व इतिहास के पुनर्मूल्यांकन की ज़रूरत महसूस की, लेकिन स्त्री और दलित रचनाकार तो इसे पहले ही अधूरा व अपर्याप्त घोषित कर पूरक साहित्य की रचना कर रहे थे। इसके लिए किसी नये औज़ार ने नहीं, 'भुक्तभोगी की पीड़ा' ने उन्हें प्रेरित किया।

स्त्री रचनाकार तो हिंदी साहित्य के इतिहास को अधूरा इतिहास घोषित कर ही चुके हैं, दलित रचनाकारों ने भी उसे एकांगी और अपर्याप्त बताया है। साथ ही, ये दोनों वर्ग लगातार साहित्य रचना कर रहे हैं। इनके साहित्य में अनुभूति की प्रमाणिकता और वास्तविक अनुभवों का भाव संसार है। इसमें यथास्थितिवाद का विरोध, शोषण और अन्याय के ख़िलाफ़ संघर्ष है। शोषण, अन्याय, विषमता का विरोध करने के कारण दलित साहित्य के प्रयोजन वे नहीं रहे जो मुख्य धारा के साहित्य के हैं।

दलित साहित्य की भाषिक सैद्धांतिकी

शब्दों का प्रकार्य मात्र अभिव्यक्ति न होकर एक भाव संसार का निर्माण है। यह भाव संसार आज रचा जा रहा है लेकिन इसकी जड़ें अतीत में हैं। एक ऐसा अतीत जो दुख-तकलीफ़ों, यंत्रणाओं से भरा है।

ऐसे में दलित रचनाकारों द्वारा प्रयुक्त शब्द महत्वपूर्ण हो जाते हैं। एक-एक शब्द, एक-एक स्थिति अवधारणा तक जाना होगा। शब्दों के इतिहास के लिए शब्द कोश तक न जाकर उनके इतिहास तक जाना होगा। शब्दों के इतिहास, शब्दों से अभिव्यक्त होने वाले समाजशास्त्र, उसकी राजनैतिक भूमिका को देखना होगा। अब यदि दलित कवि डॉ. सी.बी. भारती 'चुनौती' कविता लिखते हैं तो क्या उसका अर्थ वहीं तक है? 'हमारी भागीदारी के लिए/योग्यता की शर्त/कब तक फेंकोगे तुम/अपना मकड़जाल हम पर?'[5] क्या यह कविता दलित साहित्य के समाजशास्त्रीय संदर्भों के बिना समझ आ सकती है? इसके लिए लिखित शब्दों के पार जाना होगा। इसी उपक्रम में दलित वैचारिकी को स्वयं का पुनर्मूल्यांकन भी करना होगा। अपनी शब्दों संकल्पनाओं पर ध्यान देना होगा। जैसे बुद्ध को भगवान मानना। यदि भगवान ही मान लिया तो अन्य भगवान भी मानने होंगे, हिंदुत्व के शब्द, प्रतीक और उनके पीछे छिपे मंतव्य भी मानने समझने होंगे। रमणिका गुप्ता लिखती हैं, 'दलित साहित्य ने नये बिंब गढ़े, पौराणिक मिथकों की परिभाषा बदल डाली। नये मिथक बनाए, गौरवान्वित झूठ और आस्था पर चोट की और चमत्कार को तोड़ा।'[6] इसी प्रकार 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' की व्याख्या करते हुए शरण कुमार लिंबाले मुख्य धारा की 'आनंदवादी' अवधारणा को नकार देते हैं। लिंबाले स्पष्ट लिखते हैं, 'मराठी साहित्य का सौंदर्यशास्त्र आनंद पर आधारित है तो दलित साहित्य का व्यथा या वेदना पर। दलित साहित्य में व्यक्त हुई वेदना और विद्रोह पढ़कर पाठक बेचैन होगा या आनंदित? दलित साहित्य पाठक को बेचैन करने वाला साहित्य है।... दलित चेतना क्रांतिकारी मानसिकता है। यह चेतना आनंद पर निर्भर न होकर समता, स्वतन्त्रता, न्याय और बंधुभाव पर आधारित है। इसलिए दलित समीक्षकों को सौंदर्य की कल्पना बदलना महत्वपूर्ण लगता है। सौंदर्य की कल्पना हर युग में होने वाले विचारों से संबंधित होती है। एक समय में राजा-महाराजा ही साहित्य के विषय रहते थे। पर आज गांव की सीमा के बाहर झुग्गी-झोंपड़ी में जिया जाने वाला जीवन साहित्य का विषय बन गया है। सौंदर्य की कल्पना बदलना इसलिए भी ज़रूरी हो गया है चूंकि पारंपरिक सौंदर्यशास्त्रीय कल्पना स्वीकार करके दलित साहित्य का सृजन एवं दलित साहित्य में विद्रोह और नकार का अन्वेषण करना संभव नहीं है।'[7] स्पष्ट है कि जब दलित साहित्य ही पारंपरिक साहित्य से अलग है, तब उसके सौंदर्यमूलक मापदंड इस पर कैसे खरे उतरेंगे? वैसे भी हिंदी साहित्य का सौंदर्यशास्त्र संस्कृत काव्यशास्त्र की व्याख्याओं से लिया गया है। ऊपर से तब और आज की परिस्थितियों में भी शताब्दियों का अंतर आ चुका है; जब जीवन मूल्य दिन प्रतिदिन बदल रहे हैं तब क्या सौंदर्य मूल्य नहीं बदलेंगे?

अपेक्षा पत्रिका के संपादकीय में डा. तेज सिंह ने विस्तार से इस पर विचार किया है और इसे 'शब्द और अर्थ का व्याख्याशास्त्र' करार दिया है। डा. तेज सिंह विश्लेषण करते हुए लिखते हैं : 'संस्कृत-काव्यशास्त्र के आचार्यों ने रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य आदि सिद्धांतों के आधार पर काव्य लक्षण (स्वरूप), काव्य की आत्मा, काव्य-हेतु (प्रेरणा), काव्य प्रयोजन, काव्य के अधिकारी और काव्य भेद आदि पर विचार करते हुए रचना के शब्द-अर्थ की व्याख्या पर ही अपना ध्यान केंद्रित किया है। काव्य-रचना को सामाजिक संदर्भों से पूरी तरह काटकर शब्द-अर्थ तक ही सीमित कर दिया है और इस तरह काव्य-रचना का सारा सौंदर्य शब्द-अर्थ की व्याख्या में ही सिमट कर रह गया है।'[8] अपने अध्ययन में तेज सिंह काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में बताये गये काव्य हेतु—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास—पर प्रश्नचिह्न लगा देते हैं। क्योंकि प्रतिभा हाशिये पर के समाज में मानी ही नहीं गयी। यदि कोई प्रतिभाशाली हो

भी गया तो उसे ब्राह्मण सिद्ध करने का प्रयास किया गया, जैसे कबीर। प्रतिभा को ब्राह्मणों की बपौती मान लिया गया। प्रतिभा के अभाव में व्युत्पत्ति यानि निपुणता कहां से आयेगी? और अभ्यास कोई कैसे कर लेगा? यदि वह ब्राह्मणवादी समाज में ऐसा करता है तो उसका हश्र शंबूक और एकलव्य जैसा कर दिया जायेगा।

ऐसा क्यों है कि शरण कुमार लिंबाले 'आनंद' को ख़ारिज कर रहे हैं तो ओम प्रकाश वाल्मीकि 'शब्दों, प्रतीकों, बिंबों'[9] को और तेज सिंह काव्यशास्त्र को? स्पष्ट है कि दलित वैचारिकी एक ऐसे सौंदर्यशास्त्र की मांग करती है, जिसका आधार जनसाधारण हो, जन समाज हो, जिसमें हाशिये पर का सारा समाज अंट सके। अगर ऐसा नहीं होगा तो दलित वर्ग मुख्यधारा के मानदंडों में उलझकर रह जायेगा। इसके उदाहरणस्वरूप *अपेक्षा* जनवरी-मार्च 2013 के अंक में कृष्णदत्त पालीवाल का लेख लिया जा सकता है।

प्रस्तुत लेख में पालीवाल जी ने बात तो दलित विचाराधारा की कही है लेकिन उनकी भाषा एकदम हिंदुत्ववादी शब्दों-प्रतीकों से भरी हुई है। उदाहरणस्वरूप कुछ शब्दों का उल्लेख किया जा सकता है—जैसे, पृष्ठ 54 पर शब्द 'अखंड अंगद शक्ति', 55 पर प्रभु वर्ग, छल-प्रपंची, अभागा, अज्ञान, तांत्रिक, साधना, भूमि, मणि-मंत्र, महामंत्र, निष्ठा, वज्रांग शक्ति, मठ ध्वंस[10] इत्यादि। इनमें से अधिकांश शब्द ब्राह्मणवादी वैचारिकी से लिये गये हैं। ऐसे में विमर्श तो पीछे छूट जायेगा और पाठक शब्दों के माध्यम से आयी ब्राह्मणवादी वैचारिकी से चिपक जायेगा, जबकि दलितों की बात इस भाषा में कही जा रही है। ऐसे में सावधानी से अपनी भाषा का चुनाव करना चाहिए। इस संबंध में वी.एन. वोलोशिनोव *मार्क्सवाद और भाषा का दर्शन* पुस्तक में लिखते हैं : 'शब्द के बारे में उसके संकेत की शुद्धता का उतना महत्व नहीं है जितना कि उसकी सामाजिक सर्वव्यापकता का। सामाजिक संसर्ग के सभी क्षेत्रों में व्याप्त असंख्य विचारधारात्मक सूत्र शब्दों में ही अपना प्रभाव व्यक्त करते हैं। अतः यह कहना तर्कसंगत होगा कि शब्द सामाजिक परिवर्तनों का सबसे संवेदनशील सूचक है, और इतना ही नहीं, यह उन परिवर्तनों का भी सबसे संवेदनशील सूचक है जो अभी विकास की प्रक्रिया में हैं, जिन्होंने अभी निश्चित स्वरूप ग्रहण नहीं किया है और न ही अभी पहले से सुव्यवस्थित और पूरी तरह परिभाषित विचारधारात्मक प्रणालियों में समायोजित हुए हैं।'[11] प्रस्तुत मान्यता दलित साहित्य तथा उसकी वैचारिकी पर सटीक बैठती है। चूंकि आज भी जनसाधारण में ब्राह्मणवादी वैचारिकी के शब्द व्याप्त हैं, लोग शब्दों के द्वारा लक्षित अर्थ तक पहुंचते हैं, और जब शब्द ही उन्हें लक्ष्य से भटका दें तो? हम जानते हैं कि एक प्रबुद्ध विचारक भाषा और शब्दों का प्रयोग अनायास नहीं करता; 'भाषा समाज के सभी वर्गों के प्रति तटस्थ होती है, लेकिन विभिन्न सामाजिक वर्ग भाषा के प्रति तटस्थता का रुख नहीं अपनाते। वे भाषा का अपने हक़ में इस्तेमाल करने के उद्देश्य से उस पर अपनी विशेष शब्दावली और अभिव्यक्तियां आरोपित करते हैं। आम लोगों की बोलचाल की शब्दावली व शैली से अलग, शासक वर्ग प्रायः अपनी विशेष 'जमाती भाषा (lingo), वर्ग-उपभाषा (dialect) और वर्ग-बोली (Jargan) इस्तेमाल करते हैं।'[12] यहां पर हम 'सहानुभूति' और 'स्वानुभूति' की बात भी कर सकते हैं। स्त्री व दलित से इतर वर्ग जब उनकी बात करता है तो वह 'सहानुभूति' की श्रेणी में आ जाती है, क्योंकि वहां 'भाषा का अपने हक़ में इस्तेमाल करने के उद्देश्य से उस पर अपनी विशेष शब्दावली और अभिव्यक्तियां आरोपित' करने की पूरी संभावना रहती है। 'स्वानुभूति' इसी कारण ज़रूरी हो जाती है, क्योंकि अपने मूल चरित्र में शब्द संबद्ध परंपरा का निर्वाह करते हैं—'शाब्दिक संप्रेषण, एक अवस्थिति के साथ, अपने ठोस संयोजन में, अपने साथ हमेशा ही एक

ग़ैर-शाब्दिक चरित्र की सामाजिक कार्यवाईयां (जैसे श्रम कार्य का संपादन, कोई धार्मिक अनुष्ठान, समारोह आदि) लिये होता है।'[13] 'सहानुभूति', 'स्वानुभूति' के साथ 'शाब्दिक संप्रेषण' की यह बात 'दलित' व 'ग़ैर दलित' साहित्य, दोनों पर लागू होती है।

'शाब्दिक संप्रेषण' का उदाहरण देने के लिए मोहनदास नैमिशराय के उपन्यास *मुक्तिपर्व* के नामकरण वाले प्रसंग को लिया जा सकता है। बंसी के पुत्र जन्म पर जब पुरोहित आता है तो लोग उसे ख़ाली हाथ लौटा देते हैं। 'कालू, चेतू, बुद्ध, रगडू' आदि नाम रखकर दक्षिणा वसूल पाने वाले पंडित को लोग व्यंग्य कर लौटा देते हैं और बच्चे का नाम स्वयं रखते हैं, 'सुमित'। यह न केवल 'पौरोहित्य' के ख़िलाफ़ विद्रोह है बल्कि थोपी जाने वाली भाषा के ख़िलाफ़ भी विद्रोह है, और शब्दों पर सवार होकर आती हीनताबोध वाली विचारधारा के ख़िलाफ़ भी विद्रोह है। इसी प्रकार हिंदी दलित साहित्य की प्रतिनिधि कृत *जूठन* से भी उदाहरण लिया जा सकता है, 'इन सब कामों के बदले मिलता था दो जानवर पीछे फसल के समय पांच सेर अनाज यानी लगभग ढाई किलो अनाज। दस मवेशी वाले घर से साल भर में 25 सेर (लगभग 12-13 किलो) अनाज, दोपहर को प्रत्येक घर से एक बची-खुची रोटी, जो ख़ासतौर पर चूहड़ों को देने के लिए आटे में भूसी मिलाकर बनायी जाती थी। कभी-कभी जूठन भी भंगन की टोकरी में डाल दी जाती थी।'[14] यहां बेशक परंपरागत भारतीय सौंदर्यबोध नहीं दिखायी देता हो, लेकिन 'श्रमकार्य के संपादन' और 'उत्पादन संबंधों' को यथार्थवादी ढंग से चित्रित किया गया है जो आज का सौंदर्यशास्त्रीय मानदंड है।

इसी तरह का उदाहरण शरण कुमार लिंबाले कृत *अक्करमाशी* से लिया जा सकता। यहां भूख का वर्णन ऐसा है जो सवर्ण साहित्यकार चाह कर भी प्रस्तुत नहीं कर सकते। कुबेरनाथ राय अपने प्रसिद्ध निबंध 'रस आखेटक' में पूर्वी यू.पी. के चमारों की भुखमरी का वर्णन करते हुए लिखते हैं, 'इस स्थल पर रस-आखेटक को अपने गांव के चमारों का ग्रीष्मकालीन भोजन याद आ जाता है। लोग शायद विश्वास न करें। चैत में खलिहान में दांय (दंवरी) करते समय पशुओं के गोबर से उनके निरंतर अन्न खाते रहने से कुछ अन्न अनपचा रह जाता है। यह अन्न चमार गोबर में से बीन लेते हैं और इसे धोकर-सुखाकर गरमी के बेकारी के दिनों में इसे खाते हैं। समस्त पूर्वी यू.पी. में यह होता है। रस-आखेटक जब यह सोचता है तो उसकी आत्मा में घाव हो जाता है, उसका घोड़ा तनकर खड़ा हो जाता है, उनके मन में क्रोध के पवित्र फूल फूटने लगते हैं।'[15] प्रस्तुत प्रसंग की तुलना यदि शरण कुमार लिंबाले की आत्मकथा *अक्करमाशी* से करें तो अंतर पता चलता है, 'अरे, यह क्या? रोटी में तो गोबर की दुर्गंध थी! इतनी कि मानो मैं गोबर की रोटी चबा रहा था। मैं उसे सहजता से भीतर धकेल नहीं सका। बड़ी मुश्किल से उसे भीतर धकेल पाया और बचे टुकड़े को मैंने लौटा दिया।... आश्चर्य कि संतामाय उस रोटी को सहजता से खा रही थीं। मुझे आश्चर्य होता कि संतामाय को उबकाई क्यों नहीं आती? गोबर की दुर्गंध उन्हें क्यों नहीं महसूस होती? हाथ का निवाला मुंह में जाता, पेट में उतरता और लुप्त हो जाता।'[16] यहां बेशक 'आत्मा में घाव' तथा 'क्रोध के पवित्र फूल फूटते' न दिखें, लेकिन यह दर्द, यह शोषण, भूख की यह विभीषिक भारतीय समाज के मूल चरित्र को शत प्रतिशत दर्ज कर रहे हैं। बहुत सरल सीधी भाषा में एक जटिल सामाजिक स्थिति व्यक्त हो गयी है। यह दलित साहित्य की अपनी भाषिक प्रकृति है। यहां 'आत्मा', 'पवित्र', 'क्रोध', 'भाग्य' जैसे शब्द न होते हुए भी एक बड़ी वास्तविकता सहजता से प्रकट हो जाती है और गहरा अर्थ छोड़ती है। इस बात को और बेहतर ढंग से समझने के लिए प्रेमचंद गांधी की

कविता 'भय आरक्षण का' से उद्धरण लिया जा सकता है, 'भाषा, व्याकरण, समाज और संस्कृति/सभी पर तो उनका हक़ था/ सारी मेधा पर/उनका ही आधिपत्य था/कोई दीन-हीन इस वर्जित क्षेत्र में/कैसे और क्यों दाख़िल हो जाये/अगर यही हाल रहा तो/उनकी आगे आने वाली पीढ़ियों का क्या होगा/क्या वे कटोरा लेकर भीख मांगेंगी।'[17] प्रस्तुत कविता शताब्दियों से हो रहे अन्याय व शोषण को अर्थ दे रही है।

विषय-वस्तु से लेकर अपने शीर्षक तक में दलित साहित्य की भाषिक रचना ख़ासी व्यंजक है। शीर्षक परंपरागत भाव बोध को तोड़ते हैं : *जूठन, अछूत, तिरस्कृत, अक्करमाशी, छप्पर, अपने-अपने पिंजरे, मुर्दहिया, मणिकर्णिका, बस्स बहुत हो चुका, सदियों का संताप, एक भंगी उपकुलपति की अनकही कहानी, दोहरा अभिशाप, झोंपड़ी से राजभवन, नरक सफ़ाई, उठाईगीर, उचक्का, डेरा डंगर, तिरस्कार* आदि।

यहां शीर्षक ही एक व्यापक समाजशास्त्र को ध्वनित करता है। मुख्यधारा की रचनाओं (विशेषकर आत्मकथाओं) के शीर्षक गौरव या आनंद की अनुभूति करवाते हैं जबकि दलित रचनाओं के शीर्षक उसके पीछे छिपे अर्थों, अवधारणाओं की पीड़ा को बयान करते हैं। ये शीर्षक थोपी, लादी गयी ब्राह्मणवादी वैचारिकी को उजागर करते हैं। भाषिक दृष्टि से देखें तो ये शीर्षक प्रयोक्ताओं के अनुभव संसार, सामाजिक स्थिति और इतिहास को सटीक रूप से बयान कर देते हैं। इसी प्रकार दलित कहानी को भी लिया जा सकता है। दलित कहानी भारी-भरकम शब्दावली और सधी-बंधी भूमिका के उलट एकदम समस्या के बीचोंबीच लाकर खड़ा कर देती है। रत्न कुमार सांभरिया की कहानी 'डंक' का उदाहरण लिया जा सकता है : 'धुंधलका उतर चुका था। खेरा सरसों के खेत की मेंड़ पीछे बैठा था। उसे हाजत थी। पीछे से दो-तीन लाठियां तड़ातड़-तड़ातड़ उसकी कमर पर पड़ीं। तीव्र आर्त्तवेदना से उसने पीछे मुड़कर देखा। निष्ठुर आततायी अंधेरे की आड़ सरसों के खेतों में कहीं निकल गया था। सरपट। चपल सांपिन सा।'[18] स्पष्ट हो जाता है कि दलित कहानी हिंदी कहानी के परंपरागत रूप-बंधों से मुक्त है। दलित समाज की संवेदना ही उसके शिल्प का निर्माण करती है। बिना किसी शब्दाडंबर के। ऐसी ही एक अन्य कहानी है युवा लेखक संदीप मील की, 'एक प्रजाति हुआ करती थी जाट।' कहानी बेहद रोचक और व्यंग्यात्मक है लेकिन एक बड़ी वास्तविकता को बयान करती है, 'प्रेम को फांसी दे दो। प्रेम करने वालों को फांसी दे दो। संदीप मील को फांसी दे दो! संदीप मील को फांसी क्यों? क्योंकि वह जाट है। जाट तो हम भी हैं? लेकिन वह जाट होकर प्रेम करता है, इसलिए उसे फांसी दे दो। खाप पंचायत के हुक्म के मुताबिक प्रेम को फांसी दे दी गयी है।'[19] ऐसे और भी उदाहरण लिये जा सकते हैं जो दलित कहानी को मुख्य-धारा की कहानी कला से अलगाते हैं।

दलित साहित्य मुख्यधारा के साहित्य का पुनर्लेखन करता है। दलित साहित्य मुख्यधारा के सौंदर्य बोध से अलग सौंदर्य बोध का निर्माण करता है। यहां आनंद के बजाय यथार्थ पर ज़ोर दिया जाता है। दलित साहित्य का उद्देश्य मनोरंजन या आनंद नहीं है, बल्कि बहुजन समाज के दुख, दर्द, पीड़ा, अन्याय व शोषण कों ज्यों का त्यों पाठक वर्ग तक पहुंचा देना है। दलित साहित्य की भाषा सीधी, सपाट, मारक अभिव्यक्तियों से बनी है। चूंकि दलित साहित्य के अनुभव ऊबड़-खाबड़, अंतस की छील-छाल करने वाले, अन्याय और शोषण से भरे हैं, अतः उनकी भाषा में किसी तरह का लालित्य, सौंदर्य, लक्षणा खोजना ठीक नहीं होगा। दलित साहित्य के शब्द अवधारणात्मक हैं। दलित साहित्य की भाषा श्रम संपादन तथा उत्पादन-प्रक्रिया से उपजी है, अतः उसके शब्द श्रमशील, संघर्षशील चेतना को सामने लाते हैं। दलित

साहित्य हिंदुत्ववादी, ब्राह्मणवादी वैचारिकी, मिथकों, प्रतीकों का विरोध करती है, अतः उनके शब्द, प्रतीक व मुहावरे प्रतिरोधपरक तेवर लिए हुए होते हैं। दलित साहित्यकार भाषिक रूप से सजग व सचेत है। वह जानता है कि विचार भाषा और शब्दों पर सवार होकर आते हैं। इसीलिए दलित साहित्य की भाषिक सैद्धांतिकी परंपरागत भाषिक अनुशासन के प्रतिरोध की सैद्धांतिकी है।

मो. 9650407519

संदर्भ

1. *कविता के नये प्रतिमान,* पृ. 111.
2. *भाषा और समाज,* पृ. 16.
3. रजनी दिसोदिया, *भाषा साहित्य और सर्जनात्मकता,* पृ. 187.
4. सुधा सिंह, *स्त्रीवादी साहित्य विमर्श,* पृ. 286.
5. *सिसकता आत्मसम्मान,* कविताएं सी.बी. भारती, पृ. 82.
6. रमणिका गुप्ता, *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र,* पृ. 90.
7. शरण कुमार लिंबाले, *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र,* पृ. 115-116.
8. *अपेक्षा* 30-31, जनवरी-जून 2010.
9. ओमप्रकाश वाल्मीकि, *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र,* पृ. 84.
10. *अपेक्षा,* जनवरी-मार्च 2013.
11. वी.एन. लोवोशिनोव, *मार्क्सवाद और भाषा का दर्शन,* पृ. 54-55.
12. वही, पृ. 37.
13. वही, पृ. 145.
14. ओमप्रकाश वाल्मीकि, *जूठन,* पृ. 19.
15. *गद्य धारा,* पृ. 131.
16. शरण कुमार लिंबाले, *अक्करमाशी,* पृ. 48.
17. *फॉरवर्ड प्रेस,* मई 2014, पृ. 62.
18. *दलित समाज की कहानियां,* पृ. 138.
19. *फॉरवर्ड प्रेस,* मई 2014, पृ. 67.

बेगम अख़्तर की जन्मशती पर

लेकिन अभी तक याद के साये नहीं जाते

कांतिमोहन 'सोज़'

बेगम अख़्तर का यह जन्मशती वर्ष है। उनकी शख़्सियत और गायकी की याद इसलिए ज़रूरी है कि हमारे समाज को यह अहसास हमेशा बना रहे कि हमारी साझा संस्कृति के विकास में सभी मज़हबों, धर्मों और समुदायों के महान कलाकारों का योगदान है जिसे सांप्रदायिक फ़ासीवादी ताक़तें हर रोज़ मिटाने में लगी हैं। —सं.

बेगम अख़्तर आज भी एक पहेली बनी हुई हैं। उनकी ज़िंदगी और ग़ैर-मामूली कामयाबियों का बयान करनेवाली किताबों और संस्मरणों की कमी नहीं, लेकिन फिर भी उनके जीवन का प्रामाणिक वृत्तांत तैयार करना आसान नहीं है। उनके लाखों प्रशंसक हैं और सैकड़ों परिचित। दर्जनों शागिर्द हैं जिन्होंने उनसे गायकी के गुर सीखे और फिर अपने सैकड़ों शागिर्दों को सिखाये। उनमें से कई तो ऐसी हस्तियां हैं जिनमें उन्हें अपनी अम्मी बताने में एक-दूसरी से होड़ ही लगी रहती है। बेगम का दिल प्यार का ख़ज़ाना था और उन्होंने इस बेशक़ीमत चीज़ को दोनों हाथों लुटाया। अंजलि बनर्जी, शांति हीरानंद और रीता गांगुली जैसी शागिर्दों में तो उनकी जान बसती थी। ऐसे लोगों से यह उम्मीद करना ज़्यादती नहीं कि वे अपने राग-द्वेष को बालाए-ताक़ रखकर अपनी उस्ताद की एक सादा-सच्ची तस्वीर पेश करें जो उन लोगों की कुछ मदद कर सके जो अपनी बेगम की एक झलक देखने से भी महरूम रह गये। बेगम अख़्तर बेशक उनकी महबूब गायक हैं लेकिन उनसे उनका रिश्ता आवाज़ तक ही महदूद है। मगर सबने निराश किया। तीनों ही सुगम संगीत के आकाश की उज्ज्वल नक्षत्र थीं और कोशिश करतीं तो अपने पाठकों को वास्तविक बेगम अख़्तर के व्यक्ति और गायक से मिलवा सकती थीं। मगर गैर-ज़रूरी ब्यौरों में उलझकर रह गयीं या फिर बेगम के विरसे पर दावे की ग़रज़ से उनसे अपनी मुनासबत साबित करने में लगी रहीं। बेगम की ज़िंदगी से भी उन्होंने ऐसे वाक़यात ही चुनना बेहतर समझा जो चटखारेदार तो थे लेकिन किसी गंभीर पाठक की तवज्जो के हक़दार न थे। मिसाल के तौर पर, यह जानने में कि संगीतकार मदनमोहन उनके दोस्त थे या जांनिसार, या वे नवाब रामपुर की सिर्फ़ वज़ीफ़ा-ख़्वार थीं या उनसे उनके जिस्मानी ताल्लुक़ात भी थे, इन सब बातों में हमारी या आपकी क्या दिलचस्पी हो सकती है?

लेकिन इस अंधेरे में रौशनी की किरण भी नज़र आयी। उनकी एक सहेली के बेटे अशरफ़ ए. ख़ां ने 'मल्लिकाए-ग़ज़लः बेगम अख़्तर' शीर्षक से एक संस्मरणात्मक लेख लिखा है जो अंतर्जाल पर आसानी से उपलब्ध है। हमारी समझ से बेगम अख़्तर पर लिखे गये लेखों आदि में उनकी ज़िंदगी के बारे में सबसे प्रामाणिक ब्यौरा उसी लेख में मिलता है। आगे उनके जीवन की जो रूपरेखा पेश की जा रही है, उसमें अशरफ़ ए खां के उस लेख से काफ़ी मदद ली गयी है।

अख़्तरीबाई फ़ैज़ाबादी से ज़ाहिर होता है कि उनका जन्म फ़ैज़ाबाद में हुआ होगा, लेकिन यह सच नहीं है। सचाई यह है कि फ़ैज़ाबाद ज़िले के भदरवा क़स्बे में 7 अक्टूबर 1914 के दिन मुश्तरी बाई ने जुड़वां बच्चियों को जन्म दिया जिनके नाम असग़री और अख़्तरी रखे गये। इनके पिता थे, बहुप्रतिष्ठित सिविल जज असग़र मियाँ। मुश्तरी बाई अपने ज़माने की मशहूर तवाइफ़ थीं जिनके नाच-गाने और रूप-गुण की धूम थी। असग़र मियाँ लखनऊ के एक आला खानदान से ताल्लुक़ रखते थे और उर्दू शायरी, ग़ज़ल और ठुमरी और मुजरा-महफ़िल के शौक़ीन थे। क्या ताज्जुब था कि मुश्तरी पर उनका दिल आ गया और उन्होंने उसे रख लिया। लेकिन असग़र मियां और मुश्तरी की ज़्यादा दिन बनी नहीं। मुश्तरी को वकील साहब की दूसरी बीवी बनना तो मंजूर था, रखैल बनकर रहना नहीं। जज साहब ब-ज़ाते-ख़ुद तो रौशनदिमाग़ इंसान थे, लेकिन वो एक ख़ानदानी शख़्स भी थे; ख़ानदान निहायत दक़ियानूसी था और किसी क़ीमत पर उसे बीवी का दर्जा देने को तैयार न था, मगर इससे कम पर मुश्तरी राज़ी न थी। तवाइफ़ थी तो क्या हुआ? क्या तवाइफ़ इंसान नहीं होती? क्या वो आत्मसम्मान की रक्षा के लिए संघर्ष नहीं कर सकती? जज साहब ने उसे घर से निकाल दिया। वो अपनी दोनों बच्चियों को साथ लिये निकल गयी और हर चुनौती की तरह अकेले इन बच्चियों की परवरिश करने की नयी चुनौती को भी क़बूल किया। जज साहब ने तो अपने कारनामे का अंजाम मुड़कर भी नहीं देखा। बचपन में ही असग़री, जिसका घरेलू नाम ज़ोहरा था (अख़्तरी को घरवाले बिब्बी बुलाते थे), मुफ़लिसी और बीमारी का शिकार होकर चल बसी और अपनी मां और बहन का जीना अजीरन कर गयी। कहा जाता है कि किसी ने उसे ज़हर देकर मार दिया था।

जुड़वां बच्चों का बिछुड़ना क़यामत से कम नहीं होता। ज़िंदगी भर रहनेवाले इस दर्द को या तो भुक्तभोगी समझ सकता है या वो शख़्स जिसने ऐसे किसी व्यक्ति को नज़दीक से देखा हो। हालांकि असग़री की मौत के वक़्त उनकी उम्र ढाई साल के आस-पास थी लेकिन बेगम जब तक ज़िंदा रहीं, जुदाई के इस दर्द को सीने से लगाए रहीं; कैप्सटन के हज़ारों डब्बे और उम्दा शराब की हज़ारों बोतलें उनका यह ग़म ग़लत न कर सके। मुर्दा महफ़िल में भी अपनी आवाज़ से जान फूंक देनेवाली बेगम अख़्तर महफ़िल उखड़ते ही कटे पेड़ की तरह गिर जाती थीं और फिर सिगरेट और शराब के अलावा उन्हें और कुछ सूझता ही नहीं था।

मुश्तरीबाई ने अकेले ही मां और बाप के फ़रायज़ अंजाम देने की ज़िम्मेदारी बड़ी शान से निभायी और अपना यह मक़सद एक लम्हे के लिए भी नज़रों से ओझल नहीं होने दिया कि उसे अपनी बिटिया को तवाइफ़ नहीं, किसी शरीफ़ खानदान की इज़्ज़त बनाना है। उसने अख़्तरी को इंग्लिश तालीम दिलाने के लिए स्कूल में दाख़िल करा दिया। लेकिन आप घोड़े को नदी तक ले ही तो जा सकते हैं, उसे पानी पीने पर मजबूर तो नहीं कर सकते। बच्ची ने पढ़ने से साफ़ इंकार कर दिया। लाचार मुश्तरी ने वही राह पकड़ी जिसमें अख़्तरी की जान बसती थी और जिसके रग-रेशे से वो ख़ुद भी बखूबी वाक़िफ़ थी। गोया अब शरू हुई 7-8 साल की अख़्तरी बाई की संगीत की तालीम। किसे पता था कि यह बित्ते-भर की छोकरी एक दिन इस महादेश की 'मलिकाए-ग़ज़ल' बनेगी? शायद उसकी मां को रहा हो, क्योंकि मुश्तरी अरबी भाषा में बृहस्पति नक्षत्र को कहते हैं जो देवताओं का गुरु है और देवताओं का गुरु क्या नहीं कर सकता?

बेगम अख़्तर के उस्तादों के सवाल पर बड़ा झमेला है। अंतर्जाल पर परस्परविरोधी हवालों की

छानबीन के बाद जो तस्वीर उभरती है, वह इस प्रकार है : सात साल की उम्र में साज़ और आवाज़ की तालीम के लिए अख़्तरी को प्रख्यात सारंगीवादक इमदाद अली खां के पास भेजा गया। इस तालीम में उसका खूब मन लगा और अंग्रेज़ी स्कूल की कूढ़मग़ज़ लड़की संगीत की ज़हीन तालिबे-इल्म साबित हुई। 1923 में नौ साल की अख़्तरी ने पटियाला घराने के उस्ताद अता मोहम्मद ख़ां से गंडा बंधवाया और बाक़ायदा गुरु-शिष्य परंपरा के अनुसार ख़याल, ठुमरी, दादरा, चैती और ग़ज़ल वग़ैरह सीखना शुरू किया। इसके बाद उन्होंने किराना घराने के मशहूर गायक अब्दुल वहीद ख़ां से तालीम ली। इसके अलावा, लखनऊ घराने के रमज़ान ख़ां, पटिआला घराने में बड़े ग़ुलाम अली के भाई बरकत अली से टप्पा और फ़िल्मों के मशहूर संगीत निर्देशक झंडे ख़ां से भी ठुमरी, दादरा और ग़ज़ल गायकी के गुर सीखे।

इतने सारे उस्तादों के बीच उस्ताद अता मोहम्मद ख़ां का उनके जीवन में ख़ास मुक़ाम रहा। वे न सिर्फ़ उनकी गंडाबंद शागिर्द थीं बल्कि अपनी मां के साथ उन्हीं की सरपरस्ती में कलकत्ता जा बसी थीं जहां मुल्कगीर मक़बूलियत उनका इंतज़ार कर रही थी।

कलकत्ते में क्या नहीं था? हालांकि राजधानी 1911 में ही दिल्ली आ गयी थी और बंबई देश की आर्थिक राजधानी बन बैठी थी, लेकिन सांस्कृतिक राजधानी अभी तक कलकत्ता ही था। थिएटर वहां था, फ़िल्म स्टूडियो वहां था, रेडियो स्टेशन वहां था, ग्रामोफ़ोन कंपनी वहां थी, लेकिन सबसे बड़ी बात यह कि जद्दनबाई भी कलकत्ते में ही थीं। यह वही जद्दनबाई थीं जो आगे चलकर नर्गिस की मां के तौर पर जानी गयीं और फ़िल्म जगत की बड़ी ख़लीफ़ा मानी गयीं; लेकिन कलकत्ते में वे अपने कड़क स्वभाव और अशरणशरण के रूप में जानी जाती थीं। जद्दनबाई ने मुश्तरी की बिटिया को घंटों सुनने के बाद राय दी कि 'तुम्हें शास्त्रीय गायन की रैं-रैं छोड़कर सुगम संगीत पर ध्यान देना चाहिए; तुम्हारी तैयारी भी ग़ज़ल, ठुमरी और दादरा की है और आवाज़ भी उसी मैदान में करामात दिखा सकती है।'

मां-बेटी ने जद्दनबाई की राय सर-माथे रखी। शास्त्रीय संगीत में अख़्तरी की नींव इतनी पुख़्ता हो चुकी थी कि उस पर सुगम संगीत की बहुमंज़िला इमारत खड़ी की जा सके और उसे मनचाहे ढंग से सजाया जा सके और उनकी आवाज़, जो शास्त्रीय संगीत में कज या कमज़ोरी साबित हो सकती थी, ग़ज़ल, ठुमरी और दादरे में ऐसी शानदार आवाज़ बनकर उभरी जिसका कोई मुक़ाबला ही न था।

कलकत्ता अख़्तरी को भाया। भयभीत हिरणी की तरह एक चौंर-भौंर किशोरी कलकत्ता आयी थी जिसे नाज़ो-अंदाज़ की ख़राद पर चढ़ाकर उसकी मां ने एक ऐसी मदभरी युवती बना दिया कि देखनेवाले अश-अश कर उठें। कलकत्ते में बांग्ला थिएटर तो था ही, हिंदुस्तानी और पारसी थिएटर का केंद्र भी कलकत्ता ही था। अख़्तरी ने थिएटर में अभिनय भी किया, गायन भी। डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल ने पारसी रंगमंच पर अपनी पुस्तक में उनकी भूमिका का दिलचस्प और प्रामाणिक विवरण दिया है। जिन लोगों ने उन्हें देखा है, वे जानते हैं कि सुगम संगीत के अलावा अख़्तरीबाई एक अदद खूबसूरत जिस्म और नैन-नक़्श की भी मलिका थीं। ऐसा भी नहीं कि वे अपने हुस्न की दौलत से बाख़बर नहीं थीं या उनके पास अपने हुस्न की अदायगी का क़रीना न था। वे न सिर्फ़ एक तवाइफ़ की बेटी थीं बल्कि उन्होंने ख़ुद भी तवाइफ़ से हाउसवाइफ़ बनने तक का सफ़र पूरा किया जो बेहद तवील और तकलीफ़देह होता है और जिसमें अक्सर और बेश्तर मुसाफ़िर मंज़िल तक नहीं पहुंच पाते, लेकिन अख़्तरी ने यह कारनामा भी अंजाम दिया और बहुत खूब दिया।

1934 की एक घटना या दुर्घटना ने अख़्तरीबाई की ज़िंदगी पर गहरा असर डाला। इस वर्ष एक

भयंकर विनाशकारी भूकंप आया जिसमें नेपाल और बिहार में जान-माल का भारी नुक़सान हुआ। हज़ारों आदमी और मवेशी मौत के मुंह में समा गये और ख़रबों रुपये की संपत्ति नष्ट हो गयी। कोढ़ में खाज यह कि ईश्वर की आवाज़ सुनने का दावा करनेवाले गांधीजी इस बार धोखा खा गये और कह बैठे कि ईश्वर ने उन्हें उनके पापों की सज़ा दी है। इस पर उनकी निंदा देशव्यापी स्तर पर हुई। इस निंदा में भारत के दो सर्वश्रेष्ठ लेखक, रवींद्रनाथ ठाकुर और प्रेमचंद पेश-पेश थे। लेकिन इस विवाद के साथ-साथ भूकंप-पीड़ितों की मदद के लिए भगीरथ प्रयत्न भी किये जा रहे थे। इसी सिलसिले में पटना में एक विशाल संगीत सभा का आयोजन किया गया था जिसमें अख़्तरीबाई को पहली बार अपनी प्रतिभा के सार्वजनिक प्रदर्शन का मौक़ा मिला। खुले मंच से उनकी इस पहली पेशकश में इत्तफ़ाक़ का भी पूरा हाथ था। भूकंप-पीड़ितों की माली इमदाद के लिए आयोजित इस संगीत-सभा में अचानक पता चला कि जिस मुख्य कलाकार के नाम पर पैसा और भीड़ जुटायी गयी है, उसका आना नहीं हो सकेगा। संयोजकों के तो हाथों के तोते ही उड़ गये। ऐसे में उस्ताद अता मोहम्मद मसीहा बनकर उभरे और उनके मशविरे पर उनकी शागिर्द, अख़्तरीबाई फ़ैज़ाबादी को मंच पर बुलाया गया। अख़्तरी के लिए लोगों के हुजूम के सामने पेश होने का यह पहला ही मौक़ा था और वे बेहद बदहवास थी। ख़ैर, हिम्मत करके किसी तरह मंच पर पहुंची और ग़ज़ल शुरू की :

तुम ना होते हरजाई कुछ ऐसी अदा पाई
तकता है तेरी ओर हर एक तमाशाई।

यह ग़ज़ल कई बरस पहले उस ज़माने की मशहूर गायक मुमताज़ बेगम ने गायी थी और उस्ताद ने उन्हें बड़े जतन से तैयार करायी थी। सुननेवाले तो लाहालोट हो गये। किसी 20 वर्षीय नवयुवती के मुंह से ऐसी ललकारती और गुरु-गंभीर आवाज़ की तवक़्क़ो किसे थी! एक बार धड़का खुल गया तो अख़्तरी गाती गयी और लोग दम साधे सुनते रहे। किसी को याद ही न रहा कि वे किसी और को सुनने के लिए जमा हुए थे। अवामी याददाश्त उस ज़माने में भी इतनी ही कमज़ोर थी। भारत कोकिला सरोजिनी नायडू भी इस जलसे में मौजूद थीं। उन्होंने बीसवर्षीय अख़्तरीबाई को आशीर्वाद दिया, 'तू बड़ी ग़ज़ल-गायक बनेगी, बेटी।'

अगले ही साल मेगाफ़ोन कंपनी ने उनका रिकॉर्ड निकाला जिसके लिए उन्होंने बहज़ाद लखनवी की ग़ज़ल 'दीवाना बनाना है तो दीवाना बना दे' गायी। रिकॉर्ड आते ही अख़्तरीबाई के गायन की धूम पूरे देश में मच गयी। यह एक अभूतपूर्व घटना थी और वैसा ही अभूतपूर्व इसका स्वागत भी हुआ। बहज़ाद लखनवी की ग़ज़ल के शब्द इस तरह हैं :

दीवाना बनाना है तो दीवाना बना दे
वरना तुझे तक़दीर तमाशा न बना दे।

ऐ देखनेवालो मुझे हंस-हंसके न देखो
तुमको भी मुहब्बत कहीं मुझ सा न बना दे।

मैं ढूंढ़ रहा हूं मेरी वो शम्मा कहां है
जो बज़्म की हर चीज़ को परवाना बना दे।

आख़िर कोई सूरत भी तो हो ख़ाना-ए-दिल की
काबा नहीं बनता है तो बुतख़ाना बना दे।

बहज़ाद हर एक जाम पे एक सज्दए-मस्ती
हर ज़र्रे को संगे-दरे-जानाना बना दे।

वैसे तो यह पूरी ग़ज़ल ही सूफ़ियाना रंगत में रंगी हुई है, लेकिन आख़िरी दो शेर उस ज़हनियत को वाज़े कर देते हैं जिसने आख़िरकार बहज़ाद को हज़रत बहज़ाद और शायर से पीर बना दिया और बेगम ने जैसे उनकी इस ज़हनियत को भांपकर उस मस्ती को अपने गायन में उतार लिया हो। बीस साल की लड़की से ऐसी उदात्त मस्ती की अपेक्षा आमतौर पर नहीं की जाती।

'दीवाना बनाना है तो दीवाना बना दे' को बेगम द्वारा गायी गयी पहली ग़ज़ल माना जाता है। प्रख्यात फ़िल्म-विशेषज्ञ, सदानंद कामत के मुताबिक़ बहज़ाद लखनवी की इस मशहूर ग़ज़ल का रिकॉर्ड 1925 में मेगाफ़ोन कंपनी ने जारी किया था। हमने अतुल के ब्लॉग में उनसे अनुरोध किया था कि यह तारीख़ सही नहीं लगती क्योंकि तब गायिका की उम्र महज़ 11 वर्ष की थी जो रिकॉर्ड की आवाज़ से मेल नहीं खाती। लेकिन उन्होंने इस पर ध्यान नहीं दिया, हालांकि यह अकादमिक अख़्लाक़ के ख़िलाफ़ जाता है। पहले भी इस ब्लॉग के साथ हमारा तजरुबा कुछ अच्छा नहीं रहा, हालांकि हम फिर भी इस ब्लॉग के लेखकों--विशेषकर अरुण देशमुख, सदानंद कामत और सुधीर कपूर के अनन्य प्रशंसक हैं और इस अति महत्वपूर्ण ब्लॉग की सफलता की कामना करते हैं। अब हमारा यह विश्वास पहले से दृढ़ हो गया है कि बेगम ने यह ग़ज़ल 1925 के बजाय 1935 में गायी थी और अतुल को अपने ब्लॉग में इसे दुरुस्त कर लेना चाहिए। अशफ़ाक़ खां साहब ने भी 1935 ही माना है।

इस बीच 1933 में अख़्तरीबाई को फ़िल्म 'एक दिन का बादशाह' में नायिका की भूमिका निभाने का मौक़ा मिला। तब तक प्लेबैक वजूद में नहीं आया था और अभिनेताओं को अपने गीत ख़ुद ही गाने पड़ते थे। इसी वर्ष उन्होंने 'नल दमयंती' में अभिनय किया, 1934 में भी 'अमीना' और 'मुम्ताज़महल' फ़िल्मों में काम किया, जिससे साबित होता है कि उनके फ़िल्मी कैरियर का आग़ाज़ कामयाबी से हुआ था। 1935 में अख़्तरी की फ़िल्म 'जवानी का नशा' आई और 1936 में उन्होंने 'नसीब का चक्कर' में अभिनय किया।

फ़िल्मी दुनिया में कामयाबी हासिल करने के बाद चालीस के दशक की शुरुआत में बंबई को अलविदा कहकर वे लखनऊ लौट गयीं और अपना पुश्तैनी धंधा करने लगीं। वे कोई आम तवाइफ़ न थीं; लखनऊ की एक शानदार बस्ती में एक आलीशान दुमंज़िला कोठी की मालकिन थीं। संगीतज्ञ के तौर पर इतनी मशहूर कि बड़े से बड़े घरानों की लड़कियां उनसे सीखने और ओहदेदार शुरफ़ा उन्हें सुनने की ग़रज़ से अख़्तर मंज़िल तशरीफ़ लाते थे।

अभी वे अख़्तर मंज़िल का ठाठ जमा ही रही थीं कि उनकी हवेली में एक दिन मशहूर फ़िल्म-निर्देशक महबूब खां नमूदार हुए और उनसे एक बार फिर बंबई चलने का इसरार करने लगे। प्रस्तावित फ़िल्म 'रोटी' में गीतों और ग़ज़लों की भरमार थी और पूरी दुनिया में अख़्तरीबाई से बेहतर गायक उन्हें कहां मुयस्सर हो सकता था? गीत लिखने के लिए महबूब ने उद्योग के दो बेहतरीन गीतकारों को चुना था--सफ़दर आह सीतापुरी और बहज़ाद लखनवी। 'दीवाना बनाना है तो दीवाना बना दे' वाले बहज़ाद!

अख़्तरी फिर भी राज़ी नहीं थीं। लेकिन सामने महबूब थे और दुनिया उन्हें यों ही महबूब नहीं कहती थी। वे बातों के ऐसे जादूगर थे कि पत्थर में भी दूब उगा दें। लाचार अख़्तरी को 'हां' कहना पड़ा, 'रोटी' में अभिनय करना पड़ा, 6-7 गीत गाने पड़े और यह ग़लत संदेश जाने देना पड़ा कि कोशिश करने पर उन्हें फ़िल्म में काम करने के लिए पटाया जा सकता है।

'रोटी' बेगम अख़्तर की सबसे सफल फ़िल्म कही जायेगी। 'दीवाना बना दे' को गाये छः-सात साल बीत चुके थे, लेकिन वही बहज़ाद थे और वही अख़्तरीबाई। इतना ही फ़र्क़ था कि अब गायन के लिए ज़्यादा जगह दरकार थी। इसलिए 1935 की ग़ज़ल में जहां पांच शेर थे, 'रोटी' की ग़ज़ल 'रहने लगा है दिल में अंधेरा तेरे बग़ैर/बेनूर हो गयी मेरी दुनिया तेरे बग़ैर' में तीन ही शेर जगह पा सके और फिर यही रुझान जारी रहा।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो शायद 1942 में प्रदर्शित 'रोटी' पहली फ़िल्म थी जिसके गीत इस क़दर लोकप्रिय हुए। इसके बाद तो गीतों का चलन ही हो गया और एक से बढ़कर एक गीतप्रधान फ़िल्में सामने आयीं, जैसे--'सूरदास', 'तानसेन', 'क़िस्मत', 'रतन', 'अनमोल घड़ी', 'जुगनू', 'परवाना' और 'दिल्लगी' आदि। संगीत-निर्देशक और गीतकार का मरतबा बढ़ गया और फ़िल्म उद्योग ने प्रतिष्ठित कवियों और शायरों को आकर्षित करना शुरू कर दिया। पूरे देश में सहगल, सुरेंद्र, श्याम, खुर्शीद, नूरजहां, सुरैया, उमा देवी और निर्मला देवी आदि के गीतों की धूम मच गयी। 'रोटी' के गीतों की सफलता में सबसे बड़ा योगदान अनिल विश्वास की धुनों और बेगम अख़्तर के गायन का था, अगर्चे फ़िल्म में सितारा देवी भी थीं और उन्होंने अपने गीत भी गाये थे।

'रोटी' में अपना काम पूरा करके अख़्तरीबाई लखनऊ लौट आयी और उसके साथ ही अख़्तर मंज़िल की रौनक़ भी। अख़्तर मंज़िल डेरेदार तवाइफ़ मुश्तरीबाई का कोठा न था, हालांकि मुश्तरी अपनी तमाम आबो-ताब और रौब-दाब के साथ वहां मौजूद होती थीं। अख़्तर मंज़िल लखनऊ का सांस्कृतिक केंद्र था जहां शायरी, मौसीक़ी, रक़्क़ासी, मुसव्विरी या दीगर फ़नों और हुनरों से ताल्लुक़ रखनेवाले फ़नकारों का इस्तक़बाल होता था। आसपास के रईस, जागीरदार, ज़मींदार, ताल्लुक़ेदार, राजा-महाराजा और आला अफ़सरान एक-दूसरे की सोहबत करने और अख़्तरीबाई के गायन से लुत्फ़अंदोज़ होने और एक हसीं शाम गुज़ारने की ग़रज़ से वहां जमा होते थे। बेगम अख़्तर ने कुछ दिनों आल इंडिया रेडियो के लखनऊ केंद्र के संगीत विभाग में भी काम किया। उस ज़माने में इस केंद्र में बड़े कलाकारों का जमावड़ा था। मशहूर गायक फ़ैय्याज़ खां, तलत महमूद और रौशन आरा बेगम, संगीत निर्देशक रौशन, मदनमोहन और जयदेव जैसे कई कलाकार वहां नौकरी करते थे या उसकी गतिविधियों में नियमित भाग लेते थे। यहां बेगम की दोस्ती मदनमोहन से हुई और वे एक-दूसरे के गायन और वादन के प्रशंसक बने। यह रिश्ता ज़िंदगी-भर बना रहा; यहां तक कि जब बेगम अख़्तर अपनी रिकॉर्डिंग के लिए बंबई जाती थीं तो मदनमोहन अपने सब काम छोड़कर वहां हाज़िर हो जाते थे। उन्होंने कुछ दिनों तक मैरिस कॉलेज लखनऊ में संगीत शिक्षक का काम भी किया। यह वही मशहूर कॉलेज था जिसका नाम आगे चलकर भातखंडे कॉलेज ऑफ़ म्यूज़िक कर दिया गया। बीच में उन्होंने हैदराबाद के निज़ाम और रामपुर के नवाब की मुलाज़िमत भी की। रामपुर के नवाब हिज़ हाइनेस रज़ा अली खां अख़्तरी पर तबीयत भी रखते थे। उन्होंने उस ज़माने में उनका वज़ीफ़ा दो हज़ार रुपये माहाना मुकर्रर किया था। लेकिन इसी मजलिस में एक बैरिस्टर साहेब भी तशरीफ़ लाते थे जिनका नाम इश्तियाक़ अहमद अब्बासी था। वे पेशे से वकील

ज़रूर थे लेकिन उनका ताल्लुक़ काकोरी के एक ताल्लुक़ेदाराना ख़ानदान से भी था। काकोरी लखनऊ के पास एक क़स्बा है जो अपने लज़ीज़ कबाबों के लिए जाना जाता है। इतिहास में यह रामप्रसाद बिस्मिल और अशफ़ाक़उल्लाह जैसे शहीदों के नाम से वाबस्ता है, जिन्होंने रेल में जाते ख़ज़ाने को लूटकर फांसी का फंदा चूमा था। अब्बासी साहब साहित्य और संगीत की बारीकियां समझते थे और एक खूबसूरत शख़्सियत के मालिक थे। अख़्तरी ने ग़ौर किया था कि यह शख़्स उसी मुक़ाम पर दाद देता है जहां मिलनी चाहिए और दाद देने से पहले औरों की दाद का इंतज़ार नहीं करता। देखादेखी शुरू हुई और बलम अटरिया तक आ पहुंचे। अख़्तरीबाई की तवज्जो इधर-उधर से हटकर उन्हीं पर टिक गयी और ऐसी टिकी कि वे हमेशा के लिए उन्हीं की होकर रह गयी। इस घटना से सबसे ज़्यादा खुश मुश्तरी थी। जब उसे शौहर के घर से धक्के देकर निकाला जा रहा था, तब उसने क़सम खायी थी कि वह अपनी बेटी को किसी शरीफ़ घर की इज़्ज़त बनाकर ही दम लेगी और इस मक़सद को हासिल करने के लिए उसने न दिन को दिन समझा, न रात को रात। हमारी आधी-अधूरी जानकारी में भारतीय फ़िल्म उद्योग में वह पहली वीरांगना थी जिसने एक संकल्प किया और सर्वथा प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय पाते हुए उसे पूरा करके दिखाया। आगे चलकर जद्दनबाई और नर्गिस और सरदार बेगम और साहिर लुधियानवी की मिसालें मिलती हैं; लेकिन जद्दनबाई समर्थ महिला थीं जबकि साहिर एक लड़का था और भारत जैसे पुरुषप्रधान समाज में लड़के और लड़की में जो फ़र्क़ है, उसे नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। आज जबकि नारी सशक्तीकरण का दौरदौरा है, बेगम अख़्तर की मां मुश्तरीबाई से अच्छा रोल मॉडल मिलना मुश्किल है और अख़्तरीबाई के साथ मुश्तरीबाई का नाम भी गर्व के साथ लिया जा सकता है और लिया जाना चाहिए।

निकाह सादा था, लेकिन मियां इश्तियाक अपनी दुल्हन को पहले अपनी पुश्तैनी हवेली में ले गये और फिर उनके एजाज़ में एक नयी शानदार हवेली तामीर करायी। इस तरह अख़्तरीबाई पर्दानशीं बेगम अख़्तर बनीं और उनके क़द्रदान उन्हें 'मलिकाए-ग़ज़ल' कहने लगे।

शुरफ़ा में नया-नया दाख़िला पाने का जोश कहिए या अपने अतीत से पूरी तरह अलग होने की ईमानदार कोशिश, बेगम अख़्तर ने अपने ऊपर वे तमाम पाबंदियां आयद कर लीं जिनमें शरीफ़ और आला ख़ानदानों की बहू-बेटियों को रहना पड़ता है। होश संभालने के बाद पहली बार उन्होंने अपने आप को संगीत की दुनिया से पूरी तरह काट लिया था। एक दुनिया जिसमें आंखें खोलीं, जिसके बीच रहकर परवरिश पायी और अपने फ़न को परवान चढ़ाया, उसकी शानदार अटरिया में ताला लगाते वक़्त उन्होंने सोचा भी न होगा कि कभी इस ताले को खोलना भी पड़ सकता है! अभी तक वे अपनी फ़ौलादी इच्छा शक्ति की मदद से हर मोर्चा सर करती आयी थीं। हार का तो उन्होंने कभी मुंह तक नहीं देखा था कि जान सकें, वह कितनी बदसूरत होती है। 'शराफ़त' का चोला पहनने के जोश में बेगम अख़्तर यह भूल ही गयी थीं कि वे बुनियादी तौर पर एक कलाकार हैं और संगीत से उनका वही रिश्ता है जो मछली का पानी से होता है। नतीजा यह हुआ कि एक तरफ़ वे अपनी ज़िंदगी से संगीत को काट रही थीं तो दूसरी तरफ़ संगीत का बेरहम चाकू उनकी सुकोमल जीवन-रज्जु को रेत रहा था। हमारी ख़ुशक़िस्मती थी कि इश्तियाक़ मियां बेगम अख़्तर से बेपनाह मुहब्बत करते थे और उनकी सेहत के लिए 'शराफ़त' की क़ुरबानी दे डालने में उन्हें कोई मुज़ायक़ा न था।

आख़िरकार डॉक्टर की सलाह पर मछली को पानी में छोड़ दिया गया। तय पाया गया कि बेगम

अख़्तर रेडियो से गाने, सार्वजनिक संगीत-सभाओं में शिरकत करने और ग्रामोफ़ोन के रिकॉर्ड बनवाने के लिए आज़ाद हैं, लेकिन प्राइवेट मुजरा-महफ़िलों की दावत मंजूर नहीं करेंगी। इस तरह 1950 के बाद बेगम अख़्तर की दूसरी पारी शुरू हुई। उन्हें सबसे ज़्यादा आनंद उन संगीत-सभाओं में आता था जिनमें हज़ारों की संख्या में सुननेवाले दम साधकर उन्हें सुनते थे और महफ़िल के रंग पर आते ही बारूदी अनार की तरह फट पड़ते थे। हाथों के जिन जंगलों में उनकी जान बसी थी, अब वे तालियों के शोर में डूब जाने के लिए उनके गायन के मुंतज़िर थे और बेगम जी खोलकर उन्हें ऐसे मौके फ़राहम कराती थीं। ऐसी निर्बंध दाद की बेदाद दो-एक और दीवानों की याद आती है। एक थे जिगर जो फ़िल्मी दुनिया से बीसों बुलावों को हंसकर ठुकराते रहे, हालांकि अपने हाजतमंद शागिर्दों को भेजते भी रहे। एक और थे खुमार बाराबंकवी जो फ़िल्म में गये भी, कामयाब भी हुए, लेकिन मुशायरे के अपने दीवानों के पास लौटने के लिए चली-चलायी दूकान बंद कर आये। और एक थे फ़िराक़ जिनका यह शेर याद आ रहा है :

बहलायेगी अब क्या हमें रंगीनिए-दुनिया
हम तेरे ग़मे-इश्क़ के बहलाये हुए है।

बेगम अख़्तर का संघर्ष तवाइफ़ से 'हाउसवाइफ़', यानी एक बेहतर इंसान बनने का था। लेकिन इस संघर्ष की नायिका वे ख़ुद नहीं थीं बल्कि इसका नेतृत्व उनकी मां मुश्तरीबाई के हाथों में था। यह एक ऐसी मां का संघर्ष था जो ब-ज़ाते-ख़ुद इस मोर्चे पर हार चुकी थी और अब उसने अपनी अधिक प्रतिभासंपन्न पुत्री को उसकी लड़ाई में जीत दिलाने का बीड़ा उठा लिया था। इस लड़ाई में फ़ैसलाकुन फ़तह हासिल हो गयी तो ख़ुद अपनी नज़रों में मुश्तरी की मौजूदगी की ज़रूरत नहीं रह गयी। शुरू में लगायी गयी मुकम्मल पाबंदी जब मुजरा-महफ़िल तक महदूद कर दी गयी तो वह समझ गयी कि अब उसकी लाड़ली अपने बल-बूते आगे बढ़ सकती है; उसे साथ निभानेवाला जीवनसाथी मिल गया है। ग़ौरतलब है कि शादी 1946 में हुई, मुकम्मल पाबंदी 1951 में हटी और उसी वर्ष मुश्तरी ने दुनिया को ख़ैरबाद कहा। अब्बासी साहब ने अपनी हुनरमंद बीवी का डटकर साथ दिया और आख़िर तक दिया। घर-गिरस्ती के मोर्चे पर भी बेगम को भरपूर कामयाबी मिली। ससुराल में उनकी मर्ज़ी के बिना पत्ता तक नहीं हिलता था और सभी बड़े फ़ैसलों में उनका हाथ लाज़िमी तौर पर रहता था। वे सबकी प्यारी अम्मी थीं और घर का कोई भी सदस्य उनके पास आकर अपनी व्यथा-कथा कह सकता था। इश्तियाक़ अहमद अब्बासी फ़रिश्तासीरत इंसान थे। वे अपनी बेगम को दिलो-जान से चाहते थे और उनकी छोटी से छोटी सहूलत का ध्यान रखते थे। मुश्तरी की मौत से अख़्तरी की ज़िंदगी में जो ख़ला पैदा गया था, उसे भरना तो ग़ैरमुमकिन था लेकिन अपनी कोशिश में अब्बासी साहब ने कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी और अपने अकेलेपन पर क़ाबू पाने में अपनी बीवी की बेपनाह मदद की। यह उनका ग़ैरमामूली कारनामा था क्योंकि मुश्तरी के अथाह प्यार ने उसकी लाड़ली बिटिया को बेहद बिगड़ैल और नखरैल बना दिया था और वह अपने अंदर कोई तब्दीली करने के लिए तैयार न थी। फिर, मुश्तरी के बिछुड़ने का सदमा मामूली सदमा न था; यह बदन से साये का बिछड़ना था जिसके लिए मुश्तरी की अख़्तरी क़तई तैयार न थी। ज़ाहिर है कि ऐसे हालात में किसी इंसान को ज़बरदस्त सब्र और तहम्मुल की दरकार होती है और इश्तियाक़ मियां इसमें से सुर्खरू होकर निकले। मुश्तरी के अलावा वे बेगम अख़्तर के वाहिद मरक़ज़ी किरदार थे और बेगम की शख़्सियत को समझने की कुंजी।

बेगम अख़्तर की निजी ज़िंदगी का तरीक़ा शुरू से बेढंगा था और आख़िर तक बेढंगा ही रहा। शायद मन की गहराइयों में कहीं यह ख़ुशफ़हमी छुपी थी कि जो चीज़ें दूसरों के लिए जानलेवा साबित होती हैं, वे मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं। इसके अलावा कैप्सटन की पचास सिगरेट और बेपनाह शराब की क्या व्याख्या हो सकती है? सिगरेट और शराब का यह नापाक गंठजोड़ उन्हें घोड़े के तरह दौड़ाता रहता था और वे रात-दिन काम में डूबी रहती थीं। इस मामले में वे किसी की सुनने को तैयार न थीं, डॉक्टरों की भी नहीं। कठिन परिश्रम और अनियमित-असंतुलित खानपान ने उनके शरीर पर बुरा प्रभाव डालना शुरू कर दिया था। हमेशा साये की तरह संग लगी रहनेवाली और उनकी छोटी से छोटी सुविधा का ख़याल रखनेवाली मां, मुश्तरी 1951 में ही चल बसी थी और उसकी ग़ैरहाज़िरी में उनकी चिर सहेली, तन्हाईपसंदगी ने उन्हें अपनी आग़ोश में ले लिया था, लेकिन लगता है कि वे लड़ते-लड़ते खेत रहने का फ़ैसला कर चुकी थीं। उनके जीवन साथी उनकी सुख-सुविधा का तो ख़याल रखते थे लेकिन मुश्तरी के तरह अख़्तरी को अनुशासित करना उनके बस का रोग न था। अब बेगम ने अपनी कारगुज़ारियों का दायरा और बढ़ा लिया और कमज़ोर होते जाते जिस्म को उनका हुक्म बजा लाने पर मजबूर होना पड़ा। 1961 में वे पाकिस्तान गयीं और यह देखकर भौचक्की रह गयीं कि सरहद के पार भी उनके चाहनेवालों की तादाद इतनी बड़ी है। 1963 में वे अफ़ग़ानिस्तान गयीं और वहां भी जिस जोश-ख़रोश के साथ उनका इस्तक़बाल किया गया, उसने उन्हें भाव-विभोर कर दिया। 1967 में वे भारतीय सांस्कृतिक शिष्टमंडल का हिस्सा बनकर सोवियत संघ गयीं जहां उनके हज़ारों प्रशंसकों ने उनका भावपूर्ण स्वागत किया। लेकिन अब वे अपनी हर हद पार कर चुकी थीं और उनके जिस्म की बधिया बैठ चुकी थी। 1967 में उन्हें दिल का दौरा पड़ा। डॉक्टरों ने समझाया, अब अपनी व्यस्तता कम कर लो और सिगरेट-शराब से तौबा कर लो। पूरी तरह छोड़ सको तो बेहतर है, वरना कम, बहुत कम कर लो। बेगम शायद उन लोगों में से थीं जो मानते हैं कि क़ुदरत ने इंसान को दो कान बख़्शे ही इसलिए हैं कि बात इस कान से सुनी जाये और उस कान से निकाल दी जाये। सिगरेट और शराब का दौर जारी रहा। रेकॉर्डिंग्ज़ जारी रहीं, महफ़िलों का दौरदौरा जारी रहा; गोया अब बेगम बेसब्री से अजल की मुंतज़िर थीं। यह इंतज़ार सात लंबे सालों तक चला और बेगम अपनी लीक पर इस तरह चलती रहीं जैसे कुछ हुआ ही न हो। 1974 में अमदाबाद की एक संगीत सभा में अपनी बेइंतेहा मक़बूल ग़ज़ल 'ऐ मोहब्बत तेरे अंजाम पे रोना आया' गाते वक़्त उन्हें दिल का दौरा पड़ा और उन्हें अस्पताल में भर्ती कराया गया जहां अधिकारियों की चोरी से एक सिगरेट पीने के बाद 30 अक्टूबर 1974 के दिन उन्होंने इस दुनिया को ख़ैरबाद कहा। उनकी आख़िरी ग़ज़ल शकील बदायूंनी की वह मशहूर ग़ज़ल है जो उनकी गायकी और शकील के कलाम के इतिहास में मील के पत्थर का स्थान रखती है और जिसे हम यहां पूरा देना चाहते हैं :

ऐ मोहब्बत तेरे अंजाम पे रोना आया।
जाने क्यूं आज तेरे नाम पे रोना आया।।

यूं तो हर शाम उमीदों में गुज़र जाती थी
आज कुछ बात है जो शाम पे रोना आया।

कभी तक़दीर का मातम कभी दुनिया का गिला
मंज़िले-इश्क़ में हर गाम पे रोना आया।

जब हुआ ज़िक्र ज़माने में मुहब्बत का शकील
हमको अपने दिले-नाकाम पे रोना आया।।

बेगम की औपचारिक शिक्षा तो नहीं के बराबर थी, लेकिन उर्दू अदब, ख़ासकर शायरी की उन्हें अच्छी जानकारी थी। यह जानकारी उनके चुस्त-दुरुस्त तलफ़्फ़ुज़ और शायरों के इंतिख़ाब में नुमायां है। इस मामले में उनके सबसे बड़े मददगार उनके शौहर, इश्तियाक़ अब्बासी रहे जिन्हें बिला-मुबालिग़ा सुख़न-शनास का दर्जा दिया जा सकता है। उन्होंने ग़ज़ल-गायकी के लिए जिन शायरों का इंतिख़ाब किया, उनमें मीर तक़ी मीर, मिर्ज़ा ग़ालिब, ज़ौक़, मोमिन, दाग़ देहलवी, जिगर मुरादाबादी, फ़िराक़ गोरखपुरी, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, कैफ़ी आज़मी और जांनिसार अख़्तर प्रमुख हैं। एक तरह से देखें तो उनकी गायकी की चपेट में उर्दू की समूची क्लासिकल ग़ज़ल ही आ गयी है जिसकी रूह शृंगार है, विप्रलंभ शृंगार या दर्दे-जुदाई; जो भौतिक धरातल से उठकर सूफ़ी तसव्वुफ़ में तहलील होने पर आमादा है। गोया, उर्दू ग़ज़ल की चमकदार महफ़िल अपनी पूरी आबो-ताब और रख-रखाव के साथ उनके गायन में मौजूद है और आप अपनी सहूलत से उससे वहां रू-ब-रू हो सकते हैं।

लेकिन, नये शायरों की भी उन्होंने पूरी क़द्र की और उनके कलाम को अपनी गायकी से नवाज़ा। ऐसे शायरों में अली अहमद जलीली, तस्कीन क़ुरैशी, तारिक बदायूंनी, फ़ना निज़ामी कानपुरी, शाज़ तमकनत, अमीर आग़ा क़ज़लबाश, शमीम जयपुरी और हसन नईम जैसे अनेक शायरों के नाम लिये जा सकते हैं। हमसे ज़रूर कई नाम छूट गये होंगे और शकील बदायूंनी का नाम हमने जान-बूझकर छोड़ दिया है क्योंकि उन पर अलग से लिखा जा चुका है। हमें याद नहीं आता अगर किसी अन्य गायक ने उर्दू के इतने सारे शुअरा का कलाम अपनी आवाज़ से सजाया हो।

सुदर्शन फ़ाकिर वह आख़िरी शायर था जिससे उनके रूहानी ताल्लुक़ात क़ायम हुए और ज़िंदगी भर रहे। वह उनसे बहुत छोटा था और अम्मी कहता था; कहता ही नहीं, मानता भी था। उन दोनों ने ही जनूनी तबीयत पायी थी और दोनों एक-दूसरे की तारीफ़ करते वक़्त वस्तुनिष्ठता की हद पार कर जाते थे। यह बात मैं फ़ाकिर के ही हवाले से कह सकता हूं क्योंकि बेगम से मेरी मुलाक़ात न थी। उससे मेरी आख़िरी मुलाक़ात बीसवीं सदी के अंत में हुई थी और बंदा तब तक अम्मी का सोग मना ही रहा था। उन्होंने उसकी पांच ग़ज़लें और एक दादरा गाया था जो अपने आप में एक रिकॉर्ड है क्योंकि यह एज़ाज़ तो उन्होंने शकील या जिगर को भी नहीं बख़्शा था। इस बात पर बहस हो सकती है कि इन पांच में से कौन सी ग़ज़ल बेहतरीन है? बेशक, उसकी जो ग़ज़ल सबसे ज़्यादा मक़बूल हुई, उसका मतला इस तरह है :

इश्क़ में ग़ैरते-जज़्बात ने रोने न दिया
वरना क्या बात थी किस बात ने रोने न दिया।

ज़मीन शकील की है और धुन भी मिलती-जुलती है; असली फ़र्क़ 'रोना आया' और 'रोने न दिया' में है। अगरचे गायक ने उसे भिन्न ढंग से गाने की कोशिश की है, ग़ज़ल शकील की ही नज़र आती है और शायद इसी कारण सुदर्शन इसे अपनी बेहतरीन रचना नहीं मानता था। हम दोनों उसकी जिस ग़ज़ल को बेहतरीन मानते हैं, उसके तमाम शेर यहां दिये जा रहे हैं :

अपनों के सितम हमसे बताये नहीं जाते।
ये हादिसे वो हैं जो सुनाये नहीं जाते।।

कुछ कम ही तअल्लुक़ है मोहब्बत का जनूं से
दीवाने तो होते हैं बनाये नहीं जाते।

एक उम्र की कोशिश से भुला दी है तेरी याद
लेकिन अभी तक याद के साये नहीं जाते।

प्यालों में हो ज़ह्नब कि कुछ और हो फ़ाकिर
अब होठों से वापस तो ये लाये नहीं जाते।।

बेगम अख़्तर पर बात की जाये और उनके गायन पर चुप्पी साध ली जाये, यह अजीब तो ज़रूर लगता है, लेकिन संगीत के मामले में मेरा हाथ तंग है। बेशक, मैं उन चंद खुशक़िस्मत लोगों में हूं जिन्होंने हिंदुस्तानी संगीत के लगभग सभी शीर्षस्थ गायकों को कभी न कभी, कहीं न कहीं सुना है, लेकिन संगीत की मेरी जानकारी शून्य के बराबर है, इसलिए बेगम अख़्तर की गायन शैली के बारे में मैं जो भी कहूंगा, उसे बेगम के एक चाहनेवाले के प्रशंसा-उद्‌गारों से ज़्यादा महत्व न दिया जाये।

मुझे लगता है कि किसी भी क्षेत्र में किसी असाधारण प्रतिभा-संपन्न कलाकार का सबसे बड़ा योगदान यह होता है कि जहां सामान्य कलाकार अपने सामने फैले कला-रूपों के भेदों-विभेदों के अनंत विस्तार में खोकर या उनकी चयन-प्रक्रिया में उलझकर रह जाता है, वहां असाधारण कलाकार विभिन्न कला-रूपों की अनेकता के बीच एकता खोज लेता है और उनके बीच यथासंभव समन्वय स्थापित कर लेता है और स्थापित कला-रूपों को एक नया ही स्वरूप प्रदान कर देता है। मैं ठुमरी या दादरा के बारे में तो कुछ नहीं कह सकता लेकिन बेगम अख़्तर के मंच पर आने के बाद ग़ज़ल वही ग़ज़ल नहीं रह गयी जो उनसे पहले थी। वह न सिर्फ़ रागाश्रित हो गयी बल्कि उसमें ठुमरी और दादरा की तासीर भी आ गयी। इस तरह उन्होंने शास्त्रीय और सुगम संगीत के अंतर को कम कर दिया या दूसरे शब्दों में, सुगम संगीत को शास्त्रीय गरिमा से मंडित कर दिया।

अगर पूछा जाये कि ग़ज़ल को लोकप्रिय बनाने में सबसे बड़ा योगदान किसका है, तो जवाब देनेवाले के मुंह से बेसाख़्ता बेगम अख़्तर का नाम निकल पड़ता है। ईमानदारी की बात यह है कि ग़ज़ल-गायकी तक़रीबन उतनी ही पुरानी है, जितनी खुद ग़ज़ल। देखा जाये तो बेगम को कुंदनलाल सहगल का मशकूर होना चाहिए जिन्होंने ग़ालिब और ज़ौक़ से अकबर इलाहाबादी और सीमाब अकबराबादी जैसे कई शायरों के कलाम को अपनी आवाज़ देकर घर-घर पहुंचा दिया। और फिर याद कीजिए मास्टर मदन को जिसने अपनी गायकी के दम पर सागर निज़ामी जैसे औसत शायर को ग़ैर-मामूली बना दिया। पंकज मल्लिक और जगमोहन जैसे ग़ज़ल-गायकों का निराला ही अंदाज़ है जिसमें ग़ज़ल और गीत को एकमेक कर दिया गया है; इस क़दर कि सुननेवाले ग़ज़ल को गीत ही मान बैठते हैं। मिसाल के तौर पर, जगमोहन के इस मशहूर गीत 'उस राग की पायल में जो सोया है जगा दो' को लिया जा सकता है जो दरअसल फ़य्याज़ हाशमी की एक मुकम्मल ग़ज़ल है, मतले और मक़ते के साथ, और मक़ते में शायर के तख़ल्लुस की मौजूदगी के साथ : 'क्या चीज़ हो तुम तुमको ये मालूम नहीं था/फ़य्याज़ की बदनाम मोहब्बत को दुआ दो'। इसी तरह 1939 की फ़िल्म 'नर्तकी' में आरज़ू लखनवी का यह गीत देखिए जिसमें उन्होंने ग़ज़ल

के शेरों में दूसरे छंद की गिरह लगाकर दादरे की शक्ल दे दी है और पंकज मल्लिक ने अपनी गायकी से उसमें चार चांद लगा दिये हैं : 'ये कौन आज आया सवेरे सवेरे/कि दिल चौंक उट्ठा सवेरे सवेरे'। ग़ौर कीजिए कि ये दो लाइनें किसी गीत का मुखड़ा भी हो सकती हैं और किसी ग़ज़ल का मतला भी।

लेकिन बेगम के मंज़रे-आम पर आने से पहले ग़ज़ल की दुनिया छोटी थी, बेगम ने उसके तंग दायरे में वुसअत भर दी। आल इंडिया रेडियो और रिकॉर्डिंग के बालपन को जिन गायकों ने जवानी की नेमत अता की है, उनमें बेगम अख़्तर का नाम पहली क़तार में आयेगा। वे यहीं तक नहीं रुकीं बल्कि ग़ज़ल को मध्यकाल के घुटन-भरे माहौल से निकालकर आधुनिक युग के कुशादा मैदान में ले आयीं जहां हज़ारों की तादाद में ग़ज़ल के अनुशासित प्रशंसक उसका लुत्फ़ उठाते हैं। ग़ज़ल के क्षेत्र में उनका अन्यतम योगदान यह है।

शांति हीरानंद ने अपनी उस्ताद के बारे में कई पते की बातें बतायी हैं। उनके अनुसार बेगम का सबसे बड़ा योगदान यह था कि ग़ज़ल को उन्होंने मुजरा-महफ़िल से निकालकर संगीत सभा तक पहुंचाया। निजी बैठकों से निकलकर सार्वजनिक मंच पर आ जाने से ग़ज़ल दो व्यक्तियों के बीच का प्रेमालाप-मात्र नहीं रह गयी। अब ग़ज़ल का मैदान खुल गया था और सुननेवालों के हुजूम को भीतर चले आने के लिए ललकार रहा था। इसके बाद ग़ज़ल को आदमी के दुख-सुख से मंसूब होने से कौन रोक सकता था? बेगम ने बेशक इंसान का दुःख-दर्द बयां करनेवाली ग़ज़लें ही अपने गायन के लिए चुनीं लेकिन मीर, दर्द, फ़ैज़ और फ़ाकिर जैसे शायरों के कलाम में ग़मे-जानां किस मुक़ाम पे ग़मे-दौरां हो जायेगा, इसका क्या भरोसा?

शांतिजी ठुमरी-गायन को शास्त्रीय गायन से एक सीढ़ी ऊंचा मानती हैं। शायद इसकी एक वजह यह हो कि शास्त्रीय गायन मुख्य रूप से घराने की गायन-शैली और रियाज पर आधारित है जबकि ठुमरी के लिए इनके अलावा नैसर्गिक प्रतिभा और रचनाशीलता की भी ज़रूरत पड़ती है। बेगम के योगदान को रेखांकित करते हुए वे इस सचाई की ओर ध्यान आकृष्ट करती हैं कि उनके गायन में ठुमरी के पूरबी और पच्छिमी अंग एकमेक हो गये हैं और उन्होंने ठुमरी, दादरा और ग़ज़ल को एक-दूसरे के नज़दीक लाकर आनंद का एक नया ही रसायन प्रस्तुत कर दिया है।

न जाने कितने गायकों ने उनसे गायकी की बारीकियां सीखी होंगी, लेकिन लगता है उनकी गंडाबंद शागिर्द दो ही थीं—शांति हीरानंद और अंजलि बनर्जी। दीप्ति घोष उनकी ख़ास पसंदीदा शागिर्द थीं जिनके बारे में उनका ख़याल था कि वे बाक़ी सबसे आगे निकल जायेंगी। लेकिन उनकी दो सबसे प्रतिभाशाली शागिर्दों, अंजलि बनर्जी और दीप्ति घोष ने गाना ही छोड़ दिया, जबकि शांति हीरानंद और रीता गांगुली अपनी उस्ताद की परंपरा को आगे बढ़ा रही हैं। इसके अलावा शोभा गुर्टू, वसुंधरा पंडित, रेखा सूर्या आदि कई गायकों ने उनसे कई चीज़ें सीखी थीं। जानी-मानी बात है कि वे अपनी किसी भी शागिर्द से गुरु दक्षिणा नहीं लेती थीं बल्कि गायन से होनेवाली कमाई का एक हिस्सा उन्हें तोहफ़े देने पर ख़र्च कर देती थीं। उनकी सब शागिर्द उन्हें अम्मी कहती थीं और मां की तरह ही प्यार और सम्मान देती थीं।

सुगम संगीत के क्षेत्र की प्रमुख गायक रेखा सूर्या बेगम अख़्तर के आख़िरी दौर में उनकी शागिर्द बनी थीं। बेगम की मृत्यु के बाद उन्होंने प्रख्यात ठुमरी-गायक गिरिजा देवी से गायकी की तालीम ली। बेगम अख़्तर के बारे में अपने संस्मरण में उन्होंने कई महत्वपूर्ण बातें बतायी हैं। उनके मुताबिक़ बेगम किसी फ़नकार के लिए पहले एक उम्दा इंसान होना ज़रूरी मानती थीं। अच्छा संगीतज्ञ वही हो सकता

है जो ज़ाती तौर पर एक अच्छा इंसान भी हो। किसी भी फ़नकार का आख़िरी मक़सद अपने रसिक को सुख और आनंद की अनुभूति कराना ही है। ऐसा कलाकार अपनी कला पर घमंड कर ही कैसे सकता है? घमंडी कलाकार तो अपने को और दूसरों को सुख के बजाय दुःख ही पहुंचा सकता है। बेगम की अपनी समकालीन गायकों से तुलना करते हुए उनका कहना है कि ठुमरी-गायन में रसूलनबाई और सिद्धेश्वरीबाई उनसे एक क़दम आगे ही थीं, लेकिन ग़ज़ल और दादरा के मैदान में बेगम अख़्तर का कोई मुक़ाबला न था।

बेगम अख़्तर इस उप-महाद्वीप के जनगण की एकता की भी प्रतीक थीं। शांति हीरानंद ने अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर लिखा है कि जब बेगम अख़्तर वाघा सरहद पर तैनात भारतीय सैनिकों के लिए गाती थीं तो सरहद के पार खड़े पाक फ़ौजी भी उन्हें उतने ही अपनेपन से सुनते थे और दाद देते थे। जानी-मानी बात है कि पाकिस्तान में भी हिंदोस्तान की ही तरह आज भी उनके लाखों चाहनेवाले हैं जिनमें से हज़ारों को उनकी गायी ग़ज़लें ब-खूबी याद हैं। पाकिस्तान में ग़ज़ल-गायकों की भरी-पूरी जमात रही है : मेहदी हसन, गुलाम अली, मलिका पुखराज, फ़रीदा ख़ानम, इक़बाल बानो, नय्यारा नूर कुछ नुमायां नाम हैं। ऐसे इफ़रात के माहौल में अपने प्रशंसकों की बिरादरी को बचाये रखना भारी चुनौती है, लेकिन बेगम तो शायद पैदा ही चुनौतियां सर करने के लिए हुई थीं। उनकी गायकी का ही कमाल था कि मृत्यु के 40 साल बाद भी हमारे उप-महाद्वीप में उनके क़द्रदानो की तादाद घटने के बजाय बढ़ रही है।

लाखों लोगों के दिल में घर करनेवाली इस कलाकार के प्रति सत्ता में बैठे लोगों की उपेक्षा समझ में नहीं आती। उन्हें सबसे छोटा पद्म पुरस्कार, पद्मश्री भी 1968 में दिया गया, जबकि सार्वजनिक मंच से गाते हुए भी 30 से अधिक साल हो गये थे और एक बड़े गायक की हैसियत से उनकी मक़बूलियत इस उप-महाद्वीप की लंबाई-चौड़ाई माप चुकी थी। 1972 में, यानी मृत्यु से केवल दो वर्ष पहले उन्हें संगीत-नाटक एकेडमी की ओर से सम्मानित किया गया और गोया उनके लाखों प्रेमियों के ज़ख़्मों पर नमक छिड़कते हुए 1975 में उन्हें मरणोपरांत 'पद्मभूषण' पुरस्कार दिया गया, जबकि वे इससे कहीं अधिक सम्मान की अधिकारी थीं।

कभी लखनऊ जाना हो तो स्टेशन से 'पसंद बाग़ क़ब्रिस्तान' का रिक्शा ले लें। वैसे लखनऊ वाले क़ब्रिस्तान को 'शहरे-ख़मोशां' कहना ज़्यादा पसंद करते हैं, लेकिन आपका काम 'पसंद बाग़' से चल जायेगा। अक्टूबर 74 के बाद से बेगम यहीं रहती हैं। अगरचे उत्तर प्रदेश सरकार की मिहरबानी से उनका यह आशियाना भी उनकी ज़िंदगी की तरह ही तन्हा और वीरान है, ताहम उनके बेशुमार चाहनेवालों में से कुछ-न-कुछ लोग उनका नियाज़ हासिल करने आते ही रहते हैं।

हम हुक्मरान से कुछ कहते हुए डरते हैं क्योंकि वे भी तो हुक्मरान ही थे और अब भी हैं जिन्होंने 2002 में वली दकनी के मज़ार को ही खोद डाला था!

मो. : 098918367626

लटकी हुई शर्त

प्रह्लाद चन्द्र दास

गंगाराम, गंगाराम! नंगाराम, नंगाराम!!

दुबला-पतला सींक सा लड़का गंगाराम और पीछे चिढ़ाती हुई उद्दंड लड़कों की टोली—गंगाराम,गंगाराम! नंगाराम, नंगाराम!! ... अच्छे-ख़ासे नाम की ऐसी-की-तैसी कर दी थी बदमाशों ने! गंगाराम इक्के-दुक्के के साथ विरोध करता, कभी-कभार लड़ भी जाता, लेकिन जब लड़कों की पूरी टोली ही उसके पीछे पड़ गयी हो, वह क्या करता! वह रोता, खीझता और अंत में भाग जाता। लड़के ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगते, भाग गया गंगाराम, भाग गया नंगाराम! ... गंगाराम अपनी बेबसी पर रोता। क्रोध से उसके नथुने फूल जाते, पर ...।

पर समय भी कैसे पलटा खाता है! वही गंगाराम आज इलाक़े का प्रसिद्ध गंगा बाबू है और अभी जब 'कुल्ही-पटान' में उसके बाल-बच्चे सरपट घोड़े दौड़ाते हुए निकल जाते हैं तो उसके 'गंगाराम, नंगाराम' वाले साथी उजबक-से उनके पीछे उड़ती हुई धूल को देखते रह जाते हैं।

वही गंगाराम आज 'जय-जय राम' हो गया है। उसे देख कर लोगों के हाथ उठ जाते हैं—जय राम जी की, जय राम जी की ...!

गंगाराम की सफ़ेद मूंछों के अंदर ढंके मुंह में मंद-मंद हंसी बिखरती रहती है।

तब, आदमी बचपन में अलग होता है, जवानी में अलग और बुढ़ापे में अलग। ख़ास कर बचपन का तो बाद की ज़िंदगी से क्या मेल? उस पर भी गंगाराम जैसे लोगों का? लेकिन और किसी का न हो, गंगाराम का है!

बात जिस इलाक़े की है, वहां 15-20 घर ठाकुरों के और सौ-डेढ़ सौ घर, सरकारी भाषा में, कमज़ोर वर्गों के, ठेठ भाषा में, पासी, दुसाध, चमार और अहीर आदि के। अलबत्ता, सभी एक दूसरे से आवश्यक दूरियों पर। और जैसा कि होता आया है, पंद्रह-बीस घर ठाकुर, इलाक़े के सिरमौर। बाक़ी सब दुम हिलाते हुए पीछ-पीछे।

गंगाराम इन्हीं में से एक ग़रीब दुसाध का लड़का था। गंगाराम के बचपन में सिर्फ़ दुसाध भर कह देना काफ़ी था, किसी विशेषण की ज़रूरत नहीं थी। वैसे हरिजन शब्द का भी इस्तेमाल किया जा सकता था। लेकिन इससे एक बड़े वर्ग का बोध होता है, जातिगत विशेषता का पता नहीं चलता। जाने-अनजाने में किस तरह सरकार ने एक वर्ग चेतना(?) का बीज बो दिया है! है न?

लेकिन सरकार का क्या है? दुसाध को लड़की की शादी करनी है तो दुसाध ही खोजेगा। चमार को

लड़की की शादी करनी है तो चमार ही खोजेगा। फिर यह 'हरिजन-हरिजन' करने से इन बारीकियों का पता कैसे चलेगा?

ख़ैर, सरकार की बात दूसरी है, गांव-घर की बात दूसरी। तो गंगाराम इन्हीं में से एक ग़रीब दुसाध का लड़का था, कमज़ोर और दुबला-पतला, जैसा कि मैं ऊपर कह आया हूं। लेकिन जितना दुबला-पतला वह था, खाना उतना ही अधिक खाता था। लोग कहते--उसका पेट है कि पाताल, पता ही नहीं चलता। और जो वह इतना खाता है, वह जाता कहां है? अपने घर में तो 'भुजी-भांड' नहीं, इसलिए उसकी बात क्या करना, लेकिन जब ठाकुरों के घर किसी 'क्रिया-करम' में वह खाने बैठता, देखने वाले देखते ही रह जाते। और रामकिसुन बाबू की बेटी की शादी में तो कमाल ही हो गया!

शादी हो चुकी थी। भोज चल रहा था। गंगाराम जिस पंगत में बैठा था, उसके अगल-बगल और पंगतें थीं। लेकिन धीरे-धीरे सारी पंगतें उठ गयीं। गंगाराम की पंगत वालों ने थोड़ी देर गंगाराम के 'हाथ बारने' का इंतज़ार किया, लेकिन गंगाराम था कि खाए जा रहा था। हार-पार कर वे भी उठ गये।

कानाफूसी होने लगी—कौन खा रहा है?

गंगाराम!

कहां का लड़का है? किसका लड़का है?

अरे, गांव के एक दुसाध का लड़का है।

आवाज़ें तेज़ होने लगीं—कौन खा रहा है, कौन खा रहा है? ... कौतुहलवश सभी उसे देखे जा रहे थे। ताज्जुब की बात! उतनी व्यस्तता में भी रामकिसुन बाबू ने जब यह बात सुनी तो अपने को रोक नहीं सके। उसकी पत्तल के सामने एक कुर्सी डलवा कर बैठ गये। बोले गंगाराम, तुम डरो मत, खाए जाओ। फिर परोसने वाले को बुलाया और कहा—तुम भी यहीं रुक जाओ और गंगाराम जैसे-जैसे खाते जाता है, तुम देते जाओ। गंगाराम ने कृतज्ञता-पूर्वक एक बार रामकिसुन बाबू को देखा और फिर खाने में जुट गया। ऐसा खाना बरस-दो बरस में भी तो नसीब नहीं होता है!

उधर अस्तबल में गंगाराम का बाप हरखू चमार के साथ घोड़ों के लिए सानी-पानी कर रहा था। बात वहां तक पहुंच गयी। बाप बेचारा तो शर्म से कट गया। उसने हरखू से कहा—हरखू, जा के ज़रा उस हरामज़ादे को उठा लाओ तो भाई! पूरा गांव तो उस 'पेटू' को जानता ही है, बाहर के बारातियों के सामने भी मेरी नाक कटा रहा है।

हरखू एक अच्छे दोस्त की भांति हाथ-मुंह धो कर भोज-स्थल पर गया। क़रीब-क़रीब सभी लोग खड़े हो कर गंगाराम का यह तमाशा देख रहे थे। शरम हरखू को भी लग गयी—हरामी, पूरी ग़रीब बिरादरी की नाक कटा रहा है। ऐसा तो नहीं कि आज ठूंस कर खा लेने के बाद कल से भूख ही नहीं लगेगी? सामने रामकिसुन बाबू को बैठा हुआ देखा तो एक बार ठिठका। लेकिन बात बर्दाश्त के बाहर होने लगी थी। लोग जोर-जोर से हंसने लगे थे। वह लपक कर गया और खप-से गंगाराम का हाथ ही पकड़ लिया। एक कोर मुंह में, एक कौर हाथ में! गंगाराम अचकचा गया।

रामकिसुन बाबू के मनोरंजन में बाधा पड़ी। फिर भी वे बिगड़े नहीं। शायद अपनी लड़की की शादी थी, इसलिए। हंस कर बोले—जाओ, अब खाओगे भी कैसे? चमार ने तो छू दिया! गंगाराम ने भी इसे महसूस किया—वह तो चमार से ऊंची जात का है! उसने धीरे से कौर पत्तल पर रखा और उठने लगा। यहां भी हंसी! उससे उठा ही नहीं जा रहा था। हरखू ने तो पकड़ ही रखा था—उसी ने तौल कर उठाया।

'क्यों पिल पड़ते हो इस तरह खाने पर?' बाद में हरखू ने उसे समझाने की कोशिश की थी—यह ठीक है कि हमलोग देवताओं की तरह धूप की सुगंध और फूल की ख़ुशबू सूंघ कर नहीं रह सकते। हमें एक पेट भात चाहिए-ही-चाहिए। लेकिन क्या इस तरह ज़लील हो कर? यह भी ठीक है कि हमें कभी बढ़िया खाना नसीब नहीं होता और बाबू लोगों के यहां किसी अवसर पर ही ऐसा खाना मिलता है। लेकिन ...।

गंगाराम ने बात काट दी थी। कहा था—काका, मैं सिर्फ़ पेट भरने के लिए नहीं खाता। मैं खा-खा कर इतना मोटा, इतना ताक़तवर हो जाना चाहता हूं कि मुझे जो लड़के रात-दिन चिढ़ाते रहते हैं, गंगाराम नंगाराम कह के, मैं अकेले सब को सबक सिखा सकूं।

हंस पड़ा था हरखू। कहा था—ठीक है, लेकिन वह ताक़त एक बार पेट ठूंस कर खा लेने से नहीं आती है। उसके लिए तो रोज़-रोज़ भर पेट खाना मिलना चाहिए ...।

और रोज़-रोज़ भर पेट भोजन का इंतज़ाम कर लिया था गंगाराम ने!

वह दिन और यह दिन!

ठाकुर रामकिसुन के अस्तबल में घोड़ों को सानी-पानी खिलाता था उसका बाप। आज वह ख़ुद एक अस्तबल का मालिक है। भोजन देख कर टूट पड़ने वाला गंगाराम ख़ुद कितने लोगों का पेट भरता है!

दस कट्ठे में फैला हुआ उसका मकान। परिजनों से भरा, कुटुंबों से गहगहाता हुआ उसका परिवार। कभी-कभी गंगाराम अपनी छत पर टहलता हुआ विगत इतिहास की तरह पूरे इलाक़े को देखता जाता है। देखता जाता है और सोचता जाता है। सोचता जाता है, किस तरह 'लक्ष्मी' ठाकुरों की बस्ती से सरकती हुई धीरे-धीरे उसके पास आती गयी! आन-बान और शान में जीने वाले ठाकुर किस तरह अपनी आन-बान और शान में ही खोखले होते गये और ...।

और वह मन-ही-मन सर झुकाता है, उस हरखू काका के प्रति, जिसने उसे उस दिन हाथ पकड़ कर भोज पर से उठा लिया था। उठा लिया था और समझाया था। और समझ में आने के बाद उसे दूर-दूर तक लोगों की हंसी अपना पीछा करती हुई लगी थी। यह पेट! हां, यह पेट ही सारे अनर्थों की जड़ है। पहले इसी का जुगाड़! उसकी दृष्टि गयी थी, अपने हाथों पर—बहुत छोटे थे उसके हाथ! उसने अपने पिता जी के हाथों की ओर देखा था—वे रामकिसुन बाबू के अस्तबल में, सानी-पानी में फंसे थे! और सानी-पानी करते हुए उसके पिता एक दिन चल बसे थे। जाते-जाते वे अपने 'पितृ-धर्म' का पालन ज़रूर कर गये थे—गंगाराम की शादी करा गये थे। गंगाराम छटपटा कर रह गया था। लेकिन उसने हिम्मत नहीं हारी। कभी के 'पेटू' गंगाराम ने अपना पेट काट-काट कर किसी तरह एक बेटे को पढ़ाया-लिखाया। कभी-कभी गंगाराम को हरखू काका की तरह गांधी बाबा को भी प्रणाम करने का मन करता है, क्योंकि पढ़ने-लिखने के तुरत बाद 'मुनुवा' को नौकरी लग गयी बैंक में। मुनुवा ने बाद में समझाया था कि गांधी बाबा ने ऐसी व्यवस्था कर दी है कि दुसाध, चमार, पासी आदि छोटी जात के लड़कों को पढ़ने के तुरंत बाद नौकरी लग जाती है। अभी दूसरा बेटा शिवचरण बताता है कि ऐसा अंबेडकर नाम के एक आदमी के कारण हुआ था। लेकिन किसी के भी कारण हुआ हो, जैसे-जैसे उसके बेटे बड़े होते गये, दनादन नौकरी में लगते गये। मुनवा बैंक में, शिवचरण पुलिस में, हरिचरण ब्लॉक ऑफ़िस में।

और गंगा राम अपने बड़े होते हुए हाथों की ओर हर्ष के साथ देख रहा था।

हरखू काका तब भी जीवित थे और समय-समय पर आते-जाते रहते थे। उन्होंने समझाया था—बेटा,

ऐसा नसीब किसी-किसी का ही होता है। किसी को धन मिलता है तो जन नहीं, और किसी को जन मिलता है तो धन नहीं। तुम्हारे पास अभी 'धन' और 'जन' दोनों हैं। थोड़ा बुद्धि-विवेक से काम लेना। धन से मति-भ्रम भी होता है। बाबुओं की तरह कुचलन से बचना।

बाबुओं का कुचलन!

गंगाराम को हंसी आती है। बाबुओं में कुचलन नहीं होता तो आज क्या गंगाराम, गंगाराम होता? वह वही गंगाराम, नंगाराम ही नहीं रहता?

बाबुओं मे आन-बान और शान के अलावे एक और 'कुचलन' था—नयी-नयी लड़कियों का शौक! घर में अच्छी-भली पत्नियों के रहते पता नहीं, कहां-कहां से वे कैसी-कैसी लड़कियां उठा लाते थे। एक औरत से बंध कर रह जाये, वह क्षत्रिय कैसा? क्षात्र धर्म और मर्दानगी की यही परिभाषा थी उनके सामने। और यही परिभाषा ले डूबी उन्हें। ये दूसरी-तीसरी औरतें लायी ही जाती थीं तफ़रीह के लिए। ये पान खातीं, शराब पीतीं और तरह-तरह की फ़रमाइशें करतीं। बाबूलोग इन फ़रमाइशों को पूरी करते धीरे-धीरे चुकते जाते। हालांकि इन औरतों में भी किसी-किसी ने इतिहास बना दिया और अपनी निष्ठा और कर्तव्य-परायणता के लिये आज भी इलाक़े में याद की जाती हैं। लेकिन इनकी तादाद बहुत कम थी। अधिकतर खप नहीं पायीं। और वे गहने-रुपये लेकर चलती बनीं। छीजते हुए बाबुओं ने कुछ को 'पेशे' में भी लगा दिया—कुछ आमदनी के लिए। लेकिन डूबते को तिनका सिर्फ़ कहावत में ही सहारा दे सकता है। इन्हीं क्षणों में बाबुओं के यहां की 'लक्ष्मी' क्रमशः गंगाराम के हाथों पहुंचने लगी थी। बड़े-बड़े मौक़े संभाल दिए गंगाराम ने, बाबुओं के। तीनों कमाऊ पूतों के पैसे एक जगह इकट्ठे हो रहे थे। उनका इससे बढ़िया उपयोग क्या हो सकता था?

लेकिन पैसे क्या यों ही दिए जा सकते थे? गंगाराम ने तो पहले हाथ जोड़ दिए थे—मैं एक अदना-सा आदमी! क्या मुंह ले कर आप के दरवाज़े पर पैसे 'वसूल' करने आऊंगा?

दरवाज़े पर के बाबू को ताव आ गया था—मैं न उधार मांगने आया हूं , न भीख। इतनी संपत्ति पड़ी है मेरी। रख लो एक! कहा न, आन, बान, शान! और बस एक, दो, तीन...! गिनती का कोई अंत नहीं है न! फिर, बाबू भी बढ़ते गये—एक, दो, तीन...! और उधर गंगाराम नोटों की गड्डीयां गिन रहा था—एक, दो, तीन...!

इसी बीच एक दिन हरखू काका आ धमके थे। जी हां, इस बार 'आ धमके' थे। आये तो थे वे नेवता लेकर। इस बार रामकिसुन बाबू की पोती की शादी हो रही थी। लेकिन नेवता के पहले उन्होंने डांट पिलायी। कहा था—गंगाराम इसी दिन के लिए मैंने तुम्हें सचेत किया था।

'हुआ क्या काका?'

'होगा क्या खाक? मैंने अभी-अभी शिवचरण को दुखहरण बाबू की लड़की के साथ खलिहान में देखा ... ये सब बुराइयां आती ही हैं धन के साथ। इसीलिए...।'

'पर काका, बाबुओं ने एक समय हमारी बहू-बेटियों के साथ भी...।'

'नहीं गंगाराम, बदला नहीं। और बदला भी... तो इस तरह से तो बिलकुल नहीं।'

गंगाराम मायूस हो गया था।

बात आगे बढ़ाई थी हरखू काका ने—'ताक़त है तो एक प्रतिकार करो।'

'कैसे?'

'रामकिसुन बाबू की बेटी की शादी वाली घटना याद है तुम्हें?'

गंगाराम का काला रंग भी सुर्ख़ होता हुआ नज़र आया।

'मैं उस घटना की याद तुम्हें 'छोटा' करने के लिए नहीं दिलाना चाहता हूं। वो तो तुम्हारे बचपन की बात है। मैंने तुम्हें भोज पर से हाथ पकड़ कर उठाया था—लेकिन तुम पत्तल हाथ में ही ले कर उठे थे। याद है?'

गंगाराम ने स्वीकृति में सर हिलाया।

'और आज भी वही नियम चल रहा है। जब हम उनके यहां नौकर होते हैं तब की बात नहीं करता—तब तो हम खाते हैं, अपना जूठन आप साफ़ करते हैं और हमें मलाल नहीं होता। लेकिन जब भोज-काज में 'नेउत' कर ले जाया जाता है, तब भी? उलटे, जब बाबुओं को हम नेउता देते हैं तो हमें 'सूखा' पहुंचाना पड़ता है। वे हमारे यहां बैठ कर नहीं खाते। और जो हम 'सूखा' देते हैं, पता नहीं, उसको वे खाते भी हैं या नौकर-चाकरों को दे देते हैं... इसके बारे में कभी सोचा है तुमने? समर्थ हुए हो तो जाति की इस दीवार को तोड़ो या फिर ऊंची जाति के होने के उनके दंभ को!' कहते हुए हरखू काका नीचे उतर गये थे। गंगाराम सोचता रह गया था।

धमाका हुआ था इस बार इलाक़े में। रामकिसुन बाबू की पोती की शादी में कोई भी 'इतर' जात खाने नहीं जायेगा। रामकिसुन बाबू अभी जीवित थे। सुना तो सन्न रह गये—आख़िर क्यों?

गंगाराम ने ऐसा कहलवा भेजा है!

रामकिसुन बाबू ने अपना विशेष विश्वासपात्र गंगाराम के पास भेजा—'मेरी ही पोती की शादी पर ऐसी प्रतिज्ञा क्यों?'

'यह सिर्फ़ संयोग है कि आप की पोती की शादी है। और हम खाने से कहां इनकार करते हैं? शर्त यही है कि खाने के बाद हम अपना पत्तल नहीं उठाएंगे। 'नेउत' कर ले जाते हैं तो समुचित सम्मान दीजिये। और यह सम्मान आप ने दिया तो फिर सब ने दिया—क्योंकि आप तो गांव के सिरमौर हैं।'

'यह बात भी सुननी थी? वह भी गंगाराम के मुंह से? गंगाराम रखता है शर्त, जिसका बाप रामकिसुन बाबू के अस्तबल में घोड़ों को नहलाते-धुलाते, सानी-पानी करते मर गया? समय सचमुच बड़ा बलवान है। गंगाराम एक 'धनी दुसाध' हो गया है अब! अब उसे सम्मान चाहिए?'

'नहीं, यह नहीं होगा!' रामकिसुन बाबू चिल्लाये थे—'जा कर गंगाराम से कह दो, वह अपनी औक़ात पहचाने!'

कहने की ज़रूरत नहीं थी। अपनी औक़ात पहचानने लगा था गंगाराम। उसने पूरे इलाक़े में मुनादी करवायी—शादी के दिन सबों का भोजन मेरे यहां!

तनाव बढ़ गया था। ख़ेमेबंदी होने लगी थी। गंगाराम को यह देख कर सुखद आश्चर्य हुआ कि 'सम्मान' पाने के लिए सभी 'इतर' लालायित थे, जो उसकी छांव तले आ खड़े हुए थे। गंगाराम अचानक अपने को बहुत ताक़तवर आदमी समझने लगा था। रामकिसुन बाबू उसके सामने बौने लगने लगे थे।

ठीक शादी के दिन बहुत बड़े भोज का आयोजन हुआ। 'गांव की बेटी' की शादी में दुसाध-चमार सबों ने जा कर रामकिसुन बाबू के यहां काम किया ज़रूर—पर खाया नहीं किसी ने। खाना खाया समानांतर भोज में—गंगाराम के यहां! उस भोज में खाने के बाद जब हरखू काका जाने लगे तो गंगाराम ने रोक लिया—'मुझे अपने पैर छू लेने दो, काका। आज तुमने हमें आत्मसम्मान की ताक़त बता दी।

अगर तुम न होते...।'

हरखू काका बूढ़े हो चले थे। आंखें भी धुंधली हो चली थीं। लेकिन उन धुंधली आंखों में भी जो चमक आयी और गयी, उससे निहाल हो गया गंगाराम!

गंगाराम ने हरखू काका के उस ऋण को भी अच्छी तरह चुकाया है—उनके नाम से एक स्कूल खोल कर—'हरखू राम हाई स्कूल!'

क्या होगी इससे बेहतर श्रद्धांजलि? क्या होगा इससे बेहतर पैसों का उपयोग, ताकि वहां से और निकले मुनुवा, और निकले हरिचरण और निकले शिवचरण और, और-और बनें गंगाराम!

वह दिन और यह दिन!

गंगाराम की शर्त जहां की तहां लटकी हुई है। कितनी शादियां बाबुओं के यहां हुईं, कितनी शादियां 'इतरों' के यहां हुईं, लेकिन न उन्होंने इनके यहां खाया, न इन्होंने उनके यहां। पहले तो 'सूखा' भी चला करता था। अब तो वह भी बंद है।

गंगाराम, अलबत्ता, बाबुओं की मदद ही करता है—दरी, पेट्रोमैक्स आदि ऐसे अवसरों पर काम में आने वाली चीज़ें दे-दे कर। कभी-कभी अपनी दोनों बंदूकें भी दे देता है, शादी-ब्याह के अवसर पर बाबुओं के यहां गोली छोड़ने का रिवाज चलाये रखने के लिए। अगर उधर बंदूक चलाने वाला कोई न हुआ तो अपने बेटों अथवा पोतों को भेज देता है। लेकिन खाना? ना बाबा! खाने की वही शर्त! मंजूर है तो कहो, आते हैं!

कौन करेगा मंजूर? एक कोइरिन थी। रानी बन गयी तो बैंगन को टैंगन कहने लगी।

गंगाराम ने पूरे इलाक़े को बर्बाद(!) कर दिया। कितने मेल-जोल से भाईचारे(?) के साथ रहते थे लोग! गंगाराम की सफ़ेद मूंछें फड़फड़ाने लगती हैं ...।

मो. : 09431743074

यह इन्हीं दिनों की बात है

मनोज कुलकर्णी

यह उन दिनों की बात है।

गुज़री सदी के आठवें दशक के बीच बरसों की। सरकारी दस्तावेज़ों में जब हरितक्रांति की आमद दर्ज हो चुकी थी। कृषि-विभाग के कैलेण्डरों में खेत लहलहा रहे थे। किसान खिलखिला रहा था। 'ट्विटर' का ख़याल, तब किसी के सपने तक में न रहा होगा, पर आपातकाल थोपते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री चहचहायी थी—हम सुनहरे कल की ओर बढ़ रहे हैं।

छोटे किसान, अलबत्ता, उस सुनहरेपन को देख-समझ नहीं पा रहे थे। आधुनिक विकास के रंदे पर छील-छील कर खेत-मज़दूर बना दिये गये वे लोग फटेहाल थे। सूदख़ोरों के शिकंजों में थे। जीवित रहने की दयनीय कोशिश में बचे-खुचे खेतों, गाय-बैलों को कौड़ियों के भाव बेचने को विवश। कुम्हारों, लोहारों, कहारों, बढ़इयों, बसोड़ों, गड़ेरियों जैसों की रोज़ी-रोटी भी उन्नति के गहरे भंवर में डूबती जा रही थी। 'शहरम् शरणम् गच्छामि' हुए ऐसे हज़ारहा चेहरे हर रोज़ बड़े शहरों की भीड़ में गुम जा रहे थे... जहां वे खोमचे लगाते, बोझा ढोते या रिक्शे खेंचते। उनकी बीवियां-बेटियां साहबों के बंगले झाड़तीं, उनके कपड़े पछीटतीं और जूठे बर्तन मांजतीं।

तंग बस्तियों के बजबजाते धब्बे शहरों के शरीर पर त्वचा रोग-से फैल रहे थे।

यह उन्हीं दिनों की बात है।

देश की गोबर-पट्टी के एक गांव की... या कहें हर गांव की!

एक उदास और गहराती शाम में कहानी के गांव के अलग-थलग, धूल-भरे, खंडहर होते बस-अड्डे पर एक पुरुष आकृति नमूदार हुई थी। दुबली-पतली, मुरझायी सी। टेरीलिन की रंगत खोती पीली कमीज़ और चौड़े पांयचों वाला, पुट्ठों पर थिगलियां लगा मटियाता पजामा पहने। कंधों पर चौखानेदार लाल गमछा। चिकट, गंधाता-सा। गहरी बिवाइयों से भरे हुए खुरदुरे मैले पैरों में उसने बदरंग बद्दियों वाली घिसी हुई हवाई चप्पलें पहन रखी थी। उनमें से एक की टूटी हुई बद्दी को सेफ़्टिपिन से जोड़ रखा गया था। कमीज़ की पीठ पर एक छोटा-सा छेद था। कुछ कत्थई दाग भी। उसके पीले पड़ते दांतों पर भी वैसे ही कत्थई दाग थे। उसके रह-रहकर खांसने पर जो दीख पड़ते थे। उसका मुंह बेतरतीब मूंछों और कुछ दिन पुरानी दाढ़ी के चितकबरे खूटों के बीच दुबका हुआ था। उसका रंग गहरा सांवला था और नाक

कुछ ज़्यादा ही चौड़ी। मायूस आंखें इस कदर डबडबायी-सी थीं कि उनमें झांक पाना मुमकिन न था। चुनांचे, वहां बसनेवाले सपनों के रंग-रूप के बारे में कुछ कह सकना मुश्किल था।

पता नहीं कोई सपना वहां था भी कि नहीं!

मन मसोस, बेआवाज़ रोता वह शहर जाने वाली बस में बैठ गया था। गमछे से अपनी आंखें पोंछता। धूल के गुबार में ओझल होते अपने गांव को कातर निगाहों से देखता। उसकी कड़ियल मुट्ठी ने कपड़े का एक पुराना, बेरंग थैला भींच रखा था, जिसमें एक जोड़ी पजामा-शर्ट था। हरी-काली चौकड़ी वाली एक पुरानी चादर, हथौड़ा, वसूला, आरी, कचक, चौरसी, बर्मा-कमानी और कुछ अन्य औज़ार और थोड़ी सी रेज़गारी थी। बीड़ी का एक बंडल और माचिस के अलावा बेहद सहेज कर रखी गयी सरकारी स्कूल की अंकसूची थी। पीली-जर्जर। घोषित करती कि जुगलकिशोर आत्मज-घनश्याम विश्वकर्मा ने कक्षा आठ उत्तीर्ण कर ली है।

यह उन दिनों की बात है ।

कहानी के गांव में जब न काम था, न कमाई। हाईस्कूल भी नहीं था।

यूं आज जब यह कहानी कही जा रही है, हम जानते हैं कि अब भी देश के लाखों गांव स्कूलों से महरूम हैं। वहां अस्पताल, सड़क, बिजली, पानी नहीं हैं। राशन भी ग़ायब है। डरावने अजगर-सी पसरी बेरोज़गारी है। तंगहाली, कर्ज़दारी, भुखमरी, बीमारी और अकालमृत्यु का तांडव है।

बहरहाल, उन्नीस सौ पचास के दशक के किसी शुरुआती बरस की एक अंधेरी और डरावनी रात की बात है कि कहानी के गांव के अपने कच्चे मकान के बरामदे में डरा-सहमा सा बैठा घनश्याम विश्वकर्मा बीड़ी पर बीड़ी धौंक रहा था। भीतर, कमरे में लालटेन भुकभुका रहा था। वहां अनर्गल गालियां बकती गुलिया दाई थी। प्रसव वेदना से तड़पती घनश्याम की जवान पत्नी मुनिया बाई थी। आवाज़ों की उस धकापेल को एकबारगी ख़ामोश करती हुई गूंजी एक नवजात किलकारी अभी थोड़ी सी दूर तक ही फैली थी कि काली चादर में लिपटी दसों दिशाएं घनश्याम के मातमी विलाप से थर्रा उठी थीं।

अत्यधिक रक्तस्राव और अत्यल्प चिकित्सा सुविधाओं ने मिल कर एक जवान मां का बेरहम क़त्ल कर दिया था। घनश्याम का जीवन फिर पहले जैसा कभी न हो सका। बच्चे को जैसे-तैसे पालने-पोसने में ही उसका बाक़ी जीवन बीत गया। बेटे को उसने पुकारा—जुगलकिशोर। अभाव, कष्ट और संघर्ष जुगल के संग-साथ थे। गांव में उपलब्ध आठवीं कक्षा तक जुगल को पढ़ा देने में ही घनश्याम की जेबें घिस-घिसकर इस कदर फट चुकी थीं कि उनमें एक छदाम तक रखने की गुंजाइश न बची थी। लिहाज़ा, गांव से उन्नीस किलोमीटर दूर कस्बे के हाईस्कूल में पढ़ने की इच्छाओं और सपनों का गला घोंट जुगल अपने पिता के साथ बढ़ईगिरी के पुश्तैनी पेशे में जुट गया था जिसमें उसके ना मालूम कितने पुरखे, ना मालूम कितने वर्षों से खटते-खपते आये थे।

सत्रह-अठारह बरस के होते न होते लीला के साथ जुगल की शादी करा कर घनश्याम ने जो बिस्तर पकड़ा तो जल्द ही दुनिया को अलविदा कह देने तक नहीं छोड़ा। बाईस-चौबीस की उमर तक तो जुगल दो बेटियों विमला-कमला और एक बेटे गणेश का बाप बन चुका था जिनके लिए न तो उसकी रसोई के कनस्तरों में पर्याप्त अन्न था, ना ही अंटी में रुपया-धैला। गृहस्थी को दहाकाने के लिए वह लकड़ियों

के साथ-साथ अपने जीवन की सख़्त गठानों को छील-काट कर कोई आकार देने की नाकाम कोशिशें करता रहता। मेहनत और मंहगाई जितनी बढ़ती जाती, कमाई उतनी ही घटती जा रही थी। जुगल के गाल धंस चुके थे, कनपटियों के बाल सफ़ेद होने लगे थे। पेशानी पर नसें उभर आयीं थी। बेदम खांसते हुए वह अपनी अशक्त पत्नी और कुपोषित बच्चों की चिंता में डूबा रहता। निर्जन रातों में खटिया पर पड़े-पड़े, बीड़ी फूंकते हुए वह गांव के सरकारी अस्पताल की दीवार पर लिखे सरकारी संदेश 'दूरदृष्टि, कड़ी मेहनत, पक्का इरादा, अनुशासन' को मन ही मन दोहराता रहता।

यह उन्हीं दिनों की बात है।

कहानी के ही गांव में ठाकुर बहादुर सिंह भी रहते थे। वे ज़मींदार थे। मार्क्सवादी शब्दावली के घनघोर आलोचकों से क्षमा चाहते हुए सीधे-सीधे कहें तो यह कि उत्पादन के साधनों और इलाक़े के प्राकृतिक संसाधनों पर सदियों से उन्हीं के पुरखों का बेज़ा क़ब्ज़ा रहा आया था। 15 अगस्त 1947 को सरकारी काग़ज़ातों पर से राजे-रजवाड़े मिटा देने और 26 जनवरी 1950 को यह मुनादी तक पिटवा देने के बाद कि देश में 'जनता का, जनता के लिए, जनता द्वारा' राज आ चुका है, गांव के माई-बाप तो ठाकुर साहब ही बने हुए थे। ज़िला मुख्यालय में कचहरी थी। कलेक्टर और पुलिस कप्तान भी। मगर ठाकुर साहब का रुतबा जस का तस था। उनका ख़ानदान अब राजनीति में आ चुका था। इलाक़े के सांसद-विधायक उन्हीं के खानदान से बनने लगे थे। क़ायदे-क़ानूनों को ठाकुर साहब घंट पर मारते थे। बेनामी रुक्कों से गांव की आधे से अधिक हरी-भरी ज़मीन उन्हीं की तिजोरी में रेहन पड़ी थी।

संविधान के सफ़ों पर बहादुर सिंह और घनश्याम विश्वकर्मा का दर्जा समान बताया गया था, किंतु जब भी दरोगा या तहसीलदार गांव आते, ठाकुर की हवेली में ही ठहरते। दारू पीते। दावतें उड़ाते। घनश्याम जैसों से अपने पैर दबवाते। रात की स्याह तहों में उनकी जवान बहू-बेटियों को कस-मरोड़ते।

उन्हीं ठाकुर का एक बेटा संजयप्रताप सिंह लोकनिर्माण विभाग में इंजीनियर बन गया था। पास ही के शहर में पदस्थ संजय प्राथमिक स्कूल में जुगल का सहपाठी रहा था। पिछली दफ़ा जब वह गांव आया था, जुगल की पतली हालत पर पसीज गया था।

उसने जुगल को मशवरा दिया था, 'तुम शहर चले आओ।'

'कुछ हो पायेगा?' जुगल शंकित था।

'आओ तो। इमरजेंसी हट गयी है। कुछ हो ही जायेगा।' उसने आश्वस्त किया था।

उसी आश्वासन का सिरा पकड़ जुगल किशोर विश्वकर्मा शहर जाने वाली बस में बैठ गया था।

यह उन दिनों की बात है।

शहर का यह इलाक़ा जब अकेला-सा था। एक नयी रिहाइश भर यहां थी। डाकख़ाने के रिकार्ड में तात्या टोपे नगर, मगर कॉलोनी के प्लाटों की संख्या अनुसार लोग उसे सत्रह सौ साठ कालोनी कहते थे। वह सिंदूरी शाम, जिसमें जुगल गांव से बस में चढ़ा था, उसके शहर तक पहुंचते-पहुंचते एक काली रात में ढल चुकी थी। अजनबी शहर में बमुश्किल ढूंढते-पूछते वह 'सत्रह सौ साठ' कॉलोनी के मकान नंबर ए-314 तक पहुंच पाया था। उसकी हड़बड़ाई दस्तक पर संजयप्रताप सिंह के बेटे ने

दरवाज़ा खोला था। जुगल के चेहरे पर पसरे डर और संकोच का मज़ाक उड़ाते हुए संजय थोड़ी देर तक हंसता रहा था। उसकी पत्नी और बच्चों के स्वर भी उस खिल्ली में शामिल थे। जुगल का मन रोने-रोने का हो रहा था। उस रात उसे दाल-रोटी और अचार की एक फांक देकर संजय ने अपने घर के पिछवाड़े स्थित एक तंग खोली का रास्ता बताते हुए धीरज बंधाया था, 'यहां रहो। एकाध दिन में काम का मामला जमाते हैं।'

जल्द ही संजय ने जुगल को अपने विभाग में दिहाड़ी पर रखवा दिया था। सरकारी इमारतों में खिड़की-दरवाज़ों की मरम्मत का काम निकलने पर उसे जाना होता। अन्यथा समय पर दफ़्तर में हाज़िरी लगा वह चाय-पान की गुमटियों पर चलने वाली अखण्ड बकवास में शामिल हो जाता। बीच-बीच में साहब लोगों के लिए चाय-पानी, सिगरेट-तमाखू लाता रहता।

दिन मज़े में कट जाते, मगर सूनी रातें काटने दौड़तीं। बच्चे याद आते। पत्नी-विरह में बेचैन जुगल करवटें बदलता। उसकी खोली की दीवार में संजय के शयनकक्ष की एक खिड़की थी, जिसके कपाट सदैव बंद रहते थे। यदा-कदा देर रात के सन्नाटे में उनके किसी सूराख से फुदक कर कोई मादक स्त्री सित्कार जुगल के कानों में उतर आती, तब नींद और दूर भाग जाती। गोपन नारी-अंगों की छायाएं दिमाग़ में घमासान मचा देती।

ऐसी ही किसी विचलित रात में उसके सपने में गांव वाले गुरुजी प्रगट हुए थे। हिदायत देते हुए, 'नौजवानों को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। जो हनुमानजी की भक्ति और लंगोट की शक्ति से ही हो सकता है।' सुबह जागने पर जुगल को रात का सपना याद रहा। ख़ुद के तात्कालिक संकट का समाधान उसे मिल जो गया था।

उसी रोज़ उसने दो लंगोटें खरीदीं। कॉपी-पेन भी। रात को नींद ना आने तक वह कॉपी में 'जय हनुमान, जय हनुमान...' लिखने लगा था। इस तरह आपद् ब्रह्मचर्य निभा ले जाने का उसे पक्का यक़ीन था। कॉलोनी की मुख्य सड़क किनारे खड़े विशालकाय पीपल से उसने दोस्ती गांठ ली थी। रोज़ शाम या छुट्टियों की दोपहर वह उसी के तले बैठ बीड़ी फूंकता रहता। मन भटकने पर 'जय हनुमान, जय हनुमान' रटने लगता। दाढ़ी-बाल बढ़ा वह लुंगी-कुर्ता पहनने लगा था। इस कारण धीरे-धीरे लोग उसे बाबाजी कह पुकारने लगे थे।

धीरे-धीरे लोगों के ज़ेहन से उसका मूल नाम खुरचता चला गया था।

यह उन्हीं दिनों की बात है।

एक रोज़ शहर में अफ़रा-तफ़री मची थी। ख़बर थी कि प्रधानमंत्री को उन्हीं के अंगरक्षकों ने गोली मार दी है। शाम तक शहर सन्नाटे में दुबक गया था। दिल्ली, कानपुर और इंदौर में दंगे हो रहे थे। गांधी बाबा के 'सत्य, प्रेम और अहिंसा' के जंतर में भरोसा रखने का दावा करनेवाले दल के कार्यकर्ता सिक्खों को ज़िंदा जला रहे थे।

कुछ दिनों बाद एक गेट मीटिंग में अपनी खरखरी आवाज़ में मज़दूरों के नेता गांगुली दादा बता रहे थे, 'जनतंत्र की खाल में राजतंत्र ऐश कर रहा है। मारी गयी प्रधानमंत्री के बेटे को चुटकी बजाते देश का प्रधानमंत्री बना दिया गया, मानो देश खानदानी जागीर हो? मल्टीनेशनल कंपनियों के खुर्राट

मैनेजर मंत्री बनाये गये हैं। देश कोई कंपनी हैं? कम्प्यूटर क्रांति के भजन गाये जा रहे हैं। देश को इक्कीसवीं सदी में ले जाने के दावे हो रहे हैं। साथियो... मामला इतना सीधा नहीं है...।'

दैनिक वेतनभोगियों की यूनियन के नेता थे सुकोमल गांगुली। उनका सभी आदर करते। बड़े साहब भी। कंधे पर काग़ज़-पत्तरों से भरा झोला और ओठों में सिगरेट दबाये लैंब्रेटा स्कूटर चलाने और निहायत सादे कपड़े पहननेवाले गांगुली दादा अक्सर बाबाजी के आफ़िस आते थे। बाबाजी को दादा पसंद थे। दूसरी यूनियनें भी थीं, जिनके दबंग और खुर्राट नेता पीठ पीछे दादा का मज़ाक उड़ाते। उन्हें 'क्रांति की नौटंकी' कहते। मगर बाबा को दादा भरोसेमंद लगते। बाबाजी न तो पेपर पढ़ते थे, न ही रेडियो सुनते। वे तो दादा के भाषणों से ही संसार की खोज-ख़बर पाया करते।

कुछ बरस बाद की एक मीटिंग में दादा बोले थे, 'हमारी तो क्या औकात? पर देश का रक्षा मंत्री ही चीख रहा है कि तोप खरीदी में सरकार ने धांधली की है। अब उसे चुप कराने के लिए ...फूट डालो-राज करो वाला अंग्रेज़ों का फार्मूला आजमाया जा रहा है। मुसलमानों को पटाने के लिए शाहबानो मामले में सबसे बड़ी अदालत का फ़ैसला पलट दिया गया है, तब तो हिंदुओं को भी ख़ुश रखना पड़ेगा न...! बाबरी मस्जिद पर पड़े ताले खुलवा दिये गये हैं। पूजा करने के लिए। मै कहता हूं... सावधान ! इस किसम की राजनीति हमें कहीं का नहीं छोड़ेगी।'

क्या कुछ हो रहा था, बाबाजी की समझ में नहीं आता था। पर उन्हें लगता था कि कहीं कुछ ग़लत हो रहा है। वे मन ही मन डर गये थे।

यह उन दिनों की बात है।

मुहावरों की गंगा-जमुना में जितना पानी न बहा था, उससे कहीं ज़्यादा राजनीति की गटर में बह रहा था। किसी रियासत का राजकुमार रहा पुराना रक्षामंत्री, जिसे राजा नहीं फकीर बताया जा रहा था, वाम-दक्षिण की अनोखी बैसाखी से देश की तक़दीर बन चुका था। चित्रकारी करने, हाइकू लिखने और गांधीजी की तरह पैर सिकोड़ कर बैठने के अपने जादू के बीच उसने 'मंडल आयोग' का तीर छोड़ा था। सामाजिक-न्याय की लपटों में आत्मदाह कर रहे, अगड़ी जातियों के छात्रों की मैयतों में रोते हुए कमण्डलवादियों ने मौक़ा ताड़ा। हिटलर से प्रेरित रथ-बांकुरा 'मंदिर वहीं बनायेंगे' की सौगंध खा रथ यात्रा पर निकल पड़ा, जिसे बीच में रोक देने पर राजा फिर एक बार फकीर हो गया था। बुढ़ा चुके 'युवा तुर्क' ने तब प्रधानमंत्री बनने की हवस पूरी कर ली थी। ख़ुद की ख़ुद्दारी और देश के विदेशी मुद्रा के भंडार को दांव पर लगा दिया था। चंद महीनों में ही देश फिर चुनावी-चूल्हे में झुलस रहा था।

उन्हीं चुनावों की एक सभा में आतंकियों ने पूर्व प्रधानमंत्री को बम से उड़ा दिया था। सहानुभूति की लहर में उस दिवंगत नेता की पार्टी का डगमग बेड़ा जैसे-तैसे किनारे लग गया था। कोई विकल्प न पा, हाशिये पर पटक दिये गये एक थके हुए नेता की जर्जर काया को झाड़-पौंछ कर प्रधानमंत्री की कुर्सी पर बिठा दिया गया था।

गांगुली दादा तब भी बोले थे, 'साथियो, इस सरकार को वर्ल्डबैंक का हुक्म मिला है कि देश की इकॉनामी किसके हाथों सौंपनी है। इस चुनाव में कोई भी पार्टी जीतती, वित्तमंत्री तो वर्ल्डबैंक का यही पुराना कारिंदा बनता। आते ही वह खेल दिखाने लगा है। दुनिया भर की आवारा पूंजी के लिए... हमारी

इकॉनामी के दरवाज़े खोले जा रहे हैं। ... साथियो! मुंबई में एक दलाल स्ट्रीट है। वहां आकाश चूमती एक बिल्डिंग में शेयर बाज़ार भरता है। वहीं से एक खूंखार सांड को छुट्टा छोड़ दिया गया है। उसकी थूथन आग उगल रही है। जिसकी चपेट में हम सब आयेंगे। देखना...! सरकारी-दफ़्तरों...कारखानों पर ताले डाले जायेंगे। ये कारपोरेशन हैं न, बिजली...रोडवेज़...बीज-खाद के...इन्हें बेचा जायेगा। छंटनियां होंगी। यह वित्तमंत्री हर दम भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण का...मंत्र जपता रहता है। मैं चेता रहा हूं ! ये हमें कहीं का नहीं छोड़ने वाला...।'

दूसरी यूनियनों के नेता कहते - 'पगला गया है गांगुली। इसकी विचारधारा मर चुकी है। रूस का स्वर्ग ढह चुका है, इसीलिए ये छाती पीटता रहता है।' बाबाजी असंमजस में थे कि कौन सही है, कौन ग़लत। अज्ञात अनिष्ट की आशंका का कीड़ा उनकी रूह चाट रहा था।

यह उन्हीं दिनों की बात है।

मज़दूरों की छंटनियां शुरू हो गयी थीं। एक दिन अचानक पी.डब्ल्यू.डी. में सैकड़ों दैनिक वेतनभोगियों को काम से हटा दिया गया। सूची में बाबाजी का भी नाम था। उनकी आंखों के आगे अंधेरा छा गया था। पस्त क़दम अपनी खोली में लौट उस शाम वे अपनी पत्नी और बच्चों के चेहरें याद कर देर रात तक रोते रहे थे।

अगले कुछ दिनों तक वे बिना नागा दफ़्तर जा, बेदखल साथियों के साथ जुलूसों-धरनों में शामिल होते रहे थे। वक़्त के साथ गांगुली दादा की आवाज़ घुटती गयी। सरकार के कानों पर जूं तक नहीं रेंगी। धीरज चूकने लगा। रामलाल ने रिक्शा चलाना शुरू कर दिया था। शंकर भाई ने चाट का ठेला लगा लिया। कुसुम सब्ज़ी बेचने लगी। सिकंदर मियां को कुछ नहीं सूझा। उन्होंने सल्फास की गोली खा ली। बाबाजी परेशान थे। क्या करें? गांव लौट जाने का तो सवाल ही नहीं था। उनकी तकनीक और कौशल पुराने पड़ चुके थे। बिल्डरों या फर्नीचर वालों के यहां उन जैसों के लिए न जगह थी, न ज़रूरत। उन्हें बुरे-बुरे ख़याल आते। उन कमज़ोर क्षणों में वे 'जय हनुमान-जय हनुमान' का जाप करने लगते। एक दिन सत्रह सौ साठ कॉलोनी के पीपल तले चिंतामग्न बाबाजी उक्त रटंत लगाये हुए ही थे कि उन्हें सूझा—यहीं, इसी पीपल के नीचे, चाय-गुमटी लगायी जाये।

आस-पास नयी-नयी कॉलोनियां बन रही थीं। मज़दूर बस्तियां थीं। गुमटी चल निकली। वे सेव, चूड़ा, टोस्ट, बिस्कुट, गुटखे और सिगरेट-बीड़ी भी रखने लगे। वहीं उन्होंने हनुमानजी की एक मूर्ति रख दी। सबसे पहले उसकी पूजा करते, फिर कोई काम। कुछ ग्राहक भी मूर्ति समक्ष माथा टेक चंद सिक्के चढ़ा देते। उनकी सुविधा के लिए बाबाजी एक दानपेटी ले आये, जिसके भर जाने पर बेघर हनुमानजी को ईंट-फर्सी की पक्की छत नसीब हुई। पीपल के तने पर पुट्ठे का एक बोर्ड ठोंक दिया गया, जिस पर टेढ़े-मेढ़े अक्षरों से लिखा था—सत्रह सौ साठ हनुमान मंदिर।

मंगलवार शाम एक भजन-मंडली वहां जमने लगी। शाम की सैर से लौटते सेवानिवृत्त बूढ़ों का दल वहीं आ बैठने लगा। परीक्षा में पार लगा देने की गुहार लगाते विद्यार्थी भी वहीं माथा रगड़ने लगे। चढ़ावा बढ़ने लगा। जल्द ही पीपल के इर्द-गिर्द पक्का ओटला बन गया।

यह उन दिनों की बात है।

मंदिर बनाने की जिद पर जब अयोध्या में सदियों से खड़ी एक मस्जिद को ढहाया जा चुका था। प्रेम, भाईचारे, सच और न्याय को मिट्टी में मिला देने वाली उस कार-सेवा से लौटे युवकों की अपने-अपने गांव-शहरों में तूती बोलने लगी थी। सत्रह सौ साठ कॉलोनी में रहने वाले रिटायर्ड टेलीफोन ऑपरेटर रतन चौरसिया का नालायक मान लिया गया बेटा कमल भी ऐसा ही एक कार-सेवक था। इलाक़े में अब उसका दबदबा था। कॉलोनी के नशेड़ी, मवाली और आवारा लड़के उसे युवा हिंदू हृदय सम्राट स्वीकार चुके थे। वह पार्टी के युवा-मोर्चे का पदाधिकारी बन चुका था। स्थानीय राजनीति में अपनी जगह पक्की करने के नाना उपायों पर कमल दिन-रात सोचता रहता था। एक दोपहर, खाना खाने के बाद सिगरेट की तलब लिए अपने घर से निकला कमल बाबाजी की गुमटी पहुंचा। इत्मीनान से कश खेंचते हुए अपनी चिंता में तल्लीन जब वह बेहूदगी से अपना गुप्तांग खुजा रहा था कि एकाएक उसकी आंखें चमक उठी थीं। गले में अटकी खंखार को नाली में थूक वह बाबाजी के क़रीब जा पहुंचा था। अगले आधे-पौने घंटे में सत्रह सौ साठ कॉलोनी की सरहद पर उस विशाल पीपल तले उन दोनों के बीच क्या गुप्तालाप हुआ, किसी को नहीं मालूम। इस तथ्य के, अलबत्ता, कई गवाह मिल जायेंगे कि उक्त फुसफुसाहट पश्चात विदा हुए कमल चौरसिया और बाबाजी के ओठों पर रहस्यमयी मुस्कानें थिरक रही थीं।

यह उन्हीं दिनों की बात है।

बाबाजी की गुमटी के सामने ईंट, गिट्टी, रेत के ढेर लगे हुए थे। सीमेंट की बोरियां रखी थीं। हनुमान मंदिर का जीर्णोद्धार होने लगा था। पहले कलशदार शिखर उठा, फिर फुटपाथ पर टाइल्स बिछायी गयीं। ट्यूब-लाइटें लगीं। पीपल के तने पर ठुका हुआ पुट्ठे का पुराना, हस्तलिखित बोर्ड हटाया गया। नया, बड़ा और चमकीला बोर्ड टंग गया—सत्रह सौ साठ हनुमान मंदिर भक्त मंडल/संयोजक—कमल चौरसिया/ संरक्षक—बाबाजी। उसके बाद बाबाजी की चाय-गुमटी इतिहास में विलीन होती गयी। मंदिर उनका फुलटाइम कारोबार बनता गया। मंदिर ही कमल चौरसिया की राजनीतिक गतिविधियों का केंद्र भी बनता गया। सांध्यकाल में लंपट गैंग वहीं आ बैठने लगी थी। मोहल्ले की किस लड़की को किस लड़के से मोहब्बत नहीं करनी चाहिये जैसे स्थानीय से लगाकर कौन-से नामी इतिहासकार की कौन-सी स्थापना ग़लत और बहुसंख्यकों की आस्था को ठेस पहुंचाने वाली है आदि राष्ट्रीय मुद्दों तक पर वहीं विचार-विमर्श होने लगा था। ऐसे मामलों में क्या कार्रवाई की जानी चाहिये, इसकी योजनाएं भी वहीं बनने लगी थीं।

यह उन दिनों की बात है।

शहर जब महानगरा रहा था। उसके रूप को कमनीय बना देने के सुरूर में धुत्त महापौर बाबूलाल यादव झुग्गी बस्तियों पर बुल्डोज़र चलवा रहा था। उसका नाम ही पड़ गया था—बुल्डोज़र यादव। उजड़ी बस्तियों की छाती पर भड़कीले मल्टीप्लेक्स, आलीशान कॉफी-बार, महंगे रेस्तरां, स्टार होटलें, सर्पीले फ्लाई-ओवर्स मूंग दलने लगे थे। सड़कें चौड़ायी जा रही थीं। नालियां ढकी जा रही थीं। फुटपाथ बनाये जा रहे थे। फूलों की क्यारियां भी। सीना ठोंकते हुए बुल्डोज़र यादव कहता—विकास हो रहा है। शहर

के वे चंद लोग, जिनकी जेबों में अनाप-शनाप धन और गले-गले तक अन्न भरा था, जिनकी रीढ़ की हड्डियां ग़ायब थीं, मुंडियां मटकाते हुए हामी भरते—विकास हो रहा है! विकास हो रहा है!

शहर के लड़के फ़िल्मी हीरो के सिक्स पैक एब्स के दीवाने थे। लड़कियां बेदाग त्वचा और जादुई सौष्ठव पाने के लिए पगला रही थीं। फिटनेस सेंटरों, एरोबिक क्लासों और ब्यूटी-सैलूनों की बहार थी। युवाओं की दूसरी नस्ल भी थी, जिसकी आंखों में अमेरिका, मल्टीनेशनल कंपनियां और लाखों के सैलरी-पैकेज झिलमिलाते थे। अलग अंदाज़ में 'चेतन' हुई यह नस्ल मुकेश अंबानी-नारायण मूर्ति, गूगल-एपल और फेसबुक-ट्विटर की 'भगत' थी। महंगे कोचिंग संस्थानों में दिन-रात रट्टे मारती। बचे समय में ऑन-लाइन चेटिंग या ऑफ़-लाइन डेटिंग करती।

बक़ाया जीवन में ऐश कर लेने का शौक ऐसे अधेड़ों पर भी चर्रा रहा था जो क़ब्ज़, वायुविकार या भगंदर आदि से परेशान थे। जिन्हें उच्च-रक्तचाप अथवा मधुमेह था और जिनकी कामशक्ति क्षीण हो रही थी। ऐसे अवसादग्रस्त लोग टी.वी. पर अनर्गल दिखते-बोलते एक योग-प्रशिक्षक के योगासनों, भस्मों और चूर्णो आदि के हवाले थे। गंजाते मर्द और बालों में बिखरती चांदी से भयभीत महिलाएं ज़रा-सा समय पाते ही दोनों हथेलियों के नाखून आपस में रगड़ने लगते।

यह उन्हीं दिनों की बात है।

शहर में एक शानदार मॉल बन चुका था जहां हर ब्रांड की हर वस्तु उपलब्ध थी। मॉल से बाबाजी बहुत प्रभावित हुए। प्रेरित भी। अपने मन की यह बात, कि हर भक्त को उसके भगवान एक ही जगह क्यों नहीं मिलने चाहिये, उन्होंने कमल चौरसिया से साझा की। फिर क्या था ? जल्द ही सत्रह सौ साठ कॉलोनी के फुटपाथ पर एक-एक कर राम-जानकी, गणेशजी, शिव-पार्वती, जगदंबा, संतोषी मां, राधा-श्याम और साईंबाबा के मंदिर उठ खड़े होते गये।

बाबाजी के महाभियान पर विधायक रामेश्वर तिवारी का वरदहस्त था। उन्हीं के आग्रहों, आशीर्वादों और धमकियों से अनुग्रहित, प्रेरित और भयभीत कपड़े के थोक व्यापारी सेठ हीरालाल जवाहरलाल मंदिर के कलशों पर सुनहरा पतरा मढ़वाने आगे आये तो 'अन्नपूर्णा गैस एजेंसी' के मालिक दशरथ साहू को वहां की फ़र्श पर टाइल्स लगवा देने की सूझी। सट्टा-बाज़ार से रकम खींचने वाले सौभाग्यमल अग्रवाल, मंदिरो की क़तार में एक प्याऊ बनवाने दौड़ पड़े। शहर की शानदार होटल 'हॉली डे पैलेस' के मालिक भागचंद पंजवाणी ने वहां के लिए पंखे, माइक और भोंपू खरीदवा दिये। प्रत्येक मंदिर पर भगवा ध्वज लहराने लगा। देवी जागरण, भागवत-कथा और भजन-संध्याएं होने लगीं। फुटपाथ के किनारे हार, फूल, प्रसाद, नारियल, अगरबत्ती, चुनरी, तस्वीरें बेचने के लिए दो-चार दुकानें सजने लगीं। एक उत्साही युवक एक रुपया प्रति जोड़ी की दर से जूते-चप्पलों की रखवाली में जुट गया। आये दिन भंडारे होने लगे। भिखारियों की जमातें जीमने आने लगीं।

बाबाजी की तो धजा ही बदल गयी है। काया मुटा गयी। लुंगी-कुर्ता झक्क सफ़ेद और सिल्की हो चुका है। ऊपर से भगवे रंग की रामनामी चादर वे ओढ़ते हैं। मस्तक पर लंबा तिलक। गले में रूद्राक्ष की माला, सुनहरी कलाई घड़ी, सोने की अंगूठियां और नज़र का शानदार चश्मा। दाढ़ी-बालों पर तो सफ़ेदी छा ही गयी है, नकली बत्तीसी भी क़तारबद्ध और शफ़्फ़ाक है। फूलों और वंदनवारों से सजे-धजे मंच पर

रखी सजावटी कुर्सी पर विराज कर वे लोककथाओं, अकबर-बीरबल के क़िस्सों, मानस की चंद चौपाइयों और संता-बंता छाप चुटकुलों के भरोसे साधिकार धार्मिक प्रवचन भी करने लगे हैं।

संजयप्रताप सिंह याद है? बाबाजी का बालसखा। उनके कठिन दिनों का खेवनहार! पदोन्नत होते-होते वह वरिष्ठ-यंत्री पद तक जा पहुंचा था। सिमेंट में रेत मिलाने से बढ़ी उसकी बेहिसाब दौलत लोगों की आंखों में खटकने लगी थी। आयकर वालों के चंगुल में फंसने से पहले ही उसने स्वैच्छिक सेवा-निवृत्ति ले लेने की चतुराई दिखायी। उसकी मेहरबानियों को बाबाजी भूले नहीं हैं। अब बाबाजी के रहमो-करम पर ही उसका बेटा अभय प्रताप सिंह फल-फूल रहा है।

अपने बेटे को उसने कुछ गाड़ियां खरीदवा दी हैं। सत्रह सौ साठ मंदिर परिसर में ही अभय की 'बाबा ट्रेवल एजेंसी' का एयरकंडिशंड ऑफ़िस है। शिर्डी-नासिक, उज्जैन-ओंकारेश्वर और इलाहाबाद-बनारस की धार्मिक यात्राओं के लिए वहीं से लक्ज़री बसें चलती हैं। दबी ज़ुबान चर्चा तो यह भी है कि उसमें बाबाजी का भी पैसा लगा है। बाबाजी का ही प्रताप है कि अभय प्रताप की यारी शहर के महान समाज-सेवक का तमगा जीत चुके लैण्ड-माफ़िया बलवीरसिंह टूटेजा से हो चुकी है। ख़बर है कि टूटेजा की रहनुमाई में वह शीघ्र ही 'बाबा रेसिडेंसी' नाम का एक भव्य आवासीय-प्रोजेक्ट ला रहा है। प्रस्तावित स्मार्ट सिटी के बड़े-बड़े विज्ञापन आये दिन अख़बारों में शाया हो रहे हैं।

आप पूछेंगे गांगुली दादा कहां गये? वे शहर में ही हैं। बुढ़ा ज़रूर गये हैं, मगर उनके तेवर अब भी जवान हैं। पिछले अठारह-बीस बरस उनके लिए कड़े इम्तहानों भरे रहे। सरकारी दफ़्तरों में दैनिक वेतनभोगी ही नहीं बचे तो उनकी यूनियन कहां बचती? कुछ दिनों तक तो दादा असंमजस में रहे। क्या करें, क्या ना करें? कुछ हमसफ़र थक गये, कुछ रुक गये। जतन से तैयार किये कुछ युवा साथी भटक भी गये। कुकुरमुत्तों-से उग आये एन.जी.ओ. में वे नौकरियां करने लगे हैं। कल तक क्रांति के लिए जीवन न्यौछावर करने का दम भरनेवाले वे लोग आज जल-जंगल-ज़मीन, मानवाधिकारों और नामालूम कौन-कौन से मुद्दों पर सरकारी, ग़ैर-सरकारी परियाजनाओं को देशी-विदेशी फ़ंडिंग एजेंसियों के अहमक मुखियाओं की सनक और चार्टर्ड-अकाउंटंटों के अचूक हिसाब-किताब अनुसार पार लगा देने में अपना दिन-रात एक किये दे रहे हैं।

इन्हीं वर्षों में दादा ने गहरा आत्म-मंथन किया है। सिद्धांतों की किताबों को फिर-फिर पलटा है। कहीं कोई चूक तो हुई है। कौन-सी? अब भी लगता है, नब्ज़ पर ठीक से हाथ नहीं रखा जा सका है। मगर यह धारणा मज़बूत होती गयी है कि संगठित उद्योगों के वेतन-भत्ते वाले सफ़ेदपोश मज़दूरों से अव्वल असंगठित क्षेत्रों के फटेहाल कामगारों को गोलबंद करना ज़्यादा ज़रूरी है। दादा का जोश ठंडा नहीं पड़ा है। अर्सा हुआ कि उनकी पत्नी का इंतकाल हो गया। उनकी इकलौती बेटी अब सरकारी स्कूल में टीचर है। बड़ी मनुहार कर उसने दादा को एक नयी स्कूटी लेने को राज़ी कर लिया है जिस पर सवार दादा उसी अंदाज़ में, पर कुछ मद्धिम गति से, यहां-वहां दीख जाते हैं। वे अब निर्माण-मज़दूरों को लामबंद करने में जुट गये हैं।

बाबाजी मन ही मन दादा का सम्मान करते हैं, किंतु ख़ूब जानते हैं कि जिस रास्ते वे निकल आये हैं, दादा को सख़्त नापसंद है। लिहाज़ा, दादा को देख के अनदेखा करने की कला में उन्होंने ख़ुद को निपुण बना लिया है।

योगाश्रम के नाम पर एक सरकारी बंगले को बाबा जी क़ब्ज़ा चुके हैं। ख़ासे दान-दहेज के साथ अपनी बेटियों विमला-कमला के हाथ तो वे कब के पीले कर चुके। उनका इकलौता बेटा गणेश अपने दोनों जीजाओं की साझेदारी में सेंटर मॉल में 'बाबा फ़र्नीचर्स' नाम के भव्य शो-रूम का मालिक है। बाबा जी की पत्नी लीला खून की कमी का शिकार थी, यह एक पुरातात्विक तथ्य है। अब तो उसकी अधेड़ कमर पर चर्बी की परतदार लोइयां और चेहरे पर धन-ऐश्वर्य की लुनाई है। किसी चीज़ की कमी नहीं है। नौकर-चाकर, गाड़ी-घोड़ा, कपड़े-जेवरात सब इफ़रात में हैं। कहानी के गांव में बाबाजी ने खेत खरीद लिये हैं। शेयर-बाज़ार और म्युचुअल-फ़ंडों के अलावा बेनामी संपत्तियों में भी उनका धन लगा हुआ है। सरकारी ठेके दिलवाने और तबादले करवाने-रुकवाने में उनकी सिफ़ारिशें अहम होती हैं। सत्रह सौ साठ कॉलोनी के थाने का प्रभारी उन्हीं की इच्छानुसार बिठाया-हटाया जाता है।

बाबाजी की हैसियत अब संत जैसी है। आसपास के कस्बों में वे भागवत-कथा करने जाते ही रहते हैं। स्थानीय टी.वी. चैनल पर प्रतिदिन सुबह सात बजे आधे घंटे का उनका धार्मिक प्रवचन प्रसारित होता है। आजकल बाबाजी राजनीतिक मसलों पर भी खुल कर बोलने लगे हैं। अर्थ-व्यवस्था, भ्रष्टाचार, काला धन, शिक्षा, स्वास्थ्य, विदेश-नीति और आतंकवाद जैसे गूढ़ मसलों पर अपने उद्‌गार व्यक्त करने के अलावा सारे नये-पुराने वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रमाण *गीता* और *रामायण* में और तमाम जानलेवा बीमारियों का शर्तिया उपचार शाकाहार और योग में होने के दावे वे बेहिचक करते हैं। बार-बार यज्ञ, हवन, भागवत-रामायण आदि के आयोजन कर ऊब चुके बाबाजी अब कुछ नायाब करने का इरादा रखते हैं।

उन्हें बेतरह वे परिवार याद आने लगे हैं, जो कहानी के गांव की सरहद पार रहा करते थे। ग़रीबी में लिथड़े हुए। गुरुजी जिन्हें मलेच्छ कहते और विद्यार्थियों को उनकी बस्ती की तरफ़ भूल कर भी न जाने के लिए चेताते रहते थे। बाबाजी को लगने लगा है कि आतंकी मज़हब के भुलावे में फंसे उन लाचारों का परलोक सुधारने के महान काम के लिए ही वे धरा-धाम पर अवतरित हुए हैं। भटके हुए उन लोगों को वापस अपने घर ले आने की एक योजना पर वे गंभीरता से सोच रहे हैं। मन की बात वे कमल चौरसिया के कान में डाल चुके हैं, जो योजना पूरी करने के उपायों पर विधायक रामेश्वर तिवारी के साथ गहन मंत्रणाओं में व्यस्त है।

यह इन्हीं दिनों की बात है ।

फोन : 0755-2726262; मोबाइल-09424407846
इमेल : manoj4165@gmail.com

हासिलजमा

परमानन्द आर्य

हथेलियों में रेत सी फिसल गयी...

महीने का आख़िरी दिन था और शुक्रवार भी था। के.आर. ने जब कमरे में प्रवेश किया तो नौ बजने में पूरे पैंतीस मिनट बाक़ी थे। कमरे में दाख़िल होते ही के.आर. ने पानी की कुछ बूंदे छिड़क कर पुराने अख़बार के टुकड़े से टेबल का शीशा साफ़ किया। शीशे को अच्छी तरह से चमकाने के बाद वे टॉयलेट चले गये जहां वे कुल्ला-खंखार आदि अर्ध-यौगिक और कोलाहलकारी क्रियाओं से निवृत्त हो पूरी तरह से फ्रेश होकर लौटे। सामने की दीवार के कलैंडरों पर टंगे भगवानों के आगे दो-चार अगरबत्तियां सुलगाने और टेबल के शीशे तले बाबा साहेब और उनके पास ही किसी नामालूम-से सरदार जी की तस्वीरों को सिर नवाने के बाद के.आर. अपनी सीट पर बैठ गये थे।

सीट पर बैठते ही उनकी आंखे मुंद गयी थी। इस वक़्त के.आर. किसी 'स्थितप्रज्ञ' मनीषी जैसे लग रहे थे। दो-तीन मिनट का यह वक़्त जिसे ज़ाहिरा तौर पर लोग पूजा-पाठ या मेडीटेशन मानते हैं, दरअसल शून्य-काल जैसा होता था। भारहीनता की स्थिति से मिलता-जुलता एक शून्यकाल जैसा अहसास। इस दौरान उनके ज़ेहन में असंख्य स्मृतियां दौड़ पड़तीं। इस छोटे-से अंतराल में पूरा जीवन, पूरा अतीत हल्के-धौले बादलों की मानिंद तैरता-उतरता था और मां-बाप, घर-बार, खेत-खलिहान, दोस्त-यार जैसी जाने कितनी यादों के कितने ही बेतरतीब-से टुकड़े उनकी मुंदी हुई आंखों के भीतर तैर जाते थे...। शायद गुज़रे वक़्त से साक्षात्कार का उनका यह निजी तरीक़ा था।

के.आर. आज कुछ ज़्यादा ही औपचारिक थे। जिसका गवाह था उनका पहना हुआ कालासूट, और लाल टाई। इसके अलावा गोल्डन फ्रेम की ऐनक भी गुपचुप किसी ख़ास अवसर की तरफ़ इशारा कर रही थी। थोड़ी देर बाद आंखे खोलकर कमरे को एक नज़र देखने के बाद उन्होंने जीएडी (जनरल एडमिनिस्ट्रेशन डिवीज़न) को इंटरकॉम मिलाया। अनुभाग-अधिकारी से शुरुआती दुआ-सलाम के बाद के.आर. दामोदर को खोजने निकल पड़े। दामोदर विभाग के कॉन्फ्रेंस हॉल का केयरटेकर था, जो अगर कॉन्फ्रेंस हॉल में न हो तो बाहर के पार्क में कॉन्ट्रेक्ट पर कार्यरत महिला सफ़ाईकर्मियों के आस-पास ही मंडराता पाया जाता था। पूरी अहमियत देने के लिए घर-परिवार के हाल-चाल पूछने और चाय-बीड़ी पिलाने के बाद के.आर ने दामोदर के साथ कॉन्फ्रेंस हॉल का ताला खुलवा कर सारे सिस्टम चेक किये, सब कुछ अच्छी तरह से जांचने-परखने के बाद संतुष्ट होकर उसने हॉल वापस बंद कर दिया।

'तू क्या मुझे नूंही समझे है... हमने पता है कि आज भाई का मामला है...चिंता मत कर यार, डोंट फिकर।' अपने पीले दांतों को चमकाता हुआ दामोदर वापस पार्क में चला गया। यहां से फ़ारिग होकर के.आर. सीधा निदेशक (प्रशासन) के कमरे में चले गये। के.आर. एक वक़्त निदेशक (प्रशा.) के निजी चपरासी भी रहे थे। निदेशक ही क्या, विभाग के सभी वरिष्ठ अधिकारी उन्हें अच्छी तरह से जानते-पहचानते थे, क्योंकि अपने सेवा-काल में के.आर. ने तक़रीबन सभी अफ़सरों के साथ काम किया था। निदेशक साहब सीट पर ही मिल गये। उन्हें सलाम ठोककर के.आर. बाहर निकले और रास्ते में पड़ने वाले सभी संगी-साथियों व अधिकारियों से विनम्र दुआ सलाम करते हुए अपनी सीट पर वापस विराजमान हो गये।

अब तक आस-पास के बाक़ी कलीग भी आ चुके थे। तभी भीतर से बेल हुई, यानी संयुक्त सचिव अपने कमरे में आ चुकी थीं। के.आर. उठे, सामने शीशे में अपना हुलिया देखा और सीधे मैडम के कमरे में चले गये। 'मैडम नमस्ते!' नमस्ते करते समय अतिशय विनम्रता और आत्मीयता से पूरा झुक जाना के.आर. की ख़ासियत थी। 'ओह...के.आर., आइए। कैसे हैं आप... आज तो आपका ही दिन है.... एम आय राइट...?' मैडम मुस्कराती बहुत अच्छा थी। 'मैम... आपका ही आशीर्वाद है... बहुत-बहुत अच्छी तरह से निभ गयी... मेहरबानी करके शाम को ज़रूर आइयेगा...', के.आर. का गला रुंधने को हो गया। वह मन ही मन अभिभूत था कि मैडम को आज का दिन याद रहा। गलियारे का पूरा एक चक्कर लगाने के बाद के.आर. ने बाहर आकर विशालकाय खंबों की ओट में छिपने की कामयाब कोशिश करते हुए एक बीड़ी सुलगाई और जल्दी-जल्दी में कश खींचने लगे। वहां से भीतर आकर उन्होंने टॉयलेट में जाकर अपना हुलिया सुधारा और ख़ुद को एक दूसरी महत्वपूर्ण भेंट के लिए तैयार किया।

के.आर. ने पूरे एहतियात के साथ धीरे से सचिव के कमरे का दरवाज़ा खोला। भीतर मैडम किसी मीटिंग में थी। तमाम सावधानी के बावजूद मैडम ने उन्हें देख ही लिया था, 'ओ, के.आर.। आफ़्टर सम टाइम प्लीज़...' मैडम ने धीरे कहा। मैडम की आवाज़ सुनते ही के.आर. ने अभूतपूर्व तेज़ी से अपनी गर्दन पीछे खींची, दरवाज़े को ख़ामोशी से भेड़ते हुए सॉरी-सॉरी वेरी सॉरी मैम... बुदबुदाते हुए बाहर गलियारे में निकल आये। कृतज्ञता से अभिभूत के.आर. इस वक़्त थरथरा रहे थे। मानो किसी सर्द-सी गुफा से बाहर निकले हों।

'हौर भई के.आर., इधर के कारण लाग रहा है तू...' पीठ पर दोहत्थड़ के भारी और औचक प्रहार ने उनकी कंपकंपी को मिटा दिया था। ये चौधरी साहब थे, चौधरी दौलतराम। चौधरी साहब वैसे तो दफ़्तरी थे लेकिन उनकी प्रसिद्धि की मूल वजह उनकी लंबी-चौड़ी खेती और बसें थी जो अलग-अलग रूट पर दौड़ रही थी। कहनेवालों का तो यहां तक कहना था कि दौलतराम विभाग के बड़े-बड़े अफ़सरों को सूद पर रुपया देता था। 'बस चौधरी साब, दया है आपकी।' के.आर. ने आदतन दोनों हाथ जोड़ लिये थे। 'भाई, दया तो मेरी फूफी का नाम था... पिछले बरस मरगी बेचारी', अपनी चिर-परिचित स्टाइल में बात को घुमाव देते हुए चौधरी मुस्कराया। इन्हीं चौधरी साब ने एक बार के.आर. के बड़े बेटे को मिठाई के डिब्बा कारख़ाने में हिस्सेदार बनने के लिए पूंजी दी थी, सो उनके हर चुटकुले पर ठहाका लगाने की कोई ज़रूरी शर्त ना भी रही हो पर फ़र्ज़ तो बनता ही था। लिहाज़ा के.आर. ने फ़र्ज़ निभाने में कोताही नहीं की...। 'तू तो यार है मेरा, मौज कर यार', चौधरी साब आश्वस्त-से आगे बढ़ गये और के.आर. वापस अपनी सीट पर आकर बैठ गये।

दरअसल, आज के.आर. के रिटायरमेंट का दिन था। वैसे तो के.आर. का औपचारिक नाम कैला राम 'उत्साही' था, लेकिन ज़्यादा क़रीबी और मुंहलगे सभी दोस्त उन्हें कालूराम कहते थे। इसकी वजह आबनूस की तरह चमकता उनका पक्का रंग था। कैलाराम के ही एक मित्र जोशी प्रसाद के शब्दों में कहें तो कैलाराम का रंग अंधेरे में भी 'लैट' मारता था।

चेहरे की इस जामुनी चमक के कारणों को खोजें तो वह था उनकी मां का प्यार जो अक्सर कड़ुए तेल की धार के रूप में बचपन से ही उनके कानों के पीछे से बहता हुआ पाया जाता था। हालांकि तत्कालीन खूफिया और स्थानीय सूत्रों से प्राप्त कुछ प्रच्छन्न सूचनाओं को भी इस परिघटना से जोड़ दे तो पता चलता है कि इस घटना के मूल में उन्हीं के गांव के रुनझुन तेली के साथ उनकी मां की वह तथाकथित आशनाई थी जिसके चलते घर में आटे का कनस्तर भले ही सूखा रह गया हो, पर तेल की डोलची कभी खाली नहीं रही थी। तेल की इसी सु-उपलब्धता का ही परिणाम था कि कैलाराम की कनपटी हमेशा तेल चुपड़े जामुनों की तरह चमकती रही थी। ख़ैर, गड़े मुर्दे उखाड़कर क्या फ़ायदा, वापस कैलाराम पर ही लौटते हैं।

के.आर. का जन्म और बचपन—वो श्वेत-श्याम युग...

कैलाराम का जन्म और पालन-पोषण सघन ग़रीबी, विराट भुखमरी और अशिक्षा-पिछड़ेपन से ग्रस्त हिंदुस्तान के एक धूसर और मटमैले-से गांव में हुआ था। वह दौर ही ब्लैक एंड व्हाइट था। उनके जन्म से दो-चार साल पीछे ही देश आज़ाद हुआ था। स्वाधीनता, समाजवाद, परिवर्तन, अन्त्योदय और विकास जैसे कई अछूते और अनजाने से शब्द रेडियो की ख़बरों के ज़रिये माहौल में घुल रहे थे। बापू के करघे पर अब खादी से कहीं ज़्यादा सपने बुने जा रहे थे, बारीक सफ़ेद और महीन सपने...। और सपनों के टूटने का मौजूदा दौर भी फ़िलहाल कहीं दूर था। इस संधि काल का चमत्कार कहें या कैलाराम की मेहनत, पर कुल मिलाकर लब्बो-लुआब ये रहा कि तमाम विपन्नताओं और घोर प्रतिकूलताओं के बावजूद अपनी कनपटी के पीछे से बहती तेल की धाराओं के साथ अपनी ज़ेहनियत को बरकार रखते हुए और बचपन की दहलीज को लांघते-फांदते कैलाराम पूरे ज़िले में अव्वल दर्जे के साथ आठवीं कक्षा पास कर गये थे।

रिज़ल्ट का वह दिन और वह रात.... जैसे हो कोई कल की ही बात

आज भी बहुत अच्छी तरह से याद है आठवीं के रिज़ल्ट की सुबह और वह शाम। हुआ यों था कि अख़बार में नतीजा निकले पूरे चार दिन हो चुके थे लेकिन हमारे कथानायक को पता ही नहीं था। ऐसे ही एक दिन जब वे रुनझुन तेली के घर जाते हुए बेमतलब ही शास्त्री जी से जा टकराये तो पता चला कि नतीजा आये पूरे चार दिन हो चुके हैं। शास्त्री जी यानि मोतीराम शास्त्री, जो कैलाराम को हिसाब पढ़ाते थे। शास्त्री जी ने गेंदें के फूलों की माला, जिसे वे रोज़ाना गांधीजी की तस्वीर पर चढ़ाने के लिए लाते थे, कैलाराम को पहना दी। वहीं से सामने के मंदिर में ले जाकर देवी के चरणों में उनका सिर झुकाया और वापस स्कूल में लाकर सभी कक्षाओं में कैलाराम को ले गये। वो भी क्या ही समां था। प्लास्टिक की आधी-अधूरी चप्पलें पहने, मैली-सी कमीज़ और निकर पहने कैलाराम, गले में फूलों की माला। साथ में अगुवाई करते शास्त्री जी और पीछे-पीछे कौतुक और अचरज में शोर मचाते बच्चों का हुजूम। पीठ ठोकते हुए शास्त्री जी ने उसका जुलूस ही निकाल दिया था। जी भर के आसीस देते हुए पास की दुकान से उसे अपने

पैसे से पूरा दो किलो गुड़ भी दिलाया। द्रवित होकर कैलाराम ने शास्त्री जी के पैर छू लिए थे। शास्त्री जी भी अभिभूत हो गये। अपने संक्षिप्त भाषण में उन्होंने कहा था, 'तू बहुत उत्साही है। अपने उत्साह, अपनी लगन को छोड़ियो मत।' इसी के साथ हमेशा छात्रों की मां-बहन करनेवाले शास्त्री जी की आंखें भी छलछला आयी थीं।

मन तो कैलाराम का भी भर आया था। तभी उसकी नज़र मधुरिया पर पड़ी। मधुरिया एक अलग ही तरह से उसे निहार रही थी। देखने का ये ख़ास तरीक़ा क्या था, इसकी ठीक-ठीक व्याख्या कैलाराम ख़ुद से कभी नहीं कर सके, पर उस वक़्त दिल की अतल गहराई में कहीं एक महीन फांस सी गड़ गयी थी। मधुरिया फोतेवाले पंडित जी, गोकुल मिसिर की दोहिती थी। पंडित जी हाइड्रोसील के मरीज़ थे, उनके अंडकोश बंधी पोटली के जैसे धोती में अलग से उभरे नज़र आते थे, लिहाज़ा पीठ पीछे लोग उन्हें फोते वाले पंडित जी कहते। मधुरिया का पूरा नाम माधुरी उपाध्याय था। स्कूल छोड़ने उसके साथ आने वाली मिसराइन नानी उसे मेरी 'इन्नरपरी' कहती थी। सच में वह इन्नरपरी ही थी। मैदे जैसा गोरा रंग और सुंदरता अदभुत और अप्रतिम। कैलाराम पहले भी उसे देखता था लेकिन इस देखने में कोई ख़ास निहितार्थ नहीं था, सिवाय इसके कि उसे देखते रहना कैलाराम को अच्छा लगता था। उससे बात करने की एक दबी सी इच्छा उनके मन में हमेशा बनी रहती थी। उस दिन, बल्कि उसी वक़्त अनहोनी यह हुई कि 'केला ये ले' कहे बिना ही माधुरी ने धीरे क़रीब आकर अपना जूठा अमरूद उसे पकड़ा दिया। कैलाराम ने भी किसी बावले की तरह वो जूठा अमरूद पकड़ लिया था। अमरूद पकड़ने के इसी उपक्रम में उसकी पतली-पतली सी उजली और ठंडी अंगुलियों ने उन्हें छू लिया था...। माधुरी के जाने पर अमरूद तो उन्होंने खा लिया था, पर उसकी अंगुलियों का वह ठंडा सा स्पर्श आज भी उन्हें कंपा देता है।

सुख और उपलब्धियों का दौर अभी ख़त्म नहीं हुआ था। इसके बाद स्कूल से ही एक दोस्त 'परसा' यानि पुरुषोत्तम ने कैलाराम को पकड़ लिया और पास के अपने गांव में कैलाराम को खींच ले गया। पुरुषोत्तम दरअसल जिले में अव्वल आने वाले कैलाराम को अपने साथ घर ले जाकर खाना खिलाने के बहाने अपना रुतबा बढ़ाना चाहता था, क्योंकि ख़ुद तो वो पिछले तीन बरसों से एक ही कक्षा में हिमालय की तरह अडिग बना हुआ था। यहां परसू के घर वालों के आकर्षण का केंद्र बनकर कैलाराम को प्याज की चटनी, सेम-आलू की मसालेदार तरकारी और कटहल के अचार के साथ पूरी चार रोटियां मक्खन के साथ खानी पड़ीं। खाने के बाद एक लोटा लस्सी का भी था। इन सबके बाद कैलाराम से उठना भी मुश्किल हो रहा था। इस प्रकार भरपूर और यादगार भोजन, सम्मान और स्नेह के एक मुलायम से अहसास के बाद काफ़ी पैदल चलते हुए जब कैलाराम अपने घर पहुंचा तो रात घिरने को थी।

घर पहुंचते ही कैलाराम का सामना अचानक अपने बाप से हो गया। कैलाराम का बाप सिर्फ़ नाम से ही भैरव नहीं था। वह 'भयानाम भयम भीषणम भीषणानाम' क़िस्म का व्यक्ति था। आस-पड़ोस के लोग उसे काल भैरव कहते थे। तो हुआ यों कि घर जाते ही अचानक पूरा दृश्य बदल चुका था। जैसे फ़िल्म में रोमांटिक गाने के बाद अचानक विलेन की एंट्री हो जाये या बारात दरवाज़े पर खड़ी हो और लड़की का पैर भारी पाया जाये। जैसे किसी कवि ने कहा है ना.... कि बदलता है रंग आसमां कैसे-कैसे... यहां भी मिनट भर में कैलाराम की दुनिया बदल चुकी थी। घर में क़दम रखने ही नशे में धुत्त बाप ने उन्हें तबीयत से धुन दिया। ये धुन कोई कल्याणजी-आनंद जी वाली धुन नहीं थी। ये बस्ती की अपनी धुन थी। ग़रीबी-भुखमरी और घोर निराशा से उपजी अमानवीयता से भरी धुन। बस्ती के प्रत्येक बच्चे

को कमोबेश इसी धुन में झूम-नाचकर बड़ा होना होता था। मां और अन्य भाई-बहन पहले ही धुने जा चुके थे और कोठरी के अंधेरे कोने में पड़े किसी फूटे हारमोनियम जैसे अजीबो-ग़रीब सुर में नकिया रहे थे। पहले तो जूता-चप्पल, घूंसा-थप्पड़, लकड़ी-लात आदि फ़ौरी तौर पर सभी उपलब्ध साधनों की इस्तेमाल करते हुए बाप ने उन्हें जी भरके कूटा, फिर एक जोरदार निर्णायक लात, जो कि पिटाई के समापन की औपचारिक घोषणा जैसी होती थी, के साथ ही कैलाराम को कोठरी का एक कोना रसीद कर दिया और अपने उतरते नशे के लिए दारू वाले की मां-बहन से नज़दीकी रिश्ता क़ायम करने की घोषणा करने वाली गालियों के सस्वर उच्चारण के साथ भैरव बाबा कोठरी से बाहर निकल गये।

यह उनकी कोई पहली मरम्मत नहीं थी। वस्तुतः बचने की हज़ार कोशिशों के बावजूद कैलाराम महीने में एकाध बार तो भैरव बाबा की गिरफ़्त में आ ही जाते थे, और अक्सर उन्हें ऐसी ही स्थितियों से दो-चार होना पड़ता था, लेकिन आज की बात ही कुछ और थी। जैसे राजपथ पर चलते-चलते अचानक गोबर पर पांव पड़ जाये या जैसे ओबामा के किसी कमरे से ओसामा का पजामा बरामद हो जाये। स्थिति कुछ ऐसी ही हो गयी थी। आज के दिन उन्हें जो रुतबा, जो सम्मान और जो प्यार मिला था। वह अद्‌भुत और अविश्वसनीय ही नहीं, एक हद तक अवर्णनीय भी था। ऐसे मादक भव्य और भाव-भीने अहसासों का यह दर्दनाक और शर्मनाक पटाक्षेप उन्हें बेचैन कर गया। कोठरी से बाहर आकर कैलाराम जामुन के पेड़ तले होकर काफ़ी देर तक रोते रहे। काफ़ी रोने-सुबकने के बाद तमाम औपचारिक आवरणों से मुक्त होते हुए उन्होंने मन ही मन पहली बार अपने बाप के लिए उसी की तर्ज पर मां-बहन की गाली निकाली और उसी रात अपना ज़रूरी माल-असबाव समेट कर पैदल-पैदल स्टेशन चले आये। आते वक़्त उन्होंने बुद्ध की ही तरह अपने परिवार को एक नज़र देखा था और जाते-जाते मां के मैले तकिये के नीचे रखा पचास का नोट भी ले लिया था।

दोस्त मेरे, ये शहर है या कि...

शहर भी एक अजीबो-ग़रीब अनुभव था। के.आर. को अच्छी तरह से याद है, अपना झोला सहेजे जब वे स्टेशन से बाहर निकल रहे थे तो जाने कहां, शायद सामने पनवाड़ी की दुकान पर ही रेडियो में गाना बज रहा था, इस दिल के टुकड़े हुए हज़ार हुए, कोई यहां गिरा, कोई वहां गिरा...। कई दिनों तक शहर उन्हें बिखरा-बिखरा सा लगता था। इन अलग-अलग टुकड़ों को जोड़कर शहर आकर पूरे डेढ़ साल तक कैलाराम को रेलवे स्टेशन के पास के केला गोदाम में हम्माली करनी पड़ी थी।

वो तो भला हो सरदार जी का। सरदार यानि बच्ची सिंह भुल्लर। सरदार जी अपने घर के लिए महीने का राशन लेकर अनाजमंडी से घर जा रहे थे कि रास्ते में उनका रिक्शा पंचर हो गया। रिक्शे से उतर कर सरदार जी सड़क किनारे किसी दूसरे साधन की तलाश में खड़े हुए ही थे कि सड़क किनारे धूप खा रहे कैलाराम ने उनकी तरफ़ देखा। सरदार जी ने कैलाराम को देखा और बस इसी देखा-देखी में कैलाराम ने राशन से भरा टोकरा सिर पर उठा लिया और सरदार जी के पीछे-पीछे चल पड़ा। पूरे तीन किलोमीटर चलने के बाद जब वह सरदार जी के घर पहुंचा तो पराठा सब्जी और गुड़ के साथ लस्सी पिलाते हुए सरदार जी ने उसके गांव-देस के बारे में पूछा। आठवीं जमात में पूरे ज़िले में अव्वल आने की बात सुनकर सरदार जी उससे प्रभावित हो गये थे। उन्होंने कैलाराम से मिलते रहने के लिए कहा। कैलाराम हफ़्ते-दो हफ़्ते में सरदार जी के घर जाता धीरे-धीरे माता जी से इतना अपनापन मिला कि वह नियमित रूप से

वहां जाकर घर के काम-काज में माता जी का हाथ बंटाने लगा। सरदार जी के दोनों बच्चे घर से बाहर रहते थे। इतने बड़े सरकारी क्वार्टर में दो ही प्राणी थे। लिहाज़ा कुछ ही दिनों में कैलाराम उनके सर्वेन्ट क्वार्टर में आ चुका था। अब उसने हम्माली का काम छोड़ दिया था। अगले ही बरस सरदार जी ने बतौर डेलीवेज़र उन्हें अपने दफ़्तर में घुसा दिया था। काम उनका घर पर माता जी की सहायता करना ही था, इधर माता जी की तबीयत भी काफ़ी ख़राब हो चली थी। कई सालों तक कैलाराम का काम ऐसे ही चलता रहा। भगवान भला करे सरदार जी का, रिटायरमेंट से दो-एक साल पहले उन्होंने कैलाराम को स्थायी चपरासी बना दिया था। सेवानिवृत्ति के बाद सरदार जी अमृतसर के पास ही अपने पैतृक गांव में चले गये थे, साथ में कैलाराम भी छुट्टी लेकर उन्हें घर तक छोड़ने गया था।

सरकारी दफ़्तर में चपरासी बनने की ख़बर से कैलाराम के गांव में तहलका मच गया था। उन दिनों लाट साहब के दफ़्तर में घुस पाना ही बहुत बड़ी बात होती थी। कैलाराम के गांव-द्वार क्या, आसपास के इलाक़ों में ख़बर फैल चुकी थी और देखते-देखते हमारा कैलाराम हीरो बन चुका था। पूरे आठ दिनों की छुट्टी लेकर कैलाराम काफ़ी दिन बाद अपने गांव लौटा तो गांव की फ़िज़ा ही बदल चुकी थी। उसका बाप दारू के नशे में जाने कौन से गड्ढ़े में गिरकर अपनी टांग तुड़ा चुका था और इन दिनों हाथ पांव की तुलना में उसकी जुबान बहुत सक्रिय हो गयी थी। पड़े-पड़े वो पूरे गांव की ऐसी-तैसी करता रहता था। घर में वही सड़ांध, वही सीलन भरी उदासी व्याप्त थी। मां कुछ बूढ़ी सी हो रही थी। घर का ख़र्च अभी भी नामालूम तौर पर रुनझुन तेली के कोल्हू से ही चल रहा था। रुनझुन तेली ने कोल्हू के साथ-साथ गुड़ का कड़ाहा भी लगा लिया था... चर्चा थी कि एक-दो भट्टी भी लगा रखी हैं जहां चोरी-छिपे कच्ची शराब बनती थी। छोटे भाई वहीं अवारागर्दी कर रहे थे। के.आर. की मां ने उन्हें बहुत सिर-आंखों पर रखा, लेकिन गांव में के.आर. का दिल ही नहीं लगा। मास्टर मोतीराम शास्त्री को फालिस मार चुका था। मधुरिया का गौना हो चुका था। और इन दिनों वह अपने मरद के साथ गांव आयी हुई थी। कैलाराम को अचानक अमरूद याद आ गये, एक अजीब सी मिठास और एक ठंडा स्पर्श उनके ज़ेहन में धीमे नशे की तरह फैलने लगा...। अपनी सीलन भरी कोठरी में लेटे कैलाराम उस रात इसी मिठास में डूबते-उतराते रहे थे। संयोग देखो कि सुबह पुरुषोतम के घर से लौटते वक़्त कैलाराम को माधुरी मिल भी गयी। मधुरिया शायद ढोर-डंगर हांककर लौट रही थी। वही उजास भरा चेहरा! कैलाराम के पैर जड़ से हो गये थे। पर मधुरिया... उसने कोई नोटिस ही नहीं लिया, मामूली दुआ-सलाम के लिए भी मानो आंखें फेर ली। मधुरिया द्वारा न पहचानना ही इतना बड़ा सदमा था कि पूरे दिन कैलाराम गांव में खोये-खोये से घूमते रहे। कैलाराम का मन जरा भी नहीं लगा और चौथे ही दिन काम बहुत ज़्यादा है कहकर बुझे मन से वे अपनी नौकरी पर वापस लौट आये थे।

उनके चपरासी बनते ही कैलाराम की मां उनकी शादी के लिए ज़िद करने लगी थी। गाहे-बगाहे कोई न कोई आदमी भेज कर उन पर शादी के लिए दबाव दिया जाता, पर कैलाराम इसे टाल रहे थे। कैलाराम की विवाह की जरा भी इच्छा न थी, ना ही इसकी ज़रूरत महसूस होती थी। हां, बस कभी-कभी रातों को ख़्वाबों में उन्हें ढेर सारे अमरूद दिखाई पड़ते, गुलाबी रंगत वाले छींटदार अमरूद। उन्हीं के बीच में मधुरिया का दमकता हुआ मुस्कान भरा चेहरा नज़र आता। उसकी बड़ी-बड़ी आंखे और घुंघराली लटें दिखाई पड़तीं...। लेकिन अगले ही पल लंगड़ा कर चलते हुए फोते वाले पंडित गोकुल मिसिर दिखते और टांगों के बीच कसी हुई उनकी बेडौल सी पोटली दिखाई पड़ती और नींद अचानक खुल जाती। नींद

खुलते ही सब कुछ ग़ायब हो जाता था। दिन में कई बार उन्होंने सायास मधुरिया के बारे में कुछ सोचना भी चाहा तो दिल-दिमाग़ ने जैसे हड़ताल कर दी थी और वो चाह कर भी कुछ सोच नहीं पाते थे। ख़ैर, माधुरी की हवा-हवाई भी कब तक चलती। आख़िरकार कैलाराम ने मां की इच्छा के आगे समर्पण कर ही दिया और उनकी शादी हो गयी। ये रिश्ता कालका, जो उनका इकलौता मामा था और बंबई में किसी रेल अफ़सर की कोठी में हुआ करता था, ने कराया था। लड़की कुछ ख़ास तो नहीं थी पर हां, उसका बचपन गांवों में नहीं बल्कि बंबई में रेल-अफ़सरों के सर्वेंट क्वार्टर में गुज़रा था, लिहाज़ा समझदारी और रहन-सहन के हिसाब से वह ख़ुद को कैलाराम से बीस मानती थी। शादी के बाद अपनी नवेली दुल्हन को लेकर कैलाराम अमृतसर में सरदार जी के गांव में भी गया था जहां कुछ दिन गुज़ारने के बाद माता जी चांदी की एक करधन और ढेर सारा आशीस लेकर लौटा था।

समय के साथ कैलाराम ने दसवीं का इम्तहान भी प्राईवेट परीक्षा देकर पास कर लिया था। इन्हीं दिनों जाने कब उसे मास्टर मोतीराम शास्त्री का 'उत्साही' शब्द याद आ गया और एक वकील की मदद से अख़बार में विधिवत सूचित करते हुए कैलाराम ने अपना पूरा नाम 'कैलाराम उत्साही' कर दिया था। हालांकि कैलाराम के उच्चारण से वो बचते थे, सो धीरे-धीरे उन्होंने ख़ुद को के.आर. उत्साही नाम से ही प्रसिद्ध कर लिया था।

इतनी तब्दीलियों के बावजूद कैलाराम कड़ुआ तेल चुपड़ने की अपनी पुरानी आदत से पीछा नहीं छुड़ा सके थे। हां, शुरू-शुरू में पत्नी के फैशन बोध और कड़ुए तेल की गंध को लेकर की गयी उसकी टीका-टिप्पणियों के बाद उन्होंने इतना ज़रूर किया कि कड़ुआ तेल छोड़कर उसकी जगह खोपरे या गाय छाप आंवला तेल लगाने लगे। आठ-दस साल और गुज़रे और अब बच्चे बड़े होने लगे। अब पत्नी के स्वर में उनका स्वर भी मिलने लगा था, टोका-टोकी बढ़ती जा रही थी, लिहाज़ा कैलाराम ने तेल के प्रति अपने लगाव को नियंत्रित किया। लेकिन नहाने के बाद हाथ-पैरों पर कुछ तो लगाना ही था। दो बूंद बालों में और हाथ-पैरों पर लगाते-लगाते जाने कब हाथ चेहरे पर अचानक ही बढ़ जाते थे और इस तरह तरक़्क़ी की तमाम सीढ़ियों पर चढ़ते हुए उनकी कनपटी से बहनेवाली तेल की धाराएं भले ही सूख गयी हों, किंतु उनके चेहरे की चमक बदस्तूर बनी रही। जैसे यह उनका कोई ट्रेडमार्क रहा हो।

कैलाराम की चार संताने थीं। सबसे बड़ी एक बेटी, सवित्री जिसे दसवीं तक पढ़ाकर कैलाराम ने उसका विवाह विभाग के एक ही सहायक के बेटे से कर दिया था। उसका पति छोटा-मोटा ठेकेदार था। दूसरे नंबर पर एक बेटा था, विकास। पढ़ाई-लिखाई में तो कुछ ख़ास नहीं चल पाया लेकिन वैसे ठीक था। इन दिनों मिठाई का डब्बा बनाने वाले एक छोटे-से कारख़ाने में हिस्सेदार था, ठीक-ठाक कमा-खा रहा था। तीनेक बरस पहले के.आर. ने उसकी शादी करवा दी थी। इस समय उसके एक साल भर की बेटी भी थी। तीसरे नंबर पर भी एक बेटा था। कैलाराम के ही शब्दों में कहे तो यह साला महाहरामी था। पत्राचार से बारहवीं पास करने की कोशिश में था। बॉडी बनाकर दोस्तों की सोहबत में घूमता रहता था। चौथी एक बेटी थी, सुजाता। कैलाराम के मुताबिक, बहुत ज़हीन और पढ़ाई में बहुत तेज़ थी। इस वर्ष बारहवीं का इम्तहान दे रही थी।

चपरासी से नौकरी शुरू करके आख़िर में सहायक के ओहदे तक पहुंचते-पहुंचते कैलाराम ने काफ़ी अनुभव और सम्मान बटोरा था। विभाग के सचिव, अवर सचिव और संयुक्त सचिव जैसे वरिष्ठ अधिकारियों के साथ रहते हुए उन्हें सरकारी गेस्ट हाउसों, सितारा होटलों और देश-विदेश की भव्य और

वैभवपूर्ण जीवन शैली और राजसी रहन-सहन को जानने समझने के मौक़े मिले थे। व्यक्तिगत तौर पर कैलाराम एक हाज़िरजवाब, मिलनसार और विनम्र व्यक्ति थे। हंसी-मज़ाक उनके स्वभाव का स्थायी भाव था जिसके चलते वे आसानी से अपने अधिकारियों की नज़र में आ जाते थे।

इधर कुछ दिनों से वे अंग्रेज़ी बोलने पर ख़ास तवज्जो देने लगे थे। दरअसल तीन-चार ऐसे मौक़े आये जब वरिष्ठ अधिकारियों के निजी स्टाफ़ में रहते हुए कैलाराम को लंदन, न्यूयॉर्क, मलेशिया और मारीशस जैसे स्थानों में जाना पड़ा था। इन जगहों से लौटने के बाद लोगों ने ग़ौर किया कि कैलाराम ने सायास अंग्रेज़ी बोलना शुरू कर दिया था। हालांकि यह कोशिश उन्होंने अंग्रेज़ी सुधारने और व्यक्तित्व प्रभावशाली बनाने के एक साधन के रूप की थी, लेकिन सहयोगी उनकी अंग्रेज़ी सुनते और हंसना शुरू कर देते। मरता क्या न करता, आख़िरकार सभी अपेक्षाओं के दर-किनार कैलाराम ने भी अपने इस अंग्रेज़ी संभाषण को अपने हंसोड़पन के एक विस्तार के रूप में ही स्वीकार लिया था। हैलो यंग ब्वायज़...व्हाट आऽ यू इटिंग मैन..., कम ऑन... जेंटलमैन, प्लीज हैव अ फेवर टु मी...। ऐसे ही ख़ुशनुमा जुमलों के साथ कैलाराम सभी अनुभागों में दाख़िल होते... या गलियारों में टहलते हुए पाये जाते थे, और लोग भी इसके बदले में उनके शब्दों को दोहराते हुए खिलखिलाते थे।

न जाने किस तलाश में गुज़र गयी....

लंच ख़त्म हो चला था। आज कैलाराम धूप सेंकने बाहर लॉन में नहीं गये थे। इधर-उधर व्यस्त रहने के बाद उन्होंने देखा दीवार घड़ी साढ़े तीन बजा रही थी। कैलाराम एक बार फिर सचिव महोदया से मिलने के ख़याल से उनके कमरे की तरफ़ बढ़े ही थे कि पी.एस. से पता चला मैडम अभी पीएमओ गयी हैं, वहां से प्लानिंग कमीशन में भी एक मीटिंग है, आज तो समय निकाल पाना ही मुश्किल है। बुझे मन से कैलाराम अपनी सीट पर वापस आकर बैठ गये। बैठे हुए थोड़ा ही वक़्त गुज़रा था कि भीतर से बुलावा आया। भीतर संयुक्त सचिव मैडम ने बताया, 'सॉरी के.आर., अभी भी मैम के साथ मीटिंग में जाना पड़ रहा है, सो मैं आपकी पार्टी में शामिल नहीं हो पाऊंगी, बट यू डोंट वरी, मैंने भुल्लर साहब को रिक्वेस्ट की है... वे आपके लिए ज़रूर टाइम निकाल लेंगे। प्लीज़...।' मैडम ने मजबूरी जताई तो के.आर. क्या बोल सकते थे! आभार जताते हुए बाहर आ गये।

भुल्लर साहब भी संयुक्त सचिव थे। लेकिन वे थोड़ा औपचारिकता पंसद अफ़सर थे। कैलाराम अचानक उदास हो चला था। आज नौकरी का आख़िरी दिन है और मुक़द्दर देखो कि इतने वरिष्ठ अधिकारियों के साथ काम किया, पर आज किसी के पास टाइम नहीं हैं। ख़ैर, किया क्या जाये। अचानक के.आर. को याद आया, उसकी नौकरी लगाने वाले भी तो भुल्लर साहब ही थे, अब विदाई में भी एक भुल्लर साहब हैं...। चलो, रब की मर्जी। थोड़ी देर में भुल्लर साहब के पी.एस., मनचंदा साहब का फ़ोन आ गया। उन्होंने के.आर. को बुलाकर ताकीद कर दी कि साढ़े चार बजे से ही पार्टी शुरू कर देना। भुल्लर साहब पौने पांच तक आ जायेंगे.... टाइम बहुत कम है....दस-बारह मिनट में सब निपटा देना।

हड़बड़ी में सारा इंतज़ाम हुआ। मिठाई-फूलमाला और अन्य सामान के लिए लड़के दौड़ाये गये। कैलाराम ने तुरंत घर में फ़ोन कर दिया कि चार-सवा चार तक सब लोग दफ़्तर पहुंच जाना। ध्यान रखना, देर न हो। उन्हें मालूम था कि आज के लिए बच्चों ने ख़ास तैयारी की हुई है। आज दोनों बेटे, बेटियां और दामाद और बहू आदि सभी लोग आने वाले हैं। आज के मौक़े के लिए दामाद और बेटों ने गाड़ी

और वैन की व्यवस्था की हुई है।

वैसे तो कैलाराम के हाव-भाव, उसकी बात-चीत और रहन-सहन से न सिर्फ़ उसके परिवार के लोगों बल्कि रिश्ते-नातेदारों को भी पूरा अहसास था कि कैलाराम का उठना बैठना बेहद इज़्ज़तदार अफ़सरों के साथ है लेकिन कुछेक सरकारी फोटुओं और मीटिंग जैसे अवसरों को छोड़ दें तो ऐसे मौक़े कम ही आते थे जब वे इस तथ्य को अपने परिजनों और नातेदारों के बीच साबित कर सके हों। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि उनके परिजन और रिश्ते-नातेदार इस गौरवशाली क्षण के साक्षी बनें। इसी आग्रह का सुपरिणाम था कि उनकी बेटी के ससुराल और बहू के घर से भी एक-दो लोग इस अवसर पर शामिल होने के लिए आ रहे थे।

वक़्त इतनी तेज़ी से गुज़रा कि पता ही नहीं चला। अचानक दो-चार लोग आये और कैलाराम को ले गये। पहले कैलाराम ने सोचा था कि कॉन्फ्रेस रूम में जाने से पहले बाकायदा हाथ-मुंह धोकर बाल-वाल सहेज लेंगे, पर इसका मौक़ा ही न मिला। जैसे थे, वैसी ही स्थिति में लाकर उन्हें कॉन्फ्रेंस रूम में बिठा दिया गया।

हॉल में काफ़ी लोग पहले से मौजूद थे। शुरुआती हंसी-मज़ाक और बात-चीत शुरू हो गयी धीरे-धीरे। कैलाराम ने मन ही मन हॉल का जायज़ा लिया। हॉल में उपलब्ध लैंडलाइन के फ़ोन से बेटे के मोबाइल पर उससे जल्दी आने के लिए कहा। एक बंदा रिसेप्शन में भी भेज दिया ताकि घर के लोगों को सरकारी बिल्डिंग में घुसने के लिए पास बनवाने में कोई दिक़्क़त न हो। एक बार फिर उन्होंने छोटी लड़की के मोबाइल पर बात की। पता चला, वे लोग रास्ते में कहीं जाम में फंसे हुए थे। हॉल में धीरे-धीरे काफ़ी लोग आ गये थे... गहमागहमी बढ़ती जा रही थी।

तय वक़्त पर भुल्लर साहब आ गये थे। उनके साथ निदेशक (प्रशासन), फ़ाइनेंस एडवाइज़र (एफ़. ए.) तथा उपसचिव और दो-चार अन्य अधिकारी थे। वरिष्ठ अधिकारियों के आते ही माहौल औपचारिक और शांत हो गया, जैसे उबलते दूध में पानी के छींटे पड़ गये हों। मौक़े की नज़ाकत देख के अनुभाग अधिकारी नंदलाल ने माइक संभाला और वरिष्ठ अधिकारियों का स्वागत करने के बाद कैलाराम के बारे में बोलने लगे। इन बातों में कुछ भी नया नहीं था, यहां तक कि शब्द और वाक्य भी वही थे जिन्हें कैलाराम बरसों से कइयों की रिटायरमेंट पार्टियों में सुनते आ रहे थे। पर कैलाराम पार्टी में जरा भी ध्यान नहीं दे पा रहे थे। उनकी नज़रें हॉल के दरवाज़ों पर लगी थीं। बच्चे कहां रह गये....? यही एक सवाल उनके ज़ेहन को मथ रहा था। अचानक तालियां बजीं। उन्होंने देखा, अब राजकुमार उठा और पूरी सतर्कता और सावधानी के साथ भाषण देने लगा। राजकुमार 'स' को 'श' बोलता था तथा 'श' के उच्चारण पर उसके मुंह से सीटी सी निकलती थी। हालांकि इस वक़्त वह काफ़ी सतर्क और सावधान था, पर सावधानी के बावजूद उसकी सीटियां थम नहीं रही थीं। सीटियों से माहौल में हंसी घुलने लगी थी.... कई लोग मुंह छिपा कर हंस रहे थे।

अचानक अपनी नापसंदगी दर्ज कराते हुए भुल्लर साहब ने हस्तक्षेप किया। 'ओके मि. कुमार... अब आप कैलाराम को बोलने दीलिए... लेट हिम टॉक....।'

कैलाराम अचानक हड़बड़ा गये...। जैसे अचानक फांसी के तख़्ते पर खड़ा कर दिया गया हो...। उसका गला खुश्क हो रहा था...। पता नहीं कहां फंसे है सब-लोग... घर का कोई भी नहीं है... वो मन ही मन बुदबुदाये...।

नंदलाल ने कैलाराम को माला पहनायी, दूसरी माला चौधरी दौलतराम ने पहनायी। पूरा हॉल अवाक होकर कैलाराम को देख रहा था। कैलाराम खड़ा था... बस साब, क्या बोलूं...। मैं... मैं तो बहुत छोटा आदमी था, आप लोगों के बीच ज़िंदगी गुज़ार कर ख़ुद को धन्य मान रहा हूं। बच्चे अभी तक नहीं आये, पता नहीं कहां रह गये! बस साब जी, क्या बोलूं... बस कोई ग़लती हुई हो तो आप सब मुझे माफ कर देना... बस...। कैलाराम बैठ गया था।

'अरे हां, आपके घर से कोई नहीं आया क्या?', भुल्लर साहब ने पूछा। 'आ रहे हैं साब, रास्ते में जाम में फंसे हैं', कैलाराम ने बताया। कैलाराम ख़ुद पर हैरान थे... क्या हो गया है उन्हें। कम से कम बीस-पच्चीस मिनट तो बोलना था। कितने दिनों और कितनी रातों को नींद से जागकर आज के मौक़े के लिए पता नहीं क्या-क्या सोचा था, मन ही मन जाने कितने रिहर्सल किये थे.... पर आज जाने क्या हो गया उसे...। मन ही मन उन पर एक अवसाद, एक उदासी हावी होने लगी थी।

नाश्ता बांट दिया गया था। भुल्लर साहब नयी एफ.ए. मैडम के साथ बातचीत में लग गये थे। एफ. ए. मैडम ने इन्हीं दिनों छोटा सा एक नया पग खरीदा था जिसकी तबीयत इन दिनों नासाज़ थी। स्थिति इस कदर विकट थी कि वह इन दिनों मैडम के हग करने पर भी ख़ुश नहीं होता था।.... ही बिकम सोऽऽ सैड! बहूत उदास रहता है बेच्चार! भुल्लर साहब उनकी पीड़ा को पूरी संजीदगी से समझ रहे थे और उन्हें डॉक्टर के बारे में बता रहे थे। आस-पास के दो चार अन्य अधिकारी भी इस दुख में बराबर के हिस्सेदार दिखने की कोशिश कर रहे थे। इधर छोटे अधिकारी और कर्मचारीगण शालीनता और तहज़ीब दिखाते हुए पूरे एहतियात के साथ अपना हिस्सा खाने में लगे थे। कुछ पलों के लिए कमरे में शांति छा गयी थी। सिर्फ़ चम्मचो और प्लेट की आवाज़ सुनाई दे रही थी। कैलाराम अभी भी हॉल के दरवाज़े को ही देख रहे थे। कहां मर गये सब, कैलाराम ख़ुद से ही फुस्फुसाए।

कोई चार-पांच मिनट गुज़रे होंगे, अचानक भुल्लर साहब खड़े हो गये। उन्होंने थोड़ा ही नाश्ता किया था। उनकी देखा-देखी अन्य कई वरिष्ठ अधिकारी भी खड़े हो गये, मानों नाश्ता अब अखाद्य हो गया हो। अच्छा भई के.आर., हैप्पी रिटायरमेंट। यू रियली वाज ए गुड वर्कर...। आप हमेशा अपने काम में डेडीकेटेड रहे...वी विल मिस यू...। कहते हुए भुल्लर साहब ने नंद लाल के हाथों से स्मृति चिन्ह लेकर के.आर. को पकड़ाया और तेज़ी से हॉल से बाहर निकल आये। उनके साथ ही गरिमापूर्ण आभिजात्य और सरकारी तटस्थता ओढ़े बाक़ी वरिष्ठ अधिकारी भी निकल रहे थे। वरिष्ठ अधिकारियों के जाने के बाद अब ज़्यादा औपचारिकता की ज़रूरत नहीं थी, लिहाज़ा हाल में बचे लोग अब ज़्यादा बेफ़िक्री से अपने सामने रखे नाश्ते को एन्जॉय कर रहे थे। हॉल में हल्के से कोलाहल के बीच लतीफ़े-ठहाके गूंजने लगे थे।

कुछ ही देर में दरवाज़ा खुला, कैलाराम को अपनी पत्नी दरवाज़े से झांकती हुई दिखायी दी। पता नहीं रास्ते का जाम था या कुछ और, पर के.आर. ने नोट किया कि आज के ख़ास मेकअप ने उनकी पत्नी को अजीब तरीक़े से दर्शनीय बना दिया था। पक्का रंग..., रंगे हुए लाल होंठ... और तमाम सच्चे-झूठे गहनो से लदी उनकी पत्नी किसी गेंद की तरह लुढ़कती हुई धीरे-धीरे पास आ रही थी। पीछे पूरा परिवार था, हांफता हुआ, पसीने में सराबोर दोनों बेटियां, बहुएं... बेटे और बच्चे...।

कहां थी तुम... चार बजे का टाइम दिया था। अब साढ़े पांच हो रहे हैं। कब अक्कल आयेगी तुम्हें. .. के.आर. चाहते हुए भी पत्नी को डांटने से ख़ुद को रोक नहीं सके। रास्ते में जाम था, क्या करते..

.पत्नी पसीने-पसीने हो चुकी थी, उसका दम फूल रहा था।

'अच्छा भई कैलाराम... हैप्पी रिटायरमेंट', अपना हिस्सा ख़त्म कर चुके लोग उठते जा रहे थे। दरअसल छुट्टी का वक़्त हो चुका था। इससे ज़्यादा रुकना कोई अफ़ोर्ड भी नहीं कर सकता था। सभी निकल रहे थे। तुरंत-फुरंत में उनके परिजनों के आगे नाश्ता लगा दिया गया था। कैलाराम की छोटी बेटी कॉन्फ्रेंस रूम की सजावट देख रही थी। परिवार के सब लोग नाश्ता कर ही रहे थे कि तभी दामोदर आ गया। उसने के.आर. के कान में बताया कि साढ़े छः बजे स्टेट मिनिस्टर की मिटिंग है... अचानक सेट हुई है, इसलिए थोड़ा जल्दी... सॉरी यार, तैयारी करनी है हॉल की...। दामोदर मन ही मन शर्मिंदा था...।

अगले कुछ ही पलों में के.आर. अपने परिवार के साथ कॉनफ्रेंस हाल से निकल रहा था। बच्चों ने अपने-अपने नाश्ते को हाथ में समेट लिया था। फूल मालाएं, फूलों का गुच्छा और स्मृतिचिह्न लेकर कैलाराम का परिवार भारी क़दमों से बिल्डिंग से बाहर निकल रहा था। अनजान से घूमते-घूमते कैलाराम अपने परिवार सहित रिशेप्सन के पास आ गये थे। 'ये साला गेट कहां चला गया...', कैलाराम ने मानो ख़ुद ही से पूछा हो। 'वा भई के.आर. साब, चालीस साल इस बिल्डिंग में आते-जाते हो गये और अब रास्ता पूछ रै हो...!' अपनी इस उक्ति पर गेट का संतरी हंसता इससे पहले ही कैलाराम ने ठहाका लगाया और हंसने लगा। रामलीला के रावण जैसे उसके बुलंद अट्टाहासों से बिल्डिंग के गुंबद गूंज उठे थे। इधर कैलाराम था कि हंसता ही जा रहा था। उसके ठहाकों से गुंबद में आराम फ़रमा रहे बीसियों कबूतर अचानक पंख फड़फड़ाते हुए घबराये-से बाहर की तरफ़ निकल भागे। गेट पर जो कैलाराम से अनजान थे, वो तो हैरान थे ही, पर जो जानकार थे, उन्हें भी कैलाराम के ये ठहाके अनजाने-से लगे रहे थे।

किसी को नहीं पता था कि इन्हीं ठहाकों के बीच कैलाराम ने अपनी डबडबायी आंखों को पोंछ लिया था। आंखें पोंछते हुए उन्हें किसी ने नहीं देखा था... सिवाय छोटी बेटी के।

मो. : 09968983005

पांच कविताएं : प्रमोद तिवारी

जे.एन.यू.

यहां चाय की प्यालियों में
अपनी पूरी गर्माहट के साथ
उतरता है क्यूबा और वियतनाम
असली कक्षाएं जमती हैं
ढाबे और मेस की टेबलों पर
होती है हर सड़क के बरक्स
एक झाड़ीदार टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडी
एक मुकम्मल विकल्प की ठसक के साथ।
किसी नशे की तरह उतरता है जेएनयू नसों में
और छा जाता है पूरे वजूद पर
यहां होना एक अलग दुनिया में होना है
कि पीएसआर के बाज़ुबां पत्थर
और दीवारों के पोस्टर
देते हैं जीने की सलाहीयत।
छाती फुला के बताते हैं अग्रज
कि क्रांति की सेज सजानेवालों की यह दुनिया
कभी थम गयी थी एक थप्पड़ के चलने से,
कि तुम्हारी सोच का बदलना
बड़ी क्रांति का होना है
कि लाइब्रेरी के छठे माले पर
सेल्फ़ की किताबों के बीच अटके
चार नयनों से भी होती है क्रांति।
सपने और हक़ीक़त की घालमेल रेखा पर
यूं बिठाता है जेएनयू
कि बाहर निकलने के बाद भी
जेएनयू से निकलने में
निकल जाती है पूरी उम्र।

छोटे से छोटे मुद्दे पर
अदहन की तरह उबल पड़ता है जेएनयू
कभी हॉस्टल में घुसा कुत्ता जुगलबंदी करता है
युधिष्ठिर संग स्वर्ग गये स्वान से,
कहीं हाथ की बिसलरी की बोतल
चुगली करती है साम्राज्यवाद विरोध की
तो कहीं ढाबे का छोरा
चहक के दागता है सवाल
नये-नये घुसे रंगरूट से
तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है पार्टनर!
मार्च ऑन और इंक़लाब के नारों के गुबार उड़ाता
जीबीएमों और बहसों से ख़ून खौलाता
सवाल का दूसरा नाम है जेएनयू
जो अकसर चिपक जाता है प्रश्नचिह्न बनकर
सत्ताधारियों के माथे पर।
बहुत सवाल पूछता है जेएनयू
ठेठ अपने अंदाज़ में
मसलन सवाल यह है कि
सवाल है क्या?
यूं सवाल तो यह भी हो सकता है
कि जेएनयू में
कितना बचा है जेएनयू??

बधिया

मालिक! क्या शानदार बाछा है
अद्भुत प्रतिभाशाली
अवसर मिला तो दिलवा सकता है
नोबेल या वर्ल्डकप
इसकी कुलांचे तो देखिए
आसमान छूने को आतुर
जहां ढंग का भोजन-पानी मिला कि
ढांप देगा अच्छे-अच्छों को।
कुछ मदद कर दें मालिक

इस्कूल के टीचरजी भी
तारीफ़ करते नहीं थकते
रौशन कर देगा गांव-जवार
आपका ही बेटा है मालिक
चमका देगा आपका नाम

मालिक ने ग़ौर से देखी उसकी कुलांचें
माथे पर पड़ गया बल
सांसें तेज़ हुईं फिर ठंडी
माथे की सलवटों में घुमड़ने लगे कई सवाल
पुट्ठे की कसावट, सींग का नुकीलापन
उड़ान भरने की आतुरता
आंखों में भरा विश्वास
सब ख़ून की तरह जम गया
मालिक की आंखों में।
क्या होगा हमारी संतानों का?
कौन कोड़ेगा हमारे पत्थर ज़मीनों को
क्या होगा हमारे अनंत वीर्यकोश का!

कहां खो गये मालिक!
दिल्ली न सही
केवल रांची तक जुगाड़ करवा दें हुज़ूर!
जीवन भर का अहसान होगा!

देखते हैं...
पहले नदीवाले खेत की कटनी
जल्दी से पूरा कर दे
और हां, छोरे को बोल
कि छोटे साहब की बाइक की
एक-एक तिली चमका दे
फिर ख़ास चमचे से मुख़ातिब हुए मालिक
आकाशवाणी जैसी आवाज़ आयी-
किसी तरह अंडकोश कुटवा दो इसका
सब ठीक हो जायेगा!!!
कुछ समझा नहीं मालिक?
अरे बुड़बक! एक मानसिक अंडकोश भी होता है

अतिबलशाली
महावीर्यवान
परम घातक
और मुस्कुरा दिये मालिक।

दोस्त

लंबे अरसे बाद
दोस्त बैठा है सामने
वही दोस्त जिसके साथ होने पर
समय बन जाता था
गौरैया
वही जिसके साथ के लिए
जाने कितनी बार फांदी थी चहारदीवारी
जिसके लिए तोड़ दिया था दीदी का गुल्लक
वही दोस्त बैठा है सामने
और समय है कि पसरा हुआ है
मंड़िया मारे भैंस की तरह
मैं ढूंढे जा रहा हूं बात
कि घर, पत्नी, बच्चे और गांव के हाल के बाद
अब और क्या पूछूं
उसके पसीने की दुर्गंध से बेहाल
इशारों में तीन बार दे चुका हूं
नहाने की सलाह
पर सफ़र की थकान उतारने की
कोई जल्दी नहीं उसे
जी जान से लगा है
15 वर्षों के इतिहास को
कुछ घंटों के संदूक़ में समोने में।
वह तो बस
सब कुछ बता देना चाहता है
भोंपू जैसी आवाज़ में
मैं और धीरे बोलता हूं
पर उसकी आवाज़ उल्टे बढ़ती जाती है
वह बताये जा रहा है

कि इस साल फिर बंसवारी में
कोई फेंक गया है नवजात बच्ची को
कि नौकरी खोज-खोज के हताश
हम सबके मास्टर साहब
काम करने लगे हैं दारू के ठेके पर।
तन्मयता के साथ, एक आंख दबाकर
बता रहा है कि कैसे उसने
सेठ को पिछले तीन महीनों में
चार सौ का चूना लगाया है
और पगार के चौबीस सौ के बदले
गढ़ लिये हैं अट्ठाइस सौ रूपये
मैं बिलकुल नहीं कहता कि
क़ानूनन इस काम के बारह हज़ार मिलने चाहिए।
हाथ जोड़ के प्रार्थना कर रहा है भगवान से
अपने धर्मात्मा मालिक के लिए
जो शहर में मुफ़्त पढ़ा रहे हैं उसके बेटे को
ज़ब्त कर लेता हूं ख़ुद को यह कहने से
कि उसकी मज़दूरी के हज़ारों रुपये
बचाने का बहाना है ये।
जग्गूराम की सुंदर पतोहू से लेकर
हमारे चौपाल तक पर
क़ब्ज़े की सारी कहानी
सुना रहा है दोस्त
धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है मेरी खीज
और बेचैनी
दिमाग़ लगातार ढूंढ रहा है
उससे मुक्ति का उपाय
बोले जा रहा है दोस्त
पर नहीं सुनायी पड़ रही उसकी आवाज़
समझ में नहीं आ रहा
किसे कोसूं
ख़ुद को
दोस्त को
या उस समय को
जिसे दोस्त अब भी समझ रहा है
गौरैया।

विश्वविद्यालय में सौंदर्यीकरण

अरे! ये पत्ती यहां कैसे उग गयी
और ये डाल टेढ़ी क्यों है?
पौधों को बिलकुल शऊर नहीं होता
ठीक वहीं फेंक देंगे कनखी
जहां क़ायदे से होनी चाहिए ख़ाली जगह
जहां होनी चाहिए शाखा
वहां बस गूमड़ बन के रह जायेगा।
बताइए भला अब इस नीरस अमलतास का यहां क्या काम
यहां तो टॉर्च लीली ही फबेगी न
और ये पेड़
सामनेवाले की तरह इसे चार फ़ीट से ज़्यादा
क़तई नहीं होना चाहिए
और इस लतर का तो समूल नाश करो
बार-बार काटने पर भी
वी.सी. के रास्ते तक फैली मिलती है
नहीं-नहीं यह कंटीला पौधा
मेडिसीनल है तो क्या हुआ
मिसफिट है ए-क्लास यूनिवर्सिटी के लिहाज़ से।
ओह, ये चट्टान
रास्ते की चिकनाई में रोड़ा क्यों
जरा घिसिए या फिर उखाड़िए इसे
डिफ्रेन्ट आइडेंटिटी क्या होती है भला
चीज़ें सिमेट्री में ही अच्छी लगती हैं
इस पेड़ को भी हटाइए
इसकी शाखा हॉकिन्स की थ्योरी की ओर पहुंचते-पहुंचते
दादी के अनुभवों की बात करने लगती है
अचानक खड़ी सी ये चट्टान चुनौती देती है
इस पर सीढ़ियां बना दो।
इस जंगली पौधे को भी हटा दो
अनुशासन से बिलकुल अपरिचित है यह
विषय के अतिक्रमण की तो
जैसे क़सम खा रखी है इसने।

उस 'भटकटैये'[1] को तो बिलकुल तमीज़ नहीं
बस चले तो पूरी यूनिवर्सिटी को
लोकसंस्कृति का अड्डा बना दे
उसे तो यह भी नहीं मालूम
कि ठहाके जाहिल लगाते हैं
अरे! बस इतना मुस्कुराइए कि दांत न दिखें
सवाल वर्ल्डक्लास यूनिवर्सिटी का है
कोई हंसी-ठट्ठा है क्या?

ठेलुआ

मेरा एक दोस्त था
नहीं, है
नहीं-नहीं, था
ख़ैर छोड़िए, नहीं पता
था या है
पर जब साथ होता
तो फुर्र से उड़ जाता समय
हर खेल में मैं बनाता उसे गोंइया
जब आसमान से बातें करती उसकी गुल्ली
तो देता अपनी काल्पनिक मूछों पर ताव।

ठेलुआ,
सुख से ज़्यादा दुख का साथी
फ़सल मेरी गाय बर्बाद करती
डांट सुनता वो,
ईख उखाड़ता मैं, मालिक उसे मारता।
उस समय मैं सातवीं में था
जब ससुराल से आयी ख़ास मिठाई दी थी उसने
मिठाई के भीतर से शानदार अठन्नी निकली थी
मिठाई से बहुत ज़्यादा मीठी।

1. एक कंटीला पौधा

उसका नाम मुझे पसंद न था
कभी-कभी मैं पूछता, उसके नाम का मतलब
वह बोलता—क्या यार, नाम तो बस नाम है
बहुत पूछने पर कहता
जैसे घूरफेंकना है, बेचुआ है, कमरुआ है
वैसे ही ठेलुआ है
काफ़ी शोध के बाद पता चला
मां ने उसका नाम रामलाल रखा था
पर वह सिर्फ़ और सिर्फ़ ठेलुआ था
ज़्यादा से ज़्यादा 'मुसना' का बेटा ठेलुआ।
उसे ठेलुजी कहना कुछ ऐसा
जैसे ठाकुर हुंकार सिंह के सिर पर
गोबर की खांची रखना
या परमेसर मिसिर की गंगाजली में
मूस का तैरना

शायद आपने भी महसूसा हो
शहर की घड़ियां
गांव की घड़ियों से बिलकुल अलग समय बताती हैं
कुछ दिनों बाद जब गांव लौटा तो
सड़कें चमकदार और चेहरे धूसर हो चले थे।
दोस्त मिला रास्ते में
संकोच के साथ पहली बार
किया नमस्ते
यंत्रवत उठे थे उसके हाथ
ग़ौर किया मैंने, दोस्त कहीं नहीं था
ठेलुआ ने पंडिज्जी को सलाम ठोंका था
पूछा, कैसे हो?
कुछ ज़्यादा ही परिपक्व आखों से देखते हुए बोला
अच्छा हूं जी
पता चला,
बनारस में रिक्शा खींच रही है उसकी ज़िंदगी
ठाट से।
बच्चे?
दो हैं जी, दो भगवान के पास चले गये

अच्छे हैं
बड़का बहुत होशियार है
सेठ के यहां तेज़ी से काम सीख रहा है
और छुटकी तो सारा घर संभाल लेती है।
नाम क्या हैं उनके?
गबरा और टुनिया
इन नामों का मतलब?
क्या पंडिज्जी आप भी!
नाम तो बस नाम होवे है।

मो. : 09228213554
ईमेल : pramodktiwari@gmail.com

पांच कविताएं : विपिन कुमार शर्मा

रणभूमि से : एक

क्या हुआ जो इस बार भी
नहीं लौटा मैं घर
पताके फहराते हुए
एक विजेता की तरह
पोंछ न सका धूल अपने मस्तक से
धूल में पड़ा मुकुट भी बदरंग हो चुका
हाथ में रह गयी फ़क़त तलवार की मूंठ ही
और
रथ का टूटा एक पहिया ही
अब तक मेरा हौसला है

क्या हुआ जो इस बार भी
लौट आया बिना रथ के
पांव में छाले लिये
रथ के अश्व भी मेरा साथ छोड़ गये
बता दो महाराज को
अभिमन्यु मृत्यु का वरण करता है
रणभूमि नहीं छोड़ता जीते जी
कई बार
अधर्म के ख़िलाफ़,
लड़कर परास्त होना भी
विजय से अधिक भव्य होता है!!

रणभूमि से : दो

बहुत दूर फ़ेंक दी ढाल मैंने
अश्व को भी हंकाल दिया
घुटनों तक रक्त से सने कीच में उतर आया था मैं
और जल्द से जल्द
उनके क़रीब पहुंच जाना चाहता था
सो पूरी ताक़त जुटाकर मैं दौड़ना चाहने लगा
अपनों से लड़ने का यह बेहतर विकल्प था
उनके हरेक वार को
मैं अपनी छाती पर झेलना चाहता था
किंतु मेरे पांव भूमि में गड़ गये
और मैं अब
रक्त-कीच के दलदल की पूरी गिरफ़्त में था

दूर तक रणभूमि में धूल उड़ रही थी
प्रतीत होता था
समुंदर सोखकर भी यह धरती तृप्त नहीं होने वाली
और मेरे पांव उसी भूमि में दलदल में गड़े थे
यह ऐसा व्यूह था
जिसका ज्ञान
पार्थ को भी नहीं था
(यों भी पार्थ व्यूह भेदता था
रचता नहीं था)

मैं अपने पांव भी न हिला सका
और हज़ारों ज़हरीले बाण
मेरी छाती में समा गये
उसी दलदल में धीरे-धीरे समाता जा रहा था मैं

महारथियो!!
अभी उत्सव मनाने का समय नहीं आया
मैं घायल हूं
परास्त नहीं
कल मैं भी आऊंगा

लिये अपने रथ
मेरे भी शरीर पर होंगे कवच
और हाथों में ढाल
और गांडीव
अब मैं भी धर्मयुद्ध में अधर्म से परहेज़ नहीं करूंगा
आज तो मैंने फेंक दी थी ढाल
और अश्व दिये थे हंकाल
अपना बचाव मैं सत्य और धर्म से कर रहा था
कल ऐसी भूल नहीं करूंगा
कल मेरे तूणीर में भी होंगे
ज़हर बुझे बाण और दिव्यास्त्र
कल रणभूमि में मैं भी रथ पर आऊंगा....

रणभूमि से : तीन

प्रश्न यह नहीं है पार्थ,
कि कौन तुम्हारे पक्ष में हैं, कौन नहीं
तुम्हारा प्रश्न यह है
कि कौन धर्म के पक्ष में हैं, कौन नहीं?
रिश्तों की आड़ में अधर्म को पकड़े रखना
न मनुष्य का धर्म है, न योद्धा का
कोई भी रिश्ता सत्य से बड़ा नहीं हो सकता
जो सत्य को त्यागकर
संबंधियों का पक्ष धरता है
वह अंत में सत्य भी खोता है
और संबंध भी
दुर्योधन अधर्म है, असत्य है
इसे समझने में कभी दुविधा न थी
किंतु जो हमेशा उसके साथ बने रहे
और उसके पक्ष में
सत्य और धर्म की अवधारणाएं बदलते रहे
जो सत्य के पक्ष में न बोलकर
अपनों के पक्ष में बोलने के व्यसनी हैं
वे कभी भी मानव समाज के हितैषी नहीं हो सकते

इसलिये, हे धनंजय! हे पार्थ!!
इन संबंधियों को शत्रु मानकर
सत्य के लिये युद्ध करो

रणभूमि से : चार

यह सत्य नहीं है अंगराज कर्ण
कि केवल आज का युद्ध अंधेरे में हुआ
युद्ध तो अंधेरे में ही हो सकता है
और अंधेरे की प्रतीक्षा
तुम्हारे जीवन भर का हासिल है

अंधेरा तो उस दिन भी था न अंगराज,
जब अभिमन्यु की घेर कर हत्या की गयी थी!
और उसमें शामिल तुम जैसा महान योद्धा भी था!
लेकिन छोड़ो युद्ध की बातें अंगराज,
जो तुम्हें निहायत ही पसंद हैं

क्या नहीं था अंधेरा उस दिन
जब भरी सभा में एक स्त्री अपमानित हो रही थी?
मित्रता का ऋण उस अपमान के बिना भी चुक सकता था
जिस अपमान में तुम बराबर के साझीदार थे
तुमने द्रौपदी का अपमान, क्या सचमुच
दुर्योधन के मान के लिए किया था?
लाक्षागृह और द्यूतक्रीड़ा का समर्थन
क्या तुम्हारे जैसे महारथी ने नहीं किया था?

अंधेरे का दोष घटोत्कच पर न दो सूर्यपुत्र,
उसने तो सत्य की रक्षा हेतु
अंधेरे का वरण किया
और तुम सूर्य के पुत्र होकर अंधेरे में जिये
अंधेरे में मरे

रणभूमि से : पांच

साम्राज्य लोलुप, पितृ-द्रोही!
अजातशत्रु!
युद्ध का सुझाव तथागत से न लो
जिनकी नींव ही युद्ध का विरोध है
न ही अपने कुटिल मंत्री वर्षकार से
सेनापति से पूछो,
विजय की क़ीमत क्या होती है!

कुटिलता और वैर से राज्य जीता जा सकता है महाराज
उस पर राज नहीं किया जा सकता
जिसे जीतने की अंधी लालसा
तुम्हें वैर फैलाने को उकसाती है
तुम भूल रहे हो
कि वह वैर तुम्हारे विजय के साथ समाप्त नहीं होगा
वैर का बीज तो अमर होता है, अजातशत्रु
और वह समर्थ होता है
महान से महान सम्राट
और साम्राज्य को निगल जाने में

युद्ध का सुझाव तथागत से न लो
न ही कुटिल वर्षकार से!

मो. : 07619014236

तीन कविताएं : रतीनाथ योगेश्वर

बड़का बाबू की याद के बहाने

नहीं नहीं, यह वह वृक्ष नहीं

जिसकी छांह में बिछी रहती थी बड़का बाबू की खटिया
जिसके सिरहाने होता था तकिया और उनका गमछा

ठीक इसी जगह
हुआ करती थी एक छोटी दालान
जिसके कोने में
रखा होता था गेडुआ और ताड़ का पंखा....
बिछी होती थी सुजनी
नवजात बच्चों के खटोले पर...

जिसके पाये के पास पड़ा रहता था
कजरौटा और झुनझुना

नहीं नहीं, यह वह वृक्ष नहीं
जिसके नीचे एक किनारे चबूतरे पर रखा होता था
एक बड़ा सा मिट्टी का घड़ा और उसके ऊपर
रखा होता था पीतल का लोटा
और उसके भी ऊपर एक कटोर में थोड़ा सा गुड़

भरी दोपहरी एक गांव से दूसरे गांव
आने जाने वाले लोग उसी वृक्ष के नीचे सुस्ताते थे
नहीं नहीं, यह वह वृक्ष नहीं
जिसके नीचे स्मृतियों के चौखटे में
बार-बार आकर खड़े हो जाते हैं —
उघार बदन खेत जोत कर पसीने से लथपथ

* हमारे यहां ताऊ को 'बड़का बाबू' कहकर संबोधित करते हैं

मैली कुचैली धोती का कछाड़ा मारे
तांबे जैसी देह लिये... बड़का बाबू

जबरिया कब्जिया ली गयी
हमारी सारी ज़मीन,
ग़ायब कर दिया गया रातों रात
वो घनी छांह वाला पुरखों जैसा वटवृक्ष
मार दिये गये बड़का बाबू...

उदासी सूनी आंखों
गांव के सूख चले पोखर की ओर निहारते
रुंआसे पिता ने मुंह अंधेरे छोड़ा गांव...

यहीं कहीं पर तो थे हमारे खेत खलिहान
खपरैल वाले मकान...
जहां खड़ी हैं इतनी ऊंची-ऊंची इमारतें
कि जिसे देखने भर के चक्कर में
बार-बार गिर पड़ती है सड़क पर
पिता की पगड़ी

नहीं नहीं, यह वह वृक्ष नहीं
यह तो रबर प्लांट है।

जमात चाहे जउन करै

पीछे छोड़ आया वह—
महानगर की भागती दौड़ती सड़कें
टैक्सी, बसें, ऑटो रिक्शे...
व धुंआती झुग्गी-झोपड़ियों वाली संकरी गलियां
ले आया साथ—
कपड़ा मिल बंद हो जाने का दर्द

नहीं मिली दस महीने की तनख़्वाह
न ही कोई फ़ंड

लौट रहा है अपने गांव
जहां नहीं है उसकी कोई जायदाद
न कोई खेत... न ही छानी छप्पर

कनस्तरनुमा बक्से में क़ैद
कसमसा रही हैं बहुत सारी अधूरी इच्छाएं
भूख और बीमारी से मर गयी बीवी की
बीस साल पुरानी चिट्ठियां...
जिसकी लिखावट पर अकेले में चोरी छिपे
फेरता रहा था वह उंगलियां

धड़धड़ाती भागती ट्रेन की ठंडी ज़मीन पर
चाय पी... कुल्हड़ औंधा
सिकुड़ा सिमटा कांपता बैठा रहा वह रात भर
डब्बे में ठुंसे हुए लोगों के बीच खांसता खुखियाता
सुबह सबेरे मिली ज़रा-सी जगह में
घुटने सिकोड़ लेटने का
जुगाड़ बना ही रहा था कि
वे आये, अक्रामक और तादाद में अधिक
धकियाया गया... लतियाया गया, पीटा गया बेवजह

तकते रहे टाइयां/चश्मे/लॅपटॉप, मोबाइल और बैग
कलमें जेब में खुसी रहीं चुपचाप
उसकी नाक से टपकने लगा ख़ून...

एक बार उबला भी वह...
'हमार गल्ती का है? तोहार चस्मा अबही फोड़ देहिहीं'
ख़ून और टपकने लगा...

मैले चीकट कुर्ते पर ख़ून के धब्बे लिये
आज़ाद हिंदुस्तान की आंखों से
देखता रहा वह उनके ताश के खेल को

हंसी-ठहाके गूंजते रहे...
आहत ख़ामोश उठ
कुर्ते से टूटकर

गिर पड़े बटन को उठा बड़बड़ाया
'जमात चाहे जउन करै'

कनस्तरनुमा बक्स और थैला संभाल
उन्हें जलती आंखों से घूरता
चल दिया वह लड़खड़ाता...

मुसाफिर पूछते हैं—कउन गांव है दद्दा?

वह कुछ नहीं बोलता।

बायें ही चलो

सड़क के बायीं ओर
तेज़ धूप है

जबकि
दायीं ओर
छतनार दरख़्तों की कतार

पर—
दाहिनी ओर चलने से
होगी ही दुर्घटना

इसलिए दोस्तो
चलो... हमेशा बायें ही चलो।

मो. : 096166316140

अब

विनीताभ

अब
जबकि
बीसवीं सदी
अतीत की
अंधेरी गुफ़ा में
समा चुकी है
और हम
इक्कीसवीं सदी की
दहलीज़ पार कर चुके हैं
हमारे पास
इंच भर भी नहीं है ज़मीन
न मिली नौकरी
न कोई रोज़गार
दारू के नशे की तरह
नस-नस में बसता जा रहा है
भ्रष्टाचार-व्यभिचार
बड़ी शिद्दत के साथ
हम सुनते हैं
अस्सी पार दादा की बात
कि तब गांव के बाहर
किसी एकांत तरबन्ना में
कोई पीता था आकाशी
होती थी ताड़ी की दूकान
बौआ!
अब इस बुढ़ापे में

देखता हूं
हाथ में
रम की बोतल लेकर
आबादी बीच गुज़रना
लोग समझते हैं शान
अब
गांव के बीच
रोज़
खुलती है
सरकारी शराब की दूकान
आप क्या कहेंगे!
बीती सदी को
जिसमें तीन कम
आधी सदी
आज़ादी के सपने संजोये
विदेशी दासता से
मुक्ति के संघर्ष में गुज़र गये
जिसके राज में
सूरज डूबता नहीं था
हमने
उसके साम्राज्य को ही
डुबो दिया
और
आधी सदी के बाद...!
वे क्या सोचते होंगे
जिन्होंने
देश के सामने
न ख़ुद को देखा
न परिवार को
सुराज के लिए
सबकुछ न्योछावर कर दिया
और
हमें आज़ादी दिला दी
होश संभालने के बाद
लगभग पचास से अधिक

स्वतन्त्रता-गणतन्त्र दिवस के
भाषणों को सुनते
लगता है
ठीक ही कहती है बड़की काकी
कुछ नहीं होगा
इस देश में
सत्ता के चाटुकार
स्वार्थ की चटनी के साथ
आज़ादी की कटलेट खा रहे हैं
एक अरब से अधिक जन को
झूठे सपने दिखा रहे हैं
हम अख़बारों में पढ़ते हैं
रेडियो सुनते हैं
दूरदर्शन देखते हैं
आर्थिक सुधार
उदारवाद-भूमण्डलीकरण का दौर है
सत्तासीन धन तथा धर्मांधता के बल पर
विकासशील देशों को पीछे छोड़
बहुत-बहुत आगे निकल जाना चाहते हैं
सर झुकाकर
दुनिया के सबसे बड़े डॉन के
तलवे चाटना चाहते हैं
मसखरी करने में मशहूर
बड़की भौजी खीजकर कहती है—
मैंने तीन दिनों तक
टी.वी. नहीं खोला
जब भी उसे
ऑन करती
बहुत कोफ़्त होती
यह देखकर
कि हमारे देश का
राजनेता
नेता कम
मिशेल-ओबामा का
बगलबच्चा ज़्यादा दिखता है

लोक पर धीरे-धीरे
हावी होता तन्त्र
कारपोरेट घरानों के हाथों
कठपुतली बनता जनतन्त्र
सरकार
पहले धीमे
फिर तेज़ स्वर में जपती
मंहगाई के मन्त्र
सफ़ेदपोश-नामचीन
हवाला के हवाले
अपनी मातृभूमि के विरुद्ध रचते षड्यंत्र
बाबूजी की आंखें उदास हैं
उनके मन में
यदा-कदा
आशंका उभरती है
हमारी संप्रभुता
हो न जाये परतंत्र
अभी-अभी
पढ़ाई पूरी कर लौटा
उत्साही युवा
जोशीले अंदाज़ में कहता है
गांव में
खेतों में
देश की धड़कन है
इसी मिट्टी में
कीचड़ से लथपथ
बिरवा दल
माटी की लाज बचा सकते हैं
शहीदों का सम्मान
संग्रामी पुरखों का पत रख सकते हैं
देश को दिशा दे सकते हैं।

मो. : 09470040534/08409063639

रेखाएं

भावना मिश्र

भावना मिश्र की यह कविता हम भूल-सुधार के रूप में छाप रहे हैं। भूल क्या थी, यह आप पिछला अंक देखकर समझ जायेंगे। —सं.

एक

कुछ रोज़ देखी जाने वाली
चीज़ों में शामिल हैं हथेलियां
जिनकी पड़ताल
हम करते हैं बेनागा
पर क्या हम स्पष्ट देख पाते हैं
इनमें होने वाले बदलाव
क्या हमें ख़बर होती है
कि हथेली की कौन सी रेखा
हो गयी है और भी गहरी
या हम जान पाते हैं कभी
इन रेखाओं के बढ़ने और घटने को
संभवतः कोई नहीं बता सकेगा
कि पिछले दिन की तुलना में
कितनी और नई रेखाओं ने
कब्ज़ायी है हथेलियों की ज़मीन
यह सत्य है कि...
हम नितांत अनजान होते हैं
रोज़ दिखने वाली चीजों के प्रति भी

दो

कुछ गहरी सी लगी आज
मेरी हथेली पर रहने वाली हृदय-रेखा
और जीवन-रेखा के समान्तर
चलने लगी है एक और जीवन-रेखा
क्यों अचानक कम हुई सी लगीं
छोटी-छोटी उलझनों की लकीरें
और हथेली में ही कहीं विलीन हो गयी
भाग्य रेखा
कैसा संकेत है यह??
क्या अब मुझे ख़ुद ही लिखना होगा
अपना भाग्य?
हैरान थी मैं देखकर
हथेलियों का ये बदलाव
कि तभी याद आया...
बीती शाम तुमने थामा था मेरा हाथ...

तीन

मेरी हथेली पर
तुम्हारी रेखा स्थायी नहीं है
और मेरे जीवन में तुम!

हर रात खींचती हूं
हथेली पर इक लकीर
क्योंकि उम्मीद की इक नाव
अब भी तैर रही है
संवेदनाओं के तरल में
तुम बारिश के सूरज की तरह
अनिश्चित
और मैं पर्वत सी अटल
तुम्हारी प्रतीक्षा से उपजी आकुलता
प्रतिध्वनित होती है हर क्षण
मेरी सांसों में
और कहती है
सच में ... ख़ानाबदोश हो तुम !

चार

कैसे समा जाता है
यह सुदीर्घ जीवन
एक छोटी सी हथेली में
ये आड़ी-तिरछी रेखाएं
कितना कुछ कहती हैं
अपनी गूढ़ भाषा में
कैसी होती हैं इनकी भंगिमाएं
कहीं जैसे कोई बात अधूरी छोड़ कर
सुस्ताने बैठ गयी हो एक महीन रेखा
और कहीं यूं लगता है जैसे
अपना ही कहा काट गयी हो कोई गहरी रेखा
अनेक प्रेममय क्षण मुसकाते हैं शुक्र पर्वत की छाया में
और शनि-मंगल ने हृदय रेखा तक फैला रखा है अपना प्रकोप
ताप-संताप
मिलन-विरह
और न जाने कितने ही परिवर्तनों का इतिहास
दर्ज है इन हथेलियों पर भूगोल बनकर
और इस तरह हम अपने हाथों में लेकर घूमे रहे हैं
अपने जीवन का नक्शा

ब्लॉग पता : bhavnamishra-blogspot-in
ईमेल : mishrabhavna@gmail.com

लेडीज़ क्लब : एक समस्या उपन्यास

चंचल चौहान

जब मैं दिल्ली विश्वविद्यालय से अंग्रेज़ी साहित्य में एम. ए. कर रहा था तो पहली बार 'समस्या नाटक' जैसी नयी श्रेणी से परिचय हुआ। बाद में मैंने जब हिंदी में एम. ए. किया तो उपन्यास की आलोचना में 'आंचलिक उपन्यास' जैसी श्रेणी सामने आयी। नमिता सिंह का उपन्यास, *लेडीज़ क्लब* पढ़ते हुए मुझे लगा कि यह उपन्यास एक 'समस्या उपन्यास' है, उपन्यास की अब तक की श्रेणियों में यह अंटता नहीं। इस उपन्यास में न तो कोई केंद्रीय पात्र है जिसे आप इसका कथा नायक या नायिका मान कर उसका जीवनवृत्त या उसके माध्यम से अपने समय या समाज की वास्तविकता तलाश करें, न इसमें कोई पारंपरिक प्लाट है जिसकी संश्लिष्टता में डूब कर आप अर्थ की तहें विश्लेषित करें। इसका कथानायक ख़ुद 'क्लब' ही है जैसे आंचलिक उपन्यास में कथा नायक व्यक्ति न हो कर एक 'अंचल' विशेष होता था, *मैला आंचल* में यही हुआ था। नमिता जी के उपन्यास में आज की सबसे भयावह सामाजिक सचाई, सांप्रदायिकता के बढ़ते कैंसर की सचाई, क्लब की सदस्या लेडीज़ के माध्यम से सामने लायी गयी है।

उपन्यास की शुरुआत में 'जनाना पार्क से लेकर लेडीज़ क्लब तक' शीर्षक अध्याय में हमारा परिचय सबसे पहले शहनाज़ आपा से होता है, 'पिछले तीन साल से शहनाज़ आपा क्लब की सेक्रेटरी हैं।' पहले पृष्ठ पर हमें बताया जाता है कि उनका सवेरे सवेरे फ़ोन आता है जब उपन्यास की वाचिका, राधा अपने कार्य पर जाने से पहले की दिनचर्या में मशीन की तरह जुटी हुई है, अपने पति अतुल के दैनिकक्रम में 'दनादन एक के बाद एक' चाय की फ़रमाइश', फिर प्रेशर बनाने के लिए 'नीबू पानी' की फ़रमाइश पूरी करना, नाश्ता, लंच आदि का इंतज़ाम करके तैयार होना, मिसरानी, फिर नूरजहां नामक 'कामवाली' से काम करवाना आदि। वाचिका की व्यस्तता ऐसी है कि उसे 'सवेरे आधा घंटा निकालना मुश्किल है अपने लिए।' यहां बीच बीच में आजकल स्त्रीविमर्श में उठ रहे सवाल बहुत ही स्वाभाविक ढंग से संकेतित कर दिये गये हैं। इन्हीं वर्णनों के बीच बीच 'स्ट्रीम आफ़ कांशसनैस' का इस्तेमाल करते हुए कुछ और महिला पात्र चित्रित होते जाते हैं। शहनाज़ आपा के फ़ोन के अलावा शुरू में उनके बारे में बहुत अधिक या पूरी जानकारी हमें नहीं मिलती। काम करने के दौरान ही वाचिका को 'सुल्ताना का सपना' आ जाता है, हालांकि वह भी कथाधारा का अंश नहीं बनता। फ़ोन का कारण बताया जाता है कि लेडीज़ क्लब 8 मार्च को महिला दिवस नहीं मना पायेगा क्योंकि उस दिन मुहर्रम पड़ रहा है, 'अब

* उपन्यास का नाम : ***लेडीज़ क्लब***, रचनाकार : नमिता सिंह, प्रकाशक : सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, मूल्य : 360 रु., पृ. 224.

शिया मेंबरान के लिए तो मुश्किल की बात ठहरी'। हालांकि शिया मेंबरान माइनारिटी में हैं मगर उनका ख़याल रखा गया है। इसी से वाचिका 'माइनारिटी' की ज़ेहनियत पर रोशनी डालने के लिए कुछ उपकथाएं इसी वाले अध्याय में डाल देती है। एक उपकथा जावेद भाई और सबीला भाभी की बेटी शकीला की एक हिंदू सहपाठी जोगेंद्र चौधरी के साथ प्रेम विवाह की है। यह उपकथा इस्मत चुग़ताई की एक कहानी, 'मुक़द्दस फर्ज़' ('पवित्र कर्तव्य') की याद दिलाती है जिसमें समीना और तुषार त्रिवेदी प्रेमबंधन में बंधकर विवाह कर लेते हैं और इसी प्रकार के विरोध का सामना करते हैं जैसा कि नमिता जी ने शकीला के विवाह को लेकर दर्शाया है।

इसके बाद एक और लड़की हुमैरा की शादी न हो पाने की उपकथा आती है जिसमें मुस्लिम समाज के भीतर की जातिप्रथा के यथार्थ को पूरी संवेदनशीलता के साथ दिखाया गया है। उपन्यास की वाचिका स्पष्ट तौर से टिप्पणी करती है। मुस्लिम परिवार के लड़के से हुमैरा की शादी इसलिए नहीं हो सकती क्योंकि हुमैरा सुन्नी है और लड़का शिया परिवार का। हुमैरा की शादी करवाने में नाकाम होती वाचिका इस पर दुखी होकर टिप्पणी करती है :

> मैं भूल गयी थी कि हमारा हिंदुस्तानी समाज जाति-दर-जाति सैकड़ों ख़ानों में बंटा है कि इसकी जड़ें दूर दूर तक फैल गयी हैं। ज़मीन के नीचे गहरी धंसी ये जड़ें उन बस्तियों और कुनबों तक जा पहुंची हैं, जहां इन विभाजन रेखाओं का अस्तित्व ही नहीं होना चाहिए था। धर्म और जाति के ये विभाजन के दंश समाज की हर धड़कन में मौजूद हैं। (पृ. 17)

नमिता जी के उपन्यास का मूल संवेदनात्मक उद्देश्य भारतीय समाज में व्याप्त इसी कैंसर को उद्घाटित करना है। इसी अर्थ में यह एक 'समस्या उपन्यास' है। इस जातिवाद और सांप्रदायिकता के कैंसर ने भारतीय समाज के विकास में कितना नकारात्मक रोल अदा किया है, इसकी पीड़ा वाचिका को है। उपन्यास के पहले अध्याय के अंत तक यह प्रक्रिया अपनी पूरी संश्लिष्टता के साथ दिखायी गयी है। इस अध्याय का तानाबाना मुख्यतः यादों के सहारे बुना गया है शुरू वह अपने वर्तमान से होता है, और अंत बचपन के दिनों के लखनऊ के ज़नाना पार्क की बदली हुई तस्वीर से होता है। यह तस्वीर आज के भारत की है जिसमें पूंजीवादी विकास के माडल ने क्या क्या विकृतियां पैदा कर दी हैं, यह वाचिका की आंखों से ओझल नहीं होता। यह अध्याय एक तरह से यूनिवर्सिटी के लेडीज़ क्लब की पहली सदस्या, राधा, यानी ख़ुद वाचिका से शुरू होता है।

दूसरा अध्याय शहनाज़ आपा के माध्यम से सामाजिक यथार्थ की तस्वीर सामने रखने के तौर पर पाठक के सामने आता है। 'वे सबसे सीनियर हैं हमारे क्लब में।' उनका किरदार एक सेक्युलर, तरक़्क़ीपसंद जुझारू महिला के रूप में चित्रित किया गया है। यूनिवर्सिटी में फ़िरक़ावाराना कुव्वतों के फैलाव और उनके फ़तवों के साथ महिलाओं का नाटक में भाग लेने पर पाबंदी या उनके कपड़ों के चुनाव पर पाबंदी का वाक़या हो, वे प्रतिरोध आयोजित करती हैं। ' 'आज लड़कियां स्टेज पर नहीं गायेंगी, ड्रामा क्लब में नहीं जायेंगी। लड़कियां स्कूटर नहीं चलायेंगी। लड़कियां कपड़े हमारी मर्ज़ी से पहनेंगी'। कोई अंत है इन फ़तवों का।' ' यह शहनाज़ आपा का पवित्र गुस्सा है जो उनके प्रतिरोध की शक्ल में आता है। उनका तर्कसंगत एप्रोच विजयी होता है। उनकी विजय से 'यूनिवर्सिटी राष्ट्रीय शर्म से बची'। वाचिका की वे रोल माडल हैं।

इसी अध्याय में हमें लेडीज़ क्लब की स्थापना में जिन सदस्यों की भूमिका थी उनके बारे में भी जानकारी दी जाती है। लीला गुप्ता और शाहिदा जमाल इसकी पुरानी सदस्य हैं जिनका रचनात्मक किरदार हमारे सामने आता है। इसके बाद रश्मि खन्ना, वसीमा अली के बारे में थोड़ी जानकारी मिलती है। इसी अध्याय में यह भी बताया जाता है कि किस तरह लीला गुप्ता सांप्रदायिक दंगों के डर से कैंपस छोड़कर अपने मकान में चली गयी हैं। राम मंदिर के अभियान के दौर में ध्रुवीकरण की तसवीर इसी अध्याय में दी गयी है जो लीला गुप्ता के डर की तह में है।

इसके बाद के अध्याय में एक अन्य सदस्या, विमलेश बहन का परिचय कराया गया है। वे यूनिवर्सिटी से ताल्लुक़ नहीं रखतीं, उनके पति वकील हैं। उन्होंने एक दंगे के दौरान मुस्लिम बरातियों से भरी बस पर पथराव और उससे चोटिल लड़कियों को बचाने और दंगाइयों को ललकारने व उनके ख़िलाफ़ जमकर खड़े होने का साहसिक मानवीय काम किया था जिसकी सराहना के रूप में उन्हें नेशनल व लोकल प्रतिष्ठा तो हासिल हुई ही, अनेक इनाम सम्मान मिले, और लेडीज़ क्लब ने भी सदस्या बनाया। उसी घटना के माध्यम से वाचिका ने इस अध्याय में दंगों का भी चरित्र और उसके पीछे सक्रिय तत्वों का खुलासा भी किया है।

उपन्यास के बाद के अध्याय भी लेडीज क्लब की सदस्याओं पर आधारित हैं, एक या दो शीर्षक अलग क़िस्म के हैं जो सांप्रदायिकता की समस्या को गहराई से छूते हैं। मसलन, उपन्यास का एक अध्याय है : 'उस बरस तरबूज़ खूब फला'। यह अध्याय किसी सदस्या से जुड़ा हुआ न हो कर शहर में हिंदुत्ववादी तत्वों की वीभत्स कार्रवाइयों का ख़ाक़ा पेश करता है जिन्होंने एक मुस्लिम परिवार को जो अपने बीमार बच्चे के इलाज के लिए जा रहा था अपनी खूंखार नफ़रत का शिकार बना डाला और खून को छुपाने के लिए वहां तरबूज़ काटकर बिखेर दिये। सांप्रदायिक मानसिकता किस तरह इंसानों को जानवर बना देती है, यही इस अध्याय में दिखाया गया है।

इसी तरह उपन्यास के आख़िरी अध्याय का शीर्षक, 'मधुबन से गोरखपुर तक' भी किसी सदस्या के नाम से नहीं है लेकिन उसके केंद्र में एक तो, हिंदुस्तान के मध्यवर्ग का बदलता सामाजिक यथार्थ और दूसरे, अल्पसंख्यक समुदाय में असुरक्षा की भावना की असलियत चित्रित है। मध्यवर्ग में संपन्नता आयी है, उनमें से अधिकतर के बच्चे विदेश बस गये हैं, बूढ़े मां बाप शहरों में अकेलेपन के माहौल में जी रहे हैं। यह यथार्थ हमीदा आपा के माध्यम से अंकित किया गया है जो दस साल पहले फ़ारसी भाषा विभाग के अध्यक्ष पद से रिटायर हो गयीं। पति का देहांत हो चुका है और 'उनके दोनों बेटे अमरीका में हैं।' ऐसी हालत बहुत से शहरी मध्यवर्गीय नागरिकों की है। 'हिंदुस्तान में हालात कितने बदल गये हैं', यही इस अध्याय का सारतत्व है।

कुल मिला कर नमिताजी का यह उपन्यास इसी बदले हुए यथार्थ का जीता जागता चित्र पूरी विश्वसनीयता के साथ पेश करता है। हिंदी साहित्य को ऐसे आलोचनात्मक यथार्थवादी उपन्यासों की बहुत ज़रूरत है। हमारा समाज बहुत से मानवविरोधी दक़ियानूसी विचारसरणियों के कैंसर से पीड़ित है जिनका फ़ायदा उठाकर ऐसी ही जनविरोधी राजनीति सत्ता पर क़ाबिज़ हो कर समाज को आगे ले जाने के बजाय पीछे धकेलने में कामयाब हो रही है। ऐसे उपन्यास उसकी तसवीर समाज के सामने रखकर अपनी रचनात्मक सामाजिक ज़िम्मेदारी भी निभाते हैं।

मो. : 09811119391

ठहराव के भ्रम और गति की वास्तविकता के बीच

संजीव कुमार

नीलेश रघुवंशी का उपन्यास *एक क़स्बे के नोट्स,* दरअसल, छूट चुके क़स्बे के बारे में एक कवि के नोट्स हैं। लेकिन कवि होने और नोट्स(नुमा) होने का मतलब यह नहीं कि इसका उपन्यास होना कहीं से भी संदिग्ध है। बात क़स्बे की, तरीक़ा संस्मरणात्मक नोट्स का, दृष्टि कवि की, पर इनके मेल से जो कृति उपजी है, वह एक उपन्यास है। टेरी ईगल्टन ने ठीक लिखा है, 'यों तो कई चीज़ें सटीक परिभाषा की मुख़ालफ़त करती हैं... लेकिन उपन्यास के बारे में ख़ास बात यह है कि वह परिभाषा की अवहेलना ही नहीं करता बल्कि उसकी जड़ खोदता है।... उपन्यास एक अराजक विधा है, क्योंकि कोई नियम न होना ही इसका नियम है। अराजकतावादी वह नहीं होता जो सिर्फ़ नियमों को तोड़ता है, अराजकतावादी वह होता है जो नियम तोड़ने को ही अपना नियम मानता है।' (*द इंग्लिश नॉवलः ऐन इंट्रोडक्शन,* 2005, पृ. 1-2) *एक क़स्बे के नोट्स* उपन्यास विधा की इसी फ़ितरत का लाभ उठाती रचना है।

नीलेश के इस पहले और अब तक के आख़िरी उपन्यास की कई ख़ासियतों में से एक है, इसकी आख्यान-संरचना का अनोखापन। एक ऐसी कथा(?) की कल्पना कीजिए जो अपने अधिकांश में ऐसा-होता-था के एक स्थिर काल-बिंदु पर क़दमताल कर रही है। इस क़दमताल में कई अलग-अलग दृश्यों का एक कोलाज भर बनता जाता है, कार्यव्यापार की कोई शृंखला नहीं उभरती। लगता है, कुछ भी आगे नहीं बढ़ रहा, भले ही हो बहुत कुछ रहा हो।... पर कुछ देर बाद जब आप मुड़कर देखते हैं तो पाते हैं कि आप वहीं नहीं हैं जहां आख्यान की शुरुआत में थे। ग़रज़ कि जिसे आप क़दमताल समझ रहे थे, वह दरअसल आपकी निगाहों को गच्चा दे जानेवाली ख़ास तरह की चाल थी। ठीक प्रकृति की चाल के समान। जिस तरह रात और दिन ढलते हैं, जिस तरह उम्र के साथ इंसान की शक्लो-सूरत बदलती है, जिस तरह पेड़ों पर पत्ते और फूल-फल आते हैं, ठीक उसी तरह एक नामालूम-सी (अननुभूत्य?) गति के साथ आगे बढ़ता आख्यान।... ऐसी संरचना संभवतः हिंदी के किसी और उपन्यास में नहीं मिलती और अगर किसी अन्य कारण से नहीं तो सिर्फ़ इसी कारण से इसे एक उल्लेखनीय रचना समझा जाना चाहिए। वैसे कारण और भी हैं। उन सबकी चर्चा के लिए पहले उपन्यास का एक स्थूल परिचय प्राप्त कर लें।

प्रथम पुरुष वाचन में चलनेवाले इस उपन्यास की नैरेटर गंज बासौदा नाम के एक छोटे-से क़स्बे

---

* समीक्षित पुस्तक : ***एक क़स्बे के नोट्स***, राजकमल प्रकाशन, 2012, मूल्य : 350 रु. (हार्डबैक), पृ. 224.

की बाशिंदा है, यद्यपि समय के जिस बिंदु से कहानी कही जा रही है, वहां बासौदा पीछे छूट चुका है। उस छूटी हुई जगह में एक छूटा हुआ समय है। वही इस आख्यान का दिक्काल है। छूटे हुए उस दिक्काल में क़स्बे की बेहद मामूली, पर शिक्षित मध्यवर्गीय शहरी के लिए अपने ढंग की अनोखी, रोज़मर्रा की ज़िंदगी है; आठ भाई-बहनों और माता-पिता का एक कुनबा है; कुनबे का पेट पालनेवाला एक ढाबा है जिसे तरक़्क़ीपसंद सोच वाले बेहद मेहनती पिता अपनी बेटियों की मदद से चलाते हैं; ढाबे के काम में पिता की सबसे ज़्यादा मदद करनेवाली और अंततः उनके सपने को पूरा करनेवाली, उनकी शख़्सियत की मुरीद एक बेटी है जो आख्यान की नैरेटर भी है; और इन सबके बीच है, एक बहुत जानी-पहचानी निम्नमध्यवर्गीय दुनिया जिसे हम इस प्रथम पुरुष नैरेटर के फ़ोकलाइज़ेशन के ज़रिये नये सिरे से जानते-पहचानते हैं। पूरा आख्यान संस्मरण-शैली में चलता है, यानी जेरार्ड जेनेट की नैरेटॉलोजी के हिसाब से इसे 'इनटर्नल फ़ोकलाइज़ेशन' वाला आख्यान कह सकते हैं। फ़ोकलाइज़र और नैरेटर एक ही है, और वह है सात बहनों और एक भाई वाली बबली। उसकी देखी हुई क़स्बे की दुनिया अपनी पूरी जीवंतता के साथ यहां मौजूद है। मामूली अवसरों में उल्लास का बहाना ढूंढ़ लेने वाला स्वभाव और छोटी-छोटी चीज़ों के लिए कठिन संघर्ष करने की नियति—इनसे बनी हुई यह दुनिया बेहद बारीक़ी और संवेदनशील निगाह से देखी-दिखायी गयी है। इस दुनिया में यों तो बहुत-कुछ है—अनाज की मंडी और उसके आसपास उगा बाज़ार, गांव से आते और वापस लौटते किसान, क़स्बे को शहर कहकर तंज़ करते गंवई संबंधी, एक छोटा-सा रेलवे स्टेशन और शाम गये वहां तफ़री करते लोग, सावन के व्रत और दुर्गापूजा की झांकियां, हाट और मेले, कचहरी और बस स्टैंड, स्कूल और नवजात गर्ल्स कॉलेज, ढेर सारी बहनें और उनके अपने-अपने क़िस्से, अनवरत प्रयासों और दबावों के बीच संपन्न होने वाली या न होने वाली शादियां, असंख्य मनाहियों और बद्दुआओं के बीच ख़त्म होने वाले या न होने वाले प्रेम - सब कुछ, पर पिता और ढाबा के साथ फ़ोकलाइज़र का विशेष लगाव आख्यान को लगातार उनके आसपास बनाये रखता है। इनकी मौजूदगी आख्यान के संगठन-सूत्र के समान नहीं है; क़स्बे की दुनिया में जो पूर्वोक्त 'बहुत-कुछ' है, उसे एक लड़ी में पिरोने का काम ये नहीं करते। ये मोज़ाइक में सबसे उभरे हुए, नियामक रंग-खंडों के समान हैं जिनसे एक विशेष आभायुक्त पैटर्न बनता है। उपन्यास की शुरुआत भी पिता और ढाबे के साथ होती है और अंत भी। फ़र्क़ यही है कि शुरुआत में दोनों की भौतिक उपस्थिति दर्ज है, जबकि अंत में पिता तो हैं, पर ढाबे की जगह उसको याद करती एक आह भर है। उपन्यास का आख़िरी वाक्य है, 'बिना छड़ी के पिता कितने अच्छे लग रहे हैं! काश, आज ढाबा भी होता...!' ढाबे के लिए आह भरनेवाली यह नैरेटर बबली क़स्बे को छोड़कर शहरवाली बन चुकी है, उसने पढ़-लिख कर अपने संघर्ष के बल पर नौकरी पा ली है जो उसके पिता का सपना था, और अब जब वह अपने क़स्बे को याद कर रही है तो अनिवार्यतः संघर्ष के हर क़दम पर हतोत्साह करते समाज के ख़िलाफ़ सहारा बननेवाले पिता और बाहरी दुनिया से जोड़ने, श्रम का संस्कार देने वाला ढाबा ही स्मृतियों के उस मोज़ाइक का सबसे प्रभावी पैटर्न निर्मित करते हैं।

अपने लिए नहीं, सिर्फ़ अपने बच्चों के लिए सपने देखनेवाले पिता के मिश्रित परिणामों वाले संघर्ष को हम उपन्यास में एक क्षीण कथा-सूत्र की तरह चिह्नित कर सकते हैं, अन्यथा कथा निर्मित करने जैसा कोई उपक्रम उपन्यास में सतह पर नहीं दिखता। यह अपने अधिकांश में सचमुच 'नोट्स' की तरह है। नैरेटर अपने क़स्बे और कुनबे से जुड़े बहुत अलग-अलग क़िस्म के प्रसंग और विवरण पेश करती जाती

है और उन्हें एक कथा की कड़ियों के रूप में संयोजित करने का अपनी ओर से न्यूनतम यत्न ही करती है। इस रचाव की व्याख्या और सराहना हम 'फ़ोकलाइज़ेशन' के तर्क से ही कर सकते हैं। पूरा उपन्यास एक ऐसे पात्र के परिप्रेक्ष्य से प्रस्तुत किया गया है जो बाहर जा चुका है। यह परिप्रेक्ष्य उपन्यास को संस्मरण का ढांचा प्रदान करता है और संस्मरण में घटनाएं तो हो सकती हैं, पर उनके बीच कथात्मक विकास का कोई ग्राफ़ बनता हो, यह ज़रूरी नहीं। इसीलिए उपन्यास के अधिकतर हिस्से (यानी अध्याय और उप-अध्याय, हालांकि उन पर कोई संख्या या शीर्षक अंकित नहीं है) ऐसा-होता-था वाले व्याकरणिक काल में शुरू होते हैं।

'पिता की सुबह पांच से छह के बीच हो जाती।'
'इस क़स्बे को शहर ही कहेंगे, क़स्बा नहीं।..... तो शहर में गणेश जी और दुर्गा जी की झांकियां लगतीं।'
'सबसे बड़ी बहन आशा जीजी की शादी पास के गांव कागपुर में हुई। जीजी को लाने के लिए पिता मुझे सुबह आठ बजे बस में बिठा देते।'
'मार्च, अप्रैल, मई, जून—साल में सिर्फ़ चार महीने मंडी के समय सीजन होता था।'
'कक्का की एक बहुत मज़ेदार बात पंखे को लेकर रही है। वे हमेशा पंखे को फुल स्पीड पर चलाने के लिए मना करते।'
'लाल मिर्च, धनिया, हल्दी और खड़ा ग़रम मसाला घर में ही कुटता था।'
'हाट और मेला नदी के उस पार लगता था। हम लोग भी पुल पार कर मेला देखने जाते थे।'
'पिता शालू शिवा को सब्ज़ी बनाना सिखाते हुए भट्ठी से थोड़ी दूर खड़ा करते थे।'
'मां बहुत व्रत करती।'
'हम मां की बिल्कुल भी नहीं सुनते थे।'
'कचहरी का भी सीजन रहता था।'
'दीवाली पर प्रमोद की दुकान पर टेबुल कुर्सी की पुताई होती।'
'जिन बहनों की शादी हो जाती, वे ढाबे पर काम नहीं करती थीं।'
'ऐसा नहीं कि लड़ाई-झगड़े नहीं होते थे।'
'भैया कॉन्वेंट स्कूल में पढ़ता था। चाय पीने में उसे घंटा भर लग जाता।'
'सीमा और मैं शाम को नल के पास खड़े हो जाते और हर आने-जाने वाले को घंटों देखते रहते।'
'आशा जीजी के बड़े जेठ को सब 'बड़ारी' कहते थे।... मैं उनके साथ खूब गाड़ी चलाती।'

ये सारे उद्धरण अलग-अलग अध्यायों की शुरुआत के हैं। इतने सारे उद्धरण इसलिए दिये गये ताकि यह बताया जा सके कि उपन्यास में आरंभ से लेकर लगभग अंत तक इस अंदाज़ में लिखे गये अंश बहुतायत में हैं। ऐसे अंशों में कथा-समय एक हद तक स्थगित रहता है, उसके आगे बढ़ने के संकेत नहीं मिलते। लेकिन इन्हीं के बीच-बीच में नैरेटर पूर्वापर क्रम में सजी घटनाएं भी—जिनका संबंध मुख्यतः उसके अपने भरे-पूरे कुनबे से है—पिरोती चलती है, जिसके कारण हम पीछे मुड़ कर देखने पर ख़ुद को आगे बढ़ते कथा-समय के बीच पाते हैं। शालू का प्रेम, शालू को साइंस पढ़वानेवाले पिता की महत्वाकांक्षा का ध्वंस, शालू और शिवा की शादी, नैरेटर बबली का ढाबे पर पिता की मदद करते-करते स्कूल से कॉलेज तक पहुंचना, इकलौते और लाड़ले भाई की उत्तरोत्तर बढ़ती नालायकी, बबली का बी.ए. में फर्स्ट डिवीज़न लाकर एम.ए. करने शहर जाना, नौकरी की तलाश और अंततः कामयाब होना—ये सब कथा के इसी

विकास में शामिल हैं। इस तरह ठहरे हुए कथा-समय का आभास एक मिथ्याभास साबित होता है, किसी छोटे क़स्बे के ठहराव के मिथ्याभास की तरह ही। बदलता क्या नहीं है! *एक क़स्बे के नोट्स* अपने रचाव में इस मिथ्याभास की भी कहानी है। गोया क़स्बा यहां आख्यान का स्थूल आधार ही नहीं रहता, आख्यान की संरचना में अपने अनिवार्य चरित्र-गुण को शामिल कर एक पठन-अनुभव भी बन जाता है। आप क़स्बे के बारे में सिर्फ़ सूचित नहीं होते, उसे अनुभव करते हैं, ठहराव के भ्रम और गति की वास्तविकता के बीच आवाजाही करते हुए।

यह पूछा जा सकता है कि एक-दूसरे से जुदा प्रसंगों और विवरणों का, कथात्मक अन्विति के बग़ैर पास-पास मौजूद होना कोई नयी बात कैसे है? क्या *मैला आंचल* में ऐसा ही नहीं था? निस्संदेह, इस रूप में कथानक की उपेक्षा का सबसे स्थापित उदाहरण *मैला आंचल* ही है, और शायद पहला भी। लेकिन एक फ़र्क़ है। *मैला आंचल* में कथानक जैसे तत्व को लेकर एक रचनात्मक 'अनुशासनहीनता' भले ही दिखायी गयी हो, घटनाएं कम-से-कम काल-रेखा पर आगे-पीछे नियोजित हैं। यह संभव है कि ऐसी कई रेखाएं समानांतर चल रही हों, लेकिन उन सब पर पूर्वापर क्रम से नियोजित घटनाओं का सिलसिला देखा जा सकता है। उपन्यास की शुरुआत ही समय के एक निश्चित बिंदु पर होती है जहां पूरे गांव में जंगल की आग की तरह यह ख़बर फैल जाती है कि पुलिस ने बहरा चेथरू को गिरफ्फ कर लिया है और लोबिन लाल के कुएं से बाल्टी खोल कर ले गयी है। इसके मुक़ाबले *एक क़स्बे के नोट्स* की भिन्नता ऐसा-होता-था वाले तर्ज़े-बयानी के प्रभुत्व या बहुतायत में है, यानी ऐसी क्रियाओं की बहुतायत जिन्हें हम प्रायिक भूत (हैबिचुअल पास्ट) की क्रियाएं कह सकते हैं। प्रायिक भूत में ही एक ख़ासे बड़े हिस्से के चलने के कारण बहुत देर तक तो कथा-समय की कोई सीधी रेखा उभरती ही नहीं, कोई पूर्वापर क्रम हाथ नहीं लगता। इसी को मैंने क़दमताल सरीखी संरचना कहा है और इसे सराहने के लिए फ़ोकलाइज़ेशन के तर्क को समझने पर बल दिया है। शहरी मध्यवर्ग में प्रोन्नत हो चुकी बबली के परिप्रेक्ष्य से हम छूटे हुए क़स्बे को देख रहे हैं, इसलिए यह संरचना बहुत स्वाभाविक है। बबली का बाहर निकल जाना हमें भले ही उपन्यास के अंत में पता चलता है, पर यह संरचना शुरू से ही अहसास करा देती है कि क़स्बे के बारे में बतानेवाली यह चरित्र अब क़स्बे में नहीं है, वह किसी और अवस्थिति से अपने छूटे हुए अतीत को याद कर रही है।

छूटे हुए को याद करने में प्रायः एक अतीत-मोह होता है जो साहित्यकारों के यहां ख़ास तौर से पाया जाता है। वह *एक क़स्बे के नोट्स* में भी है। लेकिन अक्सर अतीत-मोह में सामाजिक रूप से प्रतिगामी अंतर्वस्तु पायी जाती है, *एक क़स्बे के नोट्स* में वह नहीं है। और क्यों हो? यह अंततः बाहर निकल जाने की कहानी है—बबली के शहरी मध्यवर्ग में प्रोन्नत होने की कहानी—और इस वर्गीय प्रोन्नति को लेकर उपन्यास में जश्न का भाव है, कोई दिखावटी स्यापा नहीं! नैरेटर की आकांक्षाओं और क़स्बे को याद करने के उपागम के बीच कोई असंगति नहीं है। उसके पास याद करने को बहुत कुछ अच्छा है, पर काफ़ी कुछ ऐसा भी है जिसे वह तकलीफ़ के साथ याद करती है। वह उस ग़रीबी को बिल्कुल महिमामंडित नहीं करती जिसमें 'लंबी छलांग के बारे में तो' कभी सोचा ही नहीं जा सकता, 'एक छोटा-सा रास्ता पार करने में ही सारे सपनों का तेल निकल' जाता है। वह उस सामाजिक दक़ियानूसी को कहीं भी पवित्र और संरक्षणीय मानती नहीं दिखती जिसके कारण बेटी का प्रेम 'पिता के जीवन का अभिशाप' बन कर उनकी 'कमर को हमेशा के लिए झुका' देता है, एक लड़की के प्रेम-विवाह से 'चारों ओर

त्राहि-त्राहि मच' जाती है और 'जान-पहचान वाले, बिना जान-पहचान वाले सब कोसने' लगते हैं, बेटियों को पढ़ाने पर पिता को बार-बार सुनना पड़ता है कि 'मुश्किल में पड़ जाओगे आगे चलकर तुम'—ऐसे समाज को चित्रित करना प्रतिगामी अर्थों में नौस्टेल्जिक होना भला कैसे हो सकता है! वह जहालत को जहालत के रूप में ही याद करती है, भले ही उसके लिए क्रांतिकारी ताब वाले शब्दों का प्रयोग करना उसकी स्वाभाविक शैली या शैलीगत स्वभाव न हो। वह एक ऐसे पिता की मुरीद है और उसके इर्द-गिर्द ही पूरे आख्यान को बुन रही है जो मेहनत और धैर्य का मूर्तिमान रूप होने के कारण ही नहीं, अपने दौर और अपनी हैसियत की सीमाओं के भीतर तरक़्क़ीपसंदी की मिसाल होने के कारण भी उसका आराध्य है। यह ऐसा पिता है जो तमाम विरोधों-अवरोधों के बीच अपनी बेटियों को पढ़ाने की कोशिश करता है, हर समय उनका आत्मविश्वास बढ़ाता है और उन्हें लेकर सपने देखता है, 'सावन के सोमवार' का व्रत रखने को 'बेकार की फ़र्जी बातें' बताता है, हर मौक़े पर दक़ियानूसी के ख़िलाफ़ यथासंभव विवेक की आवाज़ बन कर खड़ा होता है, उधारी लेकर तेरहवीं का मृत्यु-भोज करने का विरोध करता है और अपनी तेरहवीं न होने देने के लिए बाक़ायदा लिख कर देता है। ग़रज़ कि *एक क़स्बे के नोट्स* का अतीत-मोह पिछड़ेपन के प्रति लगाव नहीं है, वह सदसद्विवेक के साथ स्मृतियों में उतरना है। एक जगह लड़कियों को पढ़ाने के मामले में पिता को मिलनेवाली सलाहों का ज़िक्र करते हुए नैरेटर कहती है, 'लोग बिल्कुल भी नहीं बदले थे लेकिन पिता रोज़ बदल रहे थे।' उपन्यास नहीं बदलनेवालों के साथ नहीं है, बदलनेवालों के साथ है।

नीलेश के पास एक कवि के अवलोकन की बारीकी और अभिव्यंजक भाषा है जिसे उन्होंने अपने कथा-कौशल का बेशक़ीमत औज़ार बना लिया है। छोटी-छोटी आदतों, हरकतों, प्रतिक्रियाओं, बातों को पकड़ते हुए वे बहुत कम शब्दों में किसी चरित्र से हमारा घनिष्ठ परिचय करा सकती हैं। पिता की तो बात ही क्या, थोड़ी अधिक जगह लेनेवाले शालू, शिवा, सीमा, भाई और मां जैसे चरित्रों को भी छोड़ दें, तो मामा, बुआ, आशा जीजी, अन्नी के पति गजेंद्र सिंह, प्रिंसिपल सर, 'बड़ारी' यानी आशा जीजी के बड़े जेठ--छोटे-छोटे असंख्य चरित्र हैं जो कहीं एक-दो पन्ने में सिमटे हैं, पर अपनी विशिष्ट पहचान के साथ हैं। उपन्यास ख़त्म करने के बाद उसकी सघन जनसंख्या के बीच भी इन्हें इनकी खुसूसीयत के साथ याद किया जा सकता है। जिन्हें थोड़ी अधिक जगह मिली है, उनके बारे में तो यह बात और भी लागू होती है। और सबसे अधिक यादगार चरित्र है पिता का, जिन्हें शब्दों में उतारते हुए नैरेटर अक्सर काव्यात्मक हो जाती है।

> 'पंखा धौंकते-धौंकते सारी ताक़त लगा देते। पूरा ढाबा धुएं से भर जाता लेकिन क्या मज़ाल धुएं की जो उनकी आंखों को झपका भी सके। ख़ुद को झोंकते हुए क़रीब आधा घंटे तक पंखा धौंकते रहते और फिर उनके भीतर की आग भट्ठी को जलने को मजबूर कर देती। भट्ठी ज़्यादा दहक रही होती या वे, कहना मुश्किल। लाल अंगारों-से दहकते पिता देखते ही बनते।'
>
> 'ऐसे समय पिता मज़बूत जड़ों के साथ, चारों ओर से घनापन देते, भीतर के आसमान को छूते हुए बरगद की तरह फैलते चले जाते...।'
>
> 'अब पिता एक उदास गीत की तरह हो गये। शालू और शिवा को देख बुझी भट्ठी में बदल जाते। भट्ठी बुझे या सुलगे, इससे बेपरवाह आसपास के लोग बड़ी चैन की सांस ले रहे थे।'
>
> 'गाय की आंख से पानी और मुंह से झाग टपक रहा था। उसने पानी नहीं पिया और वहीं नल के पास

धम्म से बैठ गयी। भट्ठी पर रोटी ज्यों की त्यों रखी थी। उसकी आंख का पानी पिता की आंखों में जाने लगा।'

उपन्यास के बीच में एक ऐसी जगह भी आती है जहां नैरेटर पिता के ध्वस्त होते सपनों के नाम दो कोरे पन्ने छोड़ देती है :

चीज़ों को थोड़ा ठहर कर धैर्य के साथ सुनना-समझना चाहिए। सांस भर आती है, कलेजा मुंह को आ जाता है, किसी के टूटे सपनों का बखान करते। वह भी ऐसे आदमी के सपने, जिसने ख़ुद के लिए कोई सपना नहीं देखा होगा।... कुछ और नहीं, बस यह ख़ाली जगह। यह कोरा काग़ज़, उन्हीं सपनों के लिए।'

मौन का सबसे अधिक सम्मान कविता ही करती है और इस दृष्टि से कोरे पन्ने छोड़ना एक विलक्षण काव्यात्मक युक्ति है।

काव्यात्मकता सिर्फ़ पिता के प्रसंगों में नहीं, वक़्त-ज़रूरत के मुताबिक पूरे उपन्यास में है और कुछ गिनी-चुनी जगहों को छोड़ दें, जहां उनका अतिरेक अखरता है, तो सामान्यतः वह औपन्यासिक गद्य की एक ताक़त बनकर उभरती है। उपन्यास के अंत की ओर, नैरेटर के जीवन-संघर्ष के सबसे आविष्ट क्षणों में, यह काव्यात्मकता अपने सघनतम रूप में है। जो लोग मिलान कुंदेरा की तरह भावानात्मक तल्लीनता को उपन्यास का दुर्गुण मानते हैं और उपन्यासकार द्वारा अपने विषय को एक बौद्धिक दूरी (अ-लगाव) से देखा जाना ज़रूरी समझते हैं, उन्हें शायद यह कृति संतोष न दे पाये, पर जिनके लिए उपन्यास पढ़ने का मतलब एक कथा-संभव संसार में उतर जाना, उसका भागीदार और भोक्ता बन जाना है, वे *एक क़स्बे के नोट्स* के मुरीद होंगे।

अंत में इस चीज़ को भी रेखांकित किया जाना चाहिए कि *एक क़स्बे के नोट्स* समय के यथार्थ को हर तरफ़ से नांध लेने का दावेदार कोई महत्वाकांक्षी उपन्यास नहीं है। उपन्यासकारों में अक्सर यह लोभ देखा जाता है कि 100, 50 या 25 साल की राष्ट्रीय महत्व की घटनाओं के फ़्लो-चार्ट में अपने चरित्रों की आपबीती को संयोजित कर उपन्यास को 'समय का ज्वलंत दस्तावेज़' बना दिया जाये। इस चक्कर में, जैसा कि इपंले ने पहले भी लिखा है, दस्तावेज़ तो पता नहीं कितना बन पाता है, उपन्यास अक्सर बनने से रह जाता है। उनके सामने *एक क़स्बे के नोट्स* बहुत विनम्र कृति है। वह इस अर्थ में अपने मिज़ाज में ही क़स्बाई है कि उसके लिए समय के यथार्थ का मतलब 'राष्ट्रीय' फलक पर उभरी घटनाएं और प्रवृत्तियां नहीं है, जिनका स्थानीय अनुवाद प्रस्तुत करना रचनाकार का अभीष्ट हो। वह एक क़स्बे की ज़िंदगी की ऐसी अनगिनत चीज़ों में पूरा रस लेती है (याद रखें, करुण भी रस है), जो 'दस्तावेज़' होने का प्रमाणपत्र देनेवाले आलोचक के लिए प्रमाणन का सरल आधार मुहैया नहीं करातीं। वह यथार्थ के उन पहलुओं से हमें रू-ब-रू कराती है जो अन्य माध्यमों या अनुशासनों से छूट जाते हैं। इस मायने में *एक क़स्बे के नोट्स,* उपन्यास जैसी चीज़ के होने की ज़रूरत का एक निदर्शन है। वह उन उपन्यासों की क़तार में शामिल नहीं है जिन्हें पढ़ कर मन में यही सवाल उठता है कि समाजविज्ञानों और पत्रकारिता के मौजूदा परिष्कार के बीच उपन्यास जैसी विधा की ज़रूरत क्या है?

मो. : 09818577833
ईमेल : sanjusanjeev67@gmail.com

सहज, सुग्राह्य भाषा में संप्रेषणीय कविताएं

अजय कुमार पाण्डेय

दुनिया के किसी भी कोने में जब कोई कवि कविता लिख रहा होता है, वह उस समय मौजूदा व्यवस्था से असहमति दर्ज कर रहा होता है। यानी वह एक समानांतर वैकल्पिक दुनिया रचने की प्रक्रिया में लगा होता है। इस तरह से देखा जाये तो असहमतियां वैकल्पिक दुनिया रचने की अनिवार्य शर्तें होती हैं जो एक समय पर जा कर राजनैतिक ताक़त में रूपायित हो जाती हैं। इसलिए कविता लिखना एक राजनैतिक और सामाजिक जवाबदेही है। संतोष कुमार चतुर्वेदी की कविताएं इसी जवाबदेही का परिणाम हैं और जो समाज के विभिन्न हिस्सों में छितराये हुए संघर्षरत और दमित लोगों के साथ मोर्चा संभाले मज़बूती से खड़ी हैं। ये वे कविताएं हैं जिन्हें मात्र मनोरंजन के लिए नहीं बल्कि संबल के लिए हम अपने जीवन-युद्ध में शामिल कर सकते हैं। ये कविताएं हताशा, मूल्यहीनता और उद्देश्यहीनता के इस दौर में व्यक्ति को गिरने से बचाती हैं, संभालती हैं और तैयार कर युद्ध-मोर्चे पर विदा करती हैं। आज लगातार भीड़ तो बढ़ती जा रही है, किंतु इस बढ़ती हुई भीड़ में व्यक्ति अकेला पड़ता जा रहा है और निराशा की स्थिति में जी रहा है। लोग हारी हुई मनःस्थिति में हैं। दूर-दूर तक कोई उम्मीद नहीं दिखायी दे रही है। अगर कुछ थोड़ा बहुत दिखायी भी कहीं दे रहा है तो कह रहे हैं लोग कि इससे क्या होने को? लेकिन संतोष चतुर्वेदी कहते हैं, छोटे-छोटे प्रयास भी महत्वपूर्ण होते हैं और बदलाव की पृष्ठभूमि रचते हैं। उनकी एक कविता की कुछ पंक्तियां हैं, 'वे कहते हैं/अकेले चना भाड़ नहीं फोड़ सकता/मुहावरे सच होते हैं/क्योंकि ये बनते हैं/सदियों की अनुभवों की चाशनी में पक कर ही/मैं बताता हूं उन्हें/मुहावरे ही अंतिम सत्य नहीं हुआ करते/ साबित किया है इसे समय ने ही बार-बार/फ़र्क़ तो पड़ता है साथी' (पृष्ठ 96)। कविता की इन प्रारंभिक पंक्तियों के बाद कवि ने कई उदाहरण दिये हैं, जो साबित करते हैं कि अकेले का भी अपना वजूद होता है, मायने होता है। उसे हटा देने से वह कितना बड़ा फ़र्क़ डाल सकता है और उसका कहीं होना कितना बड़ा निहितार्थ हो सकता है, 'कोरे काग़ज़ पर/एक बच्चे ने अभी-अभी खींची है एक रेखा/और काग़ज़ एक नये नवेले अर्थ में भींग गया है/अब देखिए ना/इसी रेखा से कहीं बन रहा वृत्त/इसी रेखा से कहीं संवर रहीं हैं आकृतियां/इसी रेखा से कहीं उभर रही हैं लिपियां/जिससे बनती है हमारे अनुभवों की वर्णमाला/फ़र्क़ तो पड़ता ही है साथी/देखो न जाने कहां हुई

---

* पुस्तक : ***दक्खिन का भी अपना पूरब होता है***, रचनाकार : संतोष कुमार चतुर्वेदी, साहित्य भंडार, 50, चाहचंद, इलाहाबाद-221003

बारिस/और तर हो गयी है/हमारे पास से गुज़रने वाली हवा/खुशगवार हो गया है/अपने यहां का मौसम' (पृष्ठ 98)। ये पंक्तियां समाज में अकेले और हाशिये पर पड़े व्यक्ति के जीवन को एक सकारात्मक अर्थ-बोध से भर देती हैं और उसका जीवन अर्थ-गांभीर्य से भर उठता है। ये विश्वास बहाली की कविताएं, जो व्यक्ति के जीवन को अर्थ प्रदान करती हैं।

संतोष चतुर्वेदी समाज की अलग-थलग पड़ी चीज़ों को अपनी कविताओं के केंद्र में लाते हैं, जहां किसी की नज़र आम तौर पर नहीं जाती। उन पर कविताएं लिखते हैं और उनके महत्व को रेखांकित करते हैं। इस लिहाज़ से उनकी कई कविताएं उनके हालिया प्रकाशित दूसरे कविता-संग्रह *दक्खिन का भी अपना पूरब होता है* में देखी जा सकती हैं। इस तरह की कविताओं के क्रम में इस संग्रह की एक कविता 'ङ' की चर्चा कर सकते हैं। देवनागरी लिपि में 'क'वर्ग का अंतिम वर्ण है 'ङ'। वर्णमाला के प्रायः सारे वर्णों से बने शब्द मिलते हैं। गांव के विद्यालयों में जब बच्चे पढ़ने के लिए जाते हैं तो उन्हें वर्णमाला की जानकारी कराने के लिए पढ़ाने का सामान्य तरीक़ा है कि क से कबूतर, ख से खरगोश आदि और अंत में बताया जाता है, 'ङ' मायने कुछ नहीं। बच्चों को पढ़ाये जाने वाले इस एक सामान्य-से वाक्य को संतोष चतुर्वेदी ने एक नया अर्थ दे दिया है। यह सामान्य-सा वाक्य इस कविता के ज़रिये एक नया मुहावरा गढ़ लेता है कि 'ङ' मायने कुछ नहीं की जगह 'ङ' मायने बहुत कुछ। इस कविता की कुछ पंक्तियां हैं—'किसी के हिस्से में कबूतर आया/किसी ने धीरे से खरगोश हुलकाया/घड़ी टिक-टिक करती रही/अपने होने के पहले से ले कर अब तक निरंतर/मगर क्या बात थी कि कुछ भी नहीं आया 'ङ' के हिस्से में...'। इस कविता में कवि संवादरत होते हुए पूछता है, 'अक्षरों की गहमागहमी में हमें विस्मृत कर/रची जा सकती है क्या कोई वर्णमाला/ बनाया जा सकता है क्या कोई भविष्य/उपेक्षित रख कर अपना समय 'ङ' (पृष्ठ 87)। इसी कविता में आगे पंक्तियां आती हैं, 'शब्दकोश भी साध गये चुप्पी/'ङ' की बारी आने पर/बारहखड़ी ने भी किया इसे दरकिनार ... बात करते-करते अचानक ही उठ खड़ा हुआ 'ङ'/और चल पड़ा तेज़ क़दमों से अपनी वर्णमाला की ओर/मैंने पूछा क्या बात है/अचानक ही जा रहे हो कहां/बातों की डोर तोड़ कर/... कि जब से तुम से बातों में उलझा हुआ हूं/तब से ही एक बच्चा/बार-बार अटक जा रहा है 'घ' पर/चाह कर भी नहीं बुला पा रहा है 'च' उसे अपनी ओर/बच्चा नहीं बढ़ पा रहा एक भी डग आगे/पसीने-पसीने हुए जा रहे हैं अक्षरविद/लिपिवेत्ता भी जता रहे हैं यह अनुमान/कि यहां होनी ही चाहिए कोई कण्ठ ध्वनि/जिससे बना रहे तारतम्य सृष्टि का/इसलिए जाना ही होगा हमें/तुरंत इसी वक़्त/अपनी वर्णमाला को सजाने-संवारने/आगे की राह बनाने/अपने मायने के रूप में/बच्चे के मुंह से/'कुछ नहीं' वाला मतलब सुनने' (पृष्ठ 91)। यह कविता सिर्फ़ वर्णमाला में 'ङ' का स्थान निर्धारण नहीं करती बल्कि गांव की पाठशालाओं में बच्चों को पढ़ाये जाने वाले एक सामान्य से वाक्य में 'ङ' मायने 'कुछ नहीं' को अर्थविस्तार देते हुए 'ङ' मायने 'बहुत कुछ' बना देती है तथा इसका संदर्भ समाज में हाशिये पर पड़े उपेक्षित व महत्वहीन से जुड़ जाता है। संतोष चतुर्वेदी बात को कविता में रूपायित करने की ख़ासियत रखने वाले कवि हैं और सामान्य बात भी इनके यहां कविता की शक्ल लेकर एक बड़ा अर्थबोध लिए प्रस्तुत होती है। पूरे समाज पर एक सवालिया निशान बन कर खड़ी होती है। चर्चा के इस क्रम में हम बात कर सकते हैं इस संग्रह की एक कविता 'मां का घर' पर। यह कविता लिखी तो गयी है मां पर, परंतु एक व्यापक फलक पर स्त्री-सवाल को खड़ा करती है कि कोई ऐसा घर भी है जिसे वह अपना कह सके? कहां है वह—ससुराल या मायके में? ससुराल में तो

उसका घर रहने से रहा। अगर संयोग से कोई स्त्री अपने मायके भी रह जाये तो वहां का घर भी उसका नहीं होता। उस घर की पहचान भी वहां पुरुष सदस्यों से होती है और वहां भी स्त्रियां विस्थापित ही रहती हैं। समाज में वे न जाने कहां-कहां किस-किस रूप में खटती-खपती रहती हैं। इसके बावजूद किसी घर की पहचान में वे शामिल नहीं होतीं। इसके लिए संतोष चतुर्वेदी की एक कविता की कुछ पंक्तियां देख सकते हैं, 'न जाने कहां सुना मैंने एक लोकगीत/जिसमें मां बदल जाती है/कभी नदी की धारा में कभी पेड़ की छाया में/कभी बारिस की बूंदों से/कभी घर की नींव में होते हुए/मां बदल जाती है फिर माली में/बड़े जतन से परवरिश करती हुई अपने पौधों की/फिर बन जाती है वह मिट्टी/जिसमें बेख़ौफ़ उगते अठखेलियां करते/दिख जाती है पत्तियों में/डालियों में फूलों में/फिर धीमे से पहुंच जाती हमारे सपनों में/धान रोपती बनिहारिने गा रही हैं/कि जिस तरह अपने बियराड़ से बिलग हो कर/धान का बेहन दूसरी धूल-मिट्टी में गड़ कर/लहलहाने लगता है फूलने-फलने लगता है/उसी तरह गुलज़ार कर देती हैं अपनी विस्थापित उपस्थिति से/किसी भी घर को महिलाएं/ख़ुद को मिटा कर/और जहां तक मां के घर की बात है/मैं हरेक से पूछता फिर रहा हूं/अब भी अपना यह सवाल' (पृष्ठ 19-20)। दरअसल, 'जहां तक मां के घर की बात है', यह वह सवाल है जो पूरी स्त्री-जाति का सवाल है और इसका सिर्फ़ एक ही उत्तर है, 'जहां पर भी रहती है वह/वहीं बस जाता है उसका घर/वहीं बन जाती है उसकी दुनिया' (पृष्ठ 20)। इस तरह मां पर लिखी गयी यह कविता एक बड़े संदर्भ से जुड़ कर संपूर्ण स्त्री-जाति की अस्मिता को संदर्भित करती है और स्त्री विमर्श की ज़मीन तैयार करती है।

विगत सदी में नब्बे के दशक के बाद पूरी दुनिया में पूंजीवाद के लिए अनुकूल माहौल तैयार हुआ। भारत भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। पूंजीवाद ने भारतीय राजनीति को भ्रष्ट बनाया और साहित्य को भी गहरे प्रभावित किया। साहित्य के प्रतिबद्ध राजनीतिक मिज़ाज में विचलन-सा आया। राजनीति साहित्य का मुख्य स्वर न हो कर कविताओं में 'आइटम सांग्स' सी हो गयी। आज गिनती के ही युवा रचनाकार बचे हैं जिनके काव्य-कर्म की अंतर्वस्तु राजनैतिक है। इस दृष्टि से संतोष चतुर्वेदी प्रतिबद्ध राजनैतिक रचनाकार हैं। राजनीति उनकी कविताओं की अंतर्वस्तु एवं अंतःस्वर है। अपनी रचनाओं में वे देश के मौजूदा हालात और राजनीति की दशा-दिशा पर बात करते नज़र आते हैं। वे राजनैतिक चेतना संपन्न, राजनैतिक संभावना की तलाश के कवि हैं। इसलिए उनकी कविताओं में मौजूदा राजनैतिक व्यवस्था के समानांतर एक विकल्प का आह्वान होता है। यह प्रवृत्ति उनकी अधिसंख्य कविताओं में देखी जा सकती है। राजनीति उनकी रचनाओं का एक प्रबल पक्ष है। उनकी कविताओं में इस समय का एक सजग राजनैतिक कवि बोलता है। कविता पंक्तियों का उल्लेख आवश्यक नहीं बल्कि उनकी कोई भी कविता देखी जा सकती है। राजनैतिक कवि होते हुए भी उनकी कविताओं में एक ख़ास तरह की रूमानी क्रांतिकारिता का आक्रोश न होकर एक सुचिंतित प्रौढ़ राजनीति की उपस्थिति मिलती है।

संतोष चतुर्वेदी के इस कविता-संग्रह *दक्खिन का भी अपना पूरब होता है* की कविताएं एक ख़ास तरह की जनपदीयता लिये हुए लोकधर्मी कविताएं हैं। इनमें पूर्वी उत्तर प्रदेश का भोजपुरी का जनपद काफ़ी मुखर रहता है। वास्तव में यह कवि रहता भले ही है इलाहाबाद में, लेकिन अपने गांव से कच्ची मिट्टी ले कर गया है और कविताएं उसी कच्ची मिट्टी से गढ़ता है। संतोष चतुर्वेदी अपनी कविताओं की विषय-वस्तु सामान्य जनजीवन से उठाते हैं। इन कविताओं में अपने समय का कोलाज उपस्थित मिलता

है और ये कविताएं हमारे समय व समाज की छायाप्रति-सी जान पड़ती हैं। इसकी बानगी हम 'मोछू नेटुआ', 'पेन ड्राईव समय', 'राग नींद', हाशिया', और 'वे हमें अकेला कर देना चाहते हैं' आदि कविताओं में देख सकते हैं।

इस संग्रह की कविताओं को पढ़ने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि को अपने समय की भयावहता का पूरा ज्ञान है। वह हमारे संकट को पहचानता भी है और उनसे लोगों को ख़बरदार भी करता है। इस निराशापूर्ण स्थिति में भी इस संग्रह की कविताएं निराश नहीं करतीं, यह विश्वास दिलाती हैं कि दुनिया में जब तक 'प्रश्नवाचक चिन्ह' रहेंगे, तब तक संभावनाएं भी रहेंगी, क्योंकि 'जवाब की जद्दोजहद में/जीवन को तलाशते/न जाने कब से अनवरत/प्रतीक्षा में खड़े/बेचैन-सी आत्मा वाले/ये प्रश्नवाचक चिन्ह/कभी नहीं बैठ पाते/पालथी मार कर' (पृष्ठ 122)।

इधर हाल के वर्षों में काफ़ी कुछ बदला है। वैश्वीकरण और बाज़ारवाद के इस दौर में जैसी सारी चीज़ों की क़ीमतें लग चुकी हैं और लोग अपने तक को बेचने के लिए खड़े हैं। ऐसे में 'कुछ लोगों ने भी नहीं लगायी अभी तक/अपनी कोई क़ीमत' जैसी पंक्तियां एक बड़ी संभावना बहाल करती हैं और जगाती हैं। किंतु जहां तक कविता की विषय-वस्तु का सवाल है, संतोष चतुर्वेदी काफ़ी सावधानी बरतते हैं। विषयों का चयन प्रायः मौलिक होता है। इस संग्रह में तो कुछ विषय ऐसे हैं जिन पर कविताएं पहली बार यहीं देखने को मिल रहीं है; जैसे, सांप पकड़ने वाले पर कविता 'मोछू नेटुआ', 'दशमलव', 'ओलार', पानी के रंग पर लिखी गयी कविता 'पानी का रंग', 'पेन ड्राईव समय' , 'विषम संख्याएं', 'हाशिया', 'ङ', गांव के गप्पियों पर लिखी गयी कविता 'गप्प की तरकीब से ही', चारपाई बुनने वालों पर कविता 'खाट बुनने वाले', लालटेन के भभकने पर कविता 'भभकना', और पूर्वी उत्तर प्रदेश के गांवों की दक्षिण तरफ़ अधिकतर बसायी गयीं बस्तियों को केंद्र में रखकर लिखी कविता, जिसके शीर्षक पर ही इस संग्रह का नामकरण किया गया है, 'दक्खिन का भी अपना पूरब होता है'। ये कुछ उदाहरण हैं जिन विषयों पर कविताएं पहली बार मुझे यहीं देखने को मिल रही हैं। इस संग्रह में कुछ छोटी कविताएं भी जो भाषा, शिल्प और कथ्य की दृष्टि से काफ़ी असरदार हैं, 'अक्सर यही होता है/कि टहनी पर जहां दिखती हैं खुरदुरी गांठें/वहीं से फूटती हैं नयी राहें ... जहां बिल्कुल सीधी सुरहुर दिखती हैं/किसी बांस बल्लरी की टहनी/वहां से उम्मीद का कोई कल्ला/ नहीं फूटता कभी' (वहीं से फूटती हैं राहें)। इसी शिल्प में रची गयी एक छोटी-सी कविता 'सुराख' की पंक्तियां हैं, 'अतल गहराइयों में राह बना लेने वाला/समुद्र के सीने को चीर देने वाला/पानी को बेरहमी से हलकोर देने वाला/भीमकाय जहाज/डरता आया है हमेशा से/महीन से सुराख से' (पृष्ठ 116)। इस तरह से ये छोटी कविताएं भी अपने प्रभाव में अचूक हैं। कवि ने इस संग्रह की कविताओं में मनुष्य-स्मृति से प्रायः बाहर हो चले भोजपुरी के शब्दों, जैसे खपड़ा, नरिया, धरनि , बियराड़, नधा, फिरकी, जइसा, सुरहुर, ओलार आदि का प्रयोग अपनी कविताओं करके उन्हें संरक्षित किया है। असावधानीवश छपाई में कुछ गिनी-चुनी वर्तनी संबंधी गलतियां रह गयीं हैं, हालांकि कविताओं की पठनीयता पर इसका असर नहीं पड़ता है। अंततः ये कविताएं इस बात का प्रमाण हैं कि वाग्विलास और पांडित्य से अलग सहज व सुग्राह्य भाषा में भी असरदार संप्रेषणीय कविताएं लिखी जा सकती हैं।

मो. : 07398159483

संभावनाशाली कवि निशांत की कविताई

अमीर चन्द वैश्य

आज की हिंदी कविता के संसार में अनेक युवा कवि सर्जना-संलग्न हैं। कितने कवि हैं, संख्या बताना असंभव है। सन् 1970 के बाद जनमे अनेक युवा कवियों के एक से अधिक कविता-संकलन प्रकाश में आ चुके हैं। ऐसे कवियों में एक चर्चित युवा कवि निशांत भी हैं। 4 अक्टूबर 1978 को उत्तर प्रदेश के बस्ती जनपद के लालगंज गांव में जनमे निशांत का स्कूली नाम बिजय कुमार साव है। और घर का नाम मिठाईलाल। इस घरेलू नाम से उनकी पहली कविता सन् 1993 में *जनसत्ता* में प्रकाशित हुई। उनकी शुरुआती कुछ कविताएं प्रशंसित भी हुईं। वरिष्ठ कवि एवं आलोचक अशोक वाजपेयी के सुझाव पर कवि ने अपना प्रचलित नाम मिठाईलाल त्याग दिया और निशांत के नाम से कविता प्रकाशित करवाने लगे।

नाम के इस बदलाव के कारण कुछ व्यावहारिक परेशानियां कवि के सामने उपस्थित होने लगीं, जिनके बारे में उसने स्वयं कहा है, 'वो किसी निशांत को नहीं पहचानते/जो कविताएं लिखता था/न किसी किसी बिजय कुमार साव को/जो पढ़ता था बी.ए., एम.ए. में,/और नौकरी की तलाश में चला गया बहुत दूर/किसी विद्यालय या महाविद्यालय की तरफ़/वो तो उसी मिठाईलाल को पहचानते हैं/जो लादकर साईकिल पर कपड़े का गट्ठर/लगाता था फेरी और हंसता था जोर-जोर से हो...हो करके/कितना हंसता था मिठइया उस समय।' (*जवान होते हुए लड़के का कबूलनामा,* पृष्ठ-167-168)

सन् 2011 में प्रकाशित *जवान होते हुए लड़के का कबूलनामा* निशांत का पहला कविता-संकलन है। संकलित कविताओं में कच्ची-पक्की दोनों प्रकार की कविताएं हैं। कविताओं के केंद्र में कवि स्वयं है और उसकी परेशानियां हैं। लेकिन कवि अपने से बाहर की दुनिया को भी देखता है। इसलिए उसकी कविताओं में कलकत्ता की जादुई नगरी है। दुख के बहाने हैं। बीच का आदमी है। पुराने कपड़े बेचनेवाली लड़की है। समाचार फेंकता हुआ लड़का है। सिलकुटना है। बेरोज़गारी में युवक है। प्रेम विषयक कुछ कविताएं हैं। प्रेम और बेरोज़गारी में पड़ा हुआ लड़का है। मां है और पिता हैं। कोलाहल है। दंगे हैं। शीतांशु की हंसी है। जय गोस्वामी के लिए कविता है। गुजरात विषयक कुछ कविताएं हैं। उल्लेखनीय है कि कविताओं में सत्ताइस साल की उम्र में, अट्ठाइस साल की उम्र में, उनतीस साल की उम्र में और तीस साल की उम्र में शीर्षक कविताएं भी हैं। अंतर्वस्तु की दृष्टि से इस संकलन की कविताएं वैविध्यपूर्ण हैं, लेकिन कथन-भंगिमा की दृष्टि से प्रायः एकरूपता है।

समकालीन हिंदी कविता की ख़ास कमी यह है कि कवि परम्रागत मुक्त छंद का प्रयोग करना जानते ही नहीं हैं। महाकवि निराला और मुक्तिबोध दोनों ने परम्रागत छंदों का मुक्त प्रयोग कलात्मक ढंग से

किया है। उदाहरण के लिए कवित्त छंद पर आधारित मुक्त छंद का आविष्कार निराला ने किया। और अनेक कविताएं इस छंद में रचीं। उनकी प्रसिद्ध कविता है **जागो फिर एक बार।** इसी मुक्त छंद में है। मुक्तिबोध ने अपनी प्रसिद्ध कविता **अंधेरे में** इसी मुक्त छंद की लय में रची। इस परंपरा का निर्वाह शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, नागार्जुन, विजेंद्र आदि ने अपने-अपने काव्य में किया है। लेकिन प्रसिद्ध कवि केदारनाथ सिंह ने इस परंपरा को आगे नहीं बढ़ाया, यद्यपि वह सक्षम कवि हैं। *तीसरा सप्तक* में उनकी संकलित कविताएं गीतात्मक होने के कारण लयात्मक हैं और पाठक को आकृष्ट भी करती हैं, लेकिन आगे चलकर उन्होंने इस लयात्मकता का परित्याग कर दिया। उनको आदर्श मानकर अनेक युवा कवि गद्यात्मक कविताएं लिखने में ही अपनी सार्थकता समझने लगे। निशांत की शैली तो गद्यात्मक है, लेकिन उनकी कविता की भाषा गद्यात्मक होते हुए भी लयात्मकता के निकट मालूम होती है। कुमार अंबुज और बद्रीनारायण की काव्य-भाषा के समान वह गद्यात्मकता से भाराक्रांत नहीं है, और न ही विष्णु खरे की भाषा का उन पर प्रभाव लक्षित होता है। उनके वाक्य बहुत लंबे-लंबे नहीं होते हैं। लेकिन उन्होंने किसी परंपरागत छंद को मुक्त रूप में अपनाने का प्रयास नहीं किया है। वास्तविकता यह है कि वर्तमान की कविता अपने अतीत से जुड़कर अपना नया रूप धारण करती है। कवि पुरानी पगडंडी पर चलकर अपने लिए नयी पगडंडी का निर्माण करता है, जो उसकी पहचान बनती है।

निशांत की भाषाई संरचना बोल-चाल के निकट है। इस संदर्भ में यह अंश पठनीय है: 'सिल कूटने के बाद/मां देती है उसे पांच रुपये/फ्रिज से निकालकर दो रसगुल्ले/रात की रखी हुई दो रोटी/रोटियां निगलते हुए/उसके बस्ते से निकल आती हैं/ढेर सारी कहानियां/जो चलती हैं तो चली चलती हैं/प्रधानमंत्री से लेकर गांधी-गोडसे तक' (पृष्ठ-36)। प्रसंगवश, उल्लेखनीय है कि निशांत ने केदारनाथ सिंह का अंधानुकरण नहीं किया है। अर्थात्, अपनी भाषा को जादुई नहीं बनाया है। निशांत की एक कविता का शीर्षक है **पुराने कपड़े बेचनेवाली**। सात पंक्तियों की यह लघु कविता आप पढ़िए और सोचिए: 'लड़की की इच्छा पूरी होती है/पहनकर चोली और घाघरा/धन्यवाद देती है/पुराने कपड़े बेचनेवाली को/और जाकर खड़ी हो जाती है आईने के सामने/देखती है आईने में एक साथ/मोनालिसा और अपने को।' (पृष्ठ-27) मोनालिसा विश्व-प्रसिद्ध पेंटिंग है, जो अपने सौंदर्य-बोध से दर्शक को अनायास आकृष्ट करती है। निशांत ने इस लघु कविता में पुरानी चोली-घाघरा पहनने वाली लड़की के उल्लास और सौंदर्य का स्वाभाविक निरूपण किया है, और उसकी अभिलाषा की अभिव्यक्ति भी कि मैं सुंदर दिखूं मोनालिसा के समान। भावबोध की दृष्टि से यह उत्कृष्ट कविता है। लेकिन 'धन्यवाद देती है' के स्थान पर अपेक्षित है, 'धन्यवाद करती है'।

निशांत ने इस संकलन की कुछ कविताओं में युवा-मानस की भावनाओं का संवेदनशील अंकन किया है। अपनी एक कविता में वे अग्रज कवि गोरख पांडेय की त्रासद ज़िंदगी को याद करते हुए लिखते हैं, 'जब नौकरी और प्रेमिका की सख्त ज़रूरत रहती है जीवन में/आप बहुत अच्छे लड़के हैं का तमगा बांटती है राजधानी/तुमने भी वही सोचा होगा गोरख/जो आज मैं सोच रहा हूं/जब बाहर अमलतास खिला हो/बोगेनबेलिया लहलहा रही हो/और भीतर कमरे में मई की धूप फैली हो।' (पृष्ठ-164) तात्पर्य यह है कि जिस मनोदशा से कभी गोरख पाण्डेय गुज़रे थे, उसी से अट्ठाइस साल की उम्र में कवि निशांत स्वयं को गुज़रता हुआ महसूस करते हैं, 'सचमुच यही उसके प्रेम करने की सही उम्र है/जहां उसके सपनों में लहलहा रहा हो/एक पवित्र सुर्ख लाल गुलाब/यह बहुत ही महत्वपूर्ण उम्र होती है/जहां सबसे ज़रूरी

होता है एक अनुभवी प्रेमी का अनुभव/पर अफ़सोस अपने अनुभव को सबसे श्रेष्ठ और सबसे पवित्र बताते हुए/हम ठगे जाते हैं/यहां तन हावी नहीं होता मन पर/मन बहुत ही हल्का पारदर्शी और पवित्र होता है इस उम्र में/तन की बात ही नहीं करता मन।' (पृष्ठ-159) लेकिन उनतीस साल की उम्र में जीवन में जटिलता आने लगती है, 'तेज़ और तेज़ दिमाग़ की मांग है चारों तरफ़/मध्यम दिमाग़ वालों की जगह कहीं नहीं है/एक ठीक-ठाक नौकरी का जुगाड़ करना/इस सदी की सबसे बड़ी खोज है/अस्वस्थ आदमी स्वस्थ जीवन जीता है/और अस्वस्थ नहीं हो पाने के लिए ईश्वर को कोसता है एक युवा।' (पृष्ठ-161) आज की बढ़ती हुई बेरोज़गारी के दौर में अच्छी नौकरी पाना प्रत्येक प्रतिभाशाली युवा का सपना होता है। लेकिन सभी के सपने साकार नहीं हो पाते हैं। अच्छी नौकरी न मिलने पर प्रेमिका भी प्राप्त नहीं होती है: 'नौकरी पाना प्रेम करना और आत्महत्या करना तीनों सरलतम कार्य नहीं हैं।' (पृष्ठ-162)

निशांत ने अपनी प्रेम विषयक भावनाओं के साथ-साथ प्रेमिका की भावनाओं का भी निरूपण किया है। **वह रो रही थी** में कवि कहता है, 'वह रो रही थी/उसने आज पहली बार प्रेम को महसूसा था/उसके शरीर से होते हुए/आत्मा तक में एक चीरा लगाते हुए गुज़र गया था प्रेम/जिससे टपक रहा था ताज़ा-ताज़ा खून/आज तक/उसने प्रेम के बारे में सिर्फ़ किताबों में पढ़ा था/आज इस जंगल में उसे देख/वह रो रही थी/प्रेम एक रस्सी की तरह/अचानक उसके हाथों में आ गया था/जिसे वह सांप समझकर डर गयी है/प्रेम /खूबसूरत और डरावना भी होता है।' (पृष्ठ-151) यह कविता आज के भारतीय समाज की वास्तविकता का उद्घाटन कर रही है कि कोई भी युवती अपनी मनोकामना कभी पूरी नहीं कर सकती है। यदि वह करती है तो उसे डराया-धमकाया जाता है अथवा मौत के घाट उतार दिया जाता है। ऐसी लड़की जब घर से भाग जाती है तो घर-परिवार के सामने पहाड़ जैसी मुसीबत खड़ी हो जाती है। कवि इस कविता में स्वयं पर व्यंग्य करता हुआ कहता है, 'ओह,/अब यह दो मिनट/कितना मुश्किल है/एक भागी हुई लड़की के घर बिताना/मैं अपनी शादी का आमंत्रण देता हूं/'चाचा जी, आइएगा ज़रूर'/और निकलकर भागता हूं बस अड्डे की तरफ़।' (पृष्ठ-150) और आगे कवि यह भी कहता है, 'जीवन में अपना किताबी ज्ञान कितना निरर्थक लगने लगता है/नहीं उबर पाते हैं हम पूर्वजों की आत्माओं के बोझ से/उनकी की गयी गलतियां भारी पड़ने लगती हैं हमारे वर्तमान पर/ एक लड़की का भाग जाना कलंक जैसा लगने लगता है हमें/दो मिनट उसके दरवाजे पर खड़ा रहना कितना मुश्किल लगने लगता है मुझे'(149-150)। यह संपूर्ण कविता व्यक्ति का वैचारिक अंतर्विरोध उजागर कर रही है। कहने को तो हम प्रगतिशील हैं, लेकिन वास्तविक जीवन में हमारी प्रगतिशीलता प्रतिक्रियावाद में बदल जाती है। सोचते हैं, कौन लफड़े में पड़े। इससे स्पष्ट होता है कि हमारे सोच-विचार और आचरण में ज़मीन-आसमान का अंतर है।

निशांत ने **निम्न मध्य और उच्चवर्ग** कविता में बड़ी सादगी से अंतर स्पष्ट किया है। वह कहते हैं, 'दिन में बिजली नहीं रहती/तुम एक गांव में हो/दिन में बिजली रहती है/बल्ब नहीं जलते तुम शहर में हो/दिन में बिजली रहती है/और दिन-रात बल्ब जलते हैं/तुम राजधानी में हो' (पृष्ठ-85)। कहने को तो हमारे यहां बिजली की क़िल्लत है। लेकिन बिजली का दुरुपयोग जितना महानगरों में होता है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। निशांत ने कोलकाता में रहते हुए जून की गरमी झेली है और मूसलाधार बारिश भी देखी है। **मूसलाधार बारिश में** कवि का कथन है, 'सिर से पांव तक पानी-ही-पानी/ ज़मीन से असमान तक पानी-ही-पानी/रेल से बस तक पानी-ही-पानी/मन से मन तक पानी-ही-पानी/मूसलाधार बारिश में/भीग रहा हूं मैं/यहां से वहां तक मैं ही मैं' (100-101)। और मूसलाधार बारिश के बाद कवि देखता

है, 'कमरे के चारों ओर/पानी-ही-पानी/रात का तो कुछ पता नहीं/हां, अब आकाश बहुत ही चिक्कन सा़फ़/और उजला दिख रहा है/सफ़ेद हंसों के कुछ जोड़े/उड़ा दिये गये हैं/आकाश के नीले जल में/अहा,/उड़ते हुए हंस/हिलता हुआ जल/और उसमें डूबी हुई पृथ्वी/आप भी देखिये/देखिये वहां ऊपर/इस भू पर खड़े होकर' (पृष्ठ-102)। इस कविता में निशांत का सजग इंद्रिय-बोध व्यक्त हो रहा है और उल्लास भी। प्रकृति के ऐसे मनोरम चित्र पर्यवेक्षण के आधार पर अंकित किये जाते हैं, कल्पना के आधार पर नहीं।

समाचार फेंकता हुआ लड़का में कवि ने एक ऐसे साइकिल सवार लड़के का गतिशील चित्र अंकित किया है जो घर-घर समाचार पत्र पहुंचाता हुआ अपने मार्ग पर दौड़ता हुआ चला जाता है। इस संकलन की **सिलकुटना** कविता भी उल्लेखनीय है। इसमें कवि ने ऐसे सिलकुटना व्यक्ति का चित्र अंकित किया है जो सिल कूटकर अपनी रोज़ी-रोटी कमाता है। लेकिन अब बाज़ार में मिक्सर ग्राइंडर बिकने लगे हैं। वह सिलकुटना अपनी व्यथा व्यक्त करता रहता है और कवि की मां धीरे-धीरे बड़बड़ाती है, 'वह पागल नहीं/हमारे समय का इतिहास है **इतिहास** /जीवंत इतिहास/उसे पगला नहीं कहते बेटे/नहीं कहते।' यह सुनकर वाचक आश्चर्यचकित हो जाता है। और उसके कानों में गूंजती रहती है यह आवाज़, 'सिल कुटवा ले सिल/और कहीं नहीं नज़र आता सिलकुटना।' (पृष्ठ-39) इस कविता के माध्यम से निशांत ने उस मशीनीकरण की आलोचना की है जिसके कारण मेहनतकशों के परम्परागत धंधे ठंडे पड़ गये हैं। उनका महत्त्व समाप्त हो गया है। उनकी रोज़ी-रोटी छिन गयी है। अतः वे अदृश्य हो गये हैं।

इस संकलन की कविताओं में युवा कवि के एकाकीपन की प्रमुखता भले ही हो, उसका यह एकाकीपन सामाजिक संदर्भों से जुड़कर उसके व्यक्तित्व को बहिर्मुखता भी प्रदान करता है।

सन् 2012 में निशांत का दूसरा काव्य-संकलन **जी हां, लिख रहा हूं** प्रकाश में आया। इस संकलन के प्रारंभ में नागार्जुन की कविता का अंश उद्धृत किया गया है, 'जी हां, लिख रहा हूं/बहुत कुछ, बहोत बहोत/ढेर सा लिख रहा हूं/मगर, आप उसे पढ़ नहीं पाओगे/देख नहीं सकोगे/उसे आप/जी हां, मैं लिख रहा हूं।'

अपने पूर्वज और अग्रज कवि से प्रेरणा लेकर युवा कवि निशांत भी कहते हैं, जी हां, लिख रहा हूं। अर्थात् कवि सर्जना-संलग्न है। और ऐसी सर्जना में संलग्न है जिसमें समाज की आलोचना है। ऐसी आलोचना संपादक प्रायः पसंद नहीं करते हैं। निशांत निरंतर कविताएं लिख रहे हैं। इस संकलन में उनकी पांच लंबी कविताएं संकलित हैं। लंबी कविता रचने के लिए अनिवार्य है कि कवि अनुभव-समृद्ध हो। भाव-समृद्ध हो। चिंतन-समृद्ध हो। और अभिव्यक्ति में निपुण हो। लंबी कविता के केंद्र में वास्तविक चरित्र की उपस्थिति कवि के लिए परम उपयोगी सिद्ध होती है। वह तटस्थ भाव से वास्तविक चरित्र का विकास करता है, और इस प्रकार अपने समय और समाज की वास्तविकता का उद्घाटन भी। निशांत ने पहली कविता में कोलकाता के कैनवास पर बिखरे हुए अनेक चित्र अंकित किये हैं। यथा--बैलगाड़ी, हाथ रिक्शा 1, हाथ रिक्शा 2, पाताल लोक 1, पाताल लोक 2, कलकत्ता एक जादुई नगरी है, कोलकाता, बिक्टोरिया मैमोरियल, जादू शुरू होता है, कोलकाता मेरा घर है, भोर का सपना। प्रत्येक कविता दूसरी कविता से स्वतंत्र है। स्थानीयता का सूत्र आदि से अंत तक अंतर्वस्तु को जोड़ता है। 'भोर का सपना' शीर्षक कविता में कवि ने आज की वास्तविकता की ओर संकेत किया है, '**कलकत्ते का जादू** उतर रहा है उन आंखों से/अमेरिकी सपने आने लगे हैं/अब उन आंखों में/कलकत्ते में अब कुछ नहीं रह गया है/जूट

मिल से वापस आकर/खटिया के हवाले करते हुए शरीर का बोझ/कहते हैं चाचा जी/ यह भोर का सपना है/जूट मिल की बंसी से खुलती है नींद।' (पृष्ठ-21) कोलकाता काफ़ी बदल गया है। बरसों तक वहां वामपंथी शासन रहा। लेकिन आजकल ममता बनर्जी के हाथों में राजसत्ता है। वामपंथ उनके हमले के निशाने पर है। कोलकातावासी अब सपने में अमरीका देखा करते हैं। लोगों का रुझान वामपंथ से हट रहा है। यह शुभ लक्षण नहीं है।

कबूलनामा इस संकलन की चर्चित लंबी कविता है, जो पांच भागों में विभक्त है। इस कविता में युवा मानसिकता की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में की गयी है। आजकल शिक्षित बेरोज़गार युवक जिस तनाव से गुज़र रहे हैं, उसकी अभिव्यक्ति कवि निशांत ने अपने अनुभव के आधार पर की है। यह कविता पढ़ने के बाद मुझे शहरयार की पंक्तियां याद आ रही हैं, 'सीने में जलन आंखों में तूफान सा क्यों है/इस शहर में हर शख़्स परेशान सा क्यों है/क्या कोई नयी बात नज़र आती है हममें/आईना हमें देखके हैरान सा क्यों है।'

आज के युवाओं की हैरानी और परेशानी का प्रमुख कारण आर्थिक विषमता है। योग्य से योग्य युवक और युवतियां अपनी योग्यता के अनुसार नौकरी की तलाश में रात-दिन भटकते रहते हैं। असफल होने पर उनका मन अवसादग्रस्त हो जाता है। इसके दुष्परिणाम भी सामने आते है। बहुत से युवक अपराध-जगत् की ओर चले जाते हैं। अथवा आतंकवाद उन्हें अपनी ओर खींच लेता है। निशांत कविता के प्रारंभ में ही कहते हैंः 'कभी-कभी नहीं पहचान पाता हूं अपने आप को/शीशे में मेरा चेहरा स्थिर रहता है/हिलता है डुलता है और कई चेहरे बनाता है/दरअसल वह कई मुखौटे रखता है अपने पास/मैं अपने **मैं** को लेकर संशंकित रहता हूं।' (पृष्ठ-22) आशय है कि आज का हैरान-परेशान युवा अपना स्वार्थ साधने के लिए अनेक मुखौटे अपने पास रखता है। उसे उम्मीद रहती है कि किसी मुखौटे से तो उसका स्वार्थ सिद्ध हो जायेगा। कभी-कभी सफलता प्राप्त हो जाती है। लेकिन व्यक्ति अपने चरित्र से पतित हो जाता है। इस कविता का परिवेश राजधानी दिल्ली का विश्वविद्यालय है जे.एन.यू., जिसके बारे में कवि ने लिखा है, 'सौभाग्य से बड़े भाई साहब जूट मिल में मज़दूर थे/मास्टर हिंदी का स्वनामधन्य कवि/बस फिर क्या था/मैं निकम्मे का बस्ता टांगे अपने कंधे पर/चला आया था/देश के सबसे उत्तर आधुनिक विश्वविद्यालय में/हल्ला बोल, हल्ला बोल और घर के साथ-साथ/दुनिया को एक धक्का और देने के नारे के साथ पढ़ने।' (पृष्ठ-38) देश की राजधानी दिल्ली में आकर कवि को जो वास्तविक अनुभव हुआ उसे उसने बड़ी सादगी से अपनी भाषा में व्यक्त किया है, 'एक छोटे से क़स्बे से चलकर राजधानी आ गया हूं/जान गया हूं राजधानी देती जितना ज़्यादा है/लेती उससे और भी ज़्यादा ज़्यादा है/अपने को/अभी भी शीशे में/पहचान नहीं पा रहा हूं/कबूल रहा हूं/जी हां, अपने होशो-हवास में/यह बात कबूल रहा हूं मैं' (पृष्ठ-39-40)। आजकल हमारे देश की राजधानी अपराधों की राजधानी बन गयी है। वहां प्रतिदिन कोई न कोई भीषण वारदात होती रहती है। इसलिए वहां लोग डरे और सहमे रहते हैं। शायद यही कारण है कि इस कविता में निशांत ने डरना क्रिया का प्रयोग कई बार किया हैः 'डर-डरकर कोई पढ़ता है नौकरी के लिए/डर-डरकर कोई स्वप्न देखता है बेहतर भविष्य के लिए/डर-डरकर कुछ लोग करते हैं आत्महत्या और/डर-डरकर सरकार उन्हें कह पाती है किसान छात्र युवा और क्या क्या' (पृष्ठ-30-31)। इस प्रकार आजकल राजधानी दिल्ली में डर हर व्यक्ति को डराता रहता है। ख़ासतौर से उन लोगों को जो दूसरे प्रदेशों से पढ़ने-लिखने के लिए वहां पहुंचते है। इसके अलावा नारियों के लिए तो दिल्ली बलात्कार की राजधानी बन गयी है।

अदृश्य भय की छाया वहां सर्वत्र मंडराती रहती है। इसलिए छोटे-छोटे शब्द भी बहुत बड़े-बड़े अर्थ व्यक्त करते हैं।

इस संकलन में दूसरी लंबी कविता का शीर्षक है **मैं में हम, हम में मैं**। कविता का शीर्षक पढ़कर ऐसा महसूस होता है कि कवि शब्दों से खिलवाड़ कर रहा है। लेकिन वास्तव में ऐसा है नहीं। इस कविता की अंतर्वस्तु उन युवा विद्यार्थियों से संबंधित है जो विभिन्न विभागों में रिक्त उच्च पदों पर पहुंचने के लिए कोचिंग सेन्टरों में पढ़कर तैयारी करते हैं। वे अपने-अपने रहने की व्यवस्था करते हैं। अधिकतर प्रतियोगी छात्र दिल्ली के मुखर्जीनगर में रहा करते है। वहीं उनको कोचिंग की सुविधा भी प्राप्त होती है। अकेला प्रतियोगी विद्यार्थी जब अनेक प्रतियोगी विद्यार्थियों से घुलमिल जाता है तब वह **मैं** से **हम** बन जाता है। लेकिन प्रतियोगिता के मैदान में इतनी अधिक स्पर्धा है कि प्रत्येक प्रतियोगी दूसरे प्रतियोगी से आगे निकलने की आकांक्षा करता है। प्रत्येक महत्वाकांक्षी युवक के मन में सफलता और असफलता का द्वन्द्व चलता रहता है। इस द्वन्द्व की अभिव्यक्ति करते हुए कवि कहता है, '**हम** ही नहीं, ढेर सारे **हम** काम चला रहे हैं/विकल्पहीन संस्कृति के दौर में बस बचे हुए हैं थोड़े से विकल्प/विकल्पों के अंत में/**हम** को **मैं** दिखता था/मैं को एक नौकरी दिखती थी/समाज में **क्रांति** एक **शब्द** की अहमियत लिये हुए पत्र-पत्रिकाओं में बेरोज़गारी के साथ निश्चिंतता से टहल रहा था/**हम आपात्काल** की जायज़ संतानें/हमें **क्रांति** की जगह **समझौता** और **संघर्ष** जैसे शब्दों का/झुनझुना पकड़ा दिया गया है/अब इन दो शब्दों से **हम** अपना काम चला रहे हैं/**समझौता** मतलब सिर्फ़ समझौता/संघर्ष यानी सिर्फ़ मानसिक **संघर्ष** मैं से।'(पृष्ठ-49, 50) **आपात्काल** पद इंदिरा गांधी के समय के आपात्काल का स्मरण करा रहा है। लेकिन यहां बिना आपत्काल के आपात्काल जैसी स्थिति बनी हुई है। एक अनार सौ बीमार कहावत चरितार्थ हो रही है। अर्थात् एक नौकरी के लिए असंख्य प्रत्याशी। मंत्री की सिफ़ारिश से किसी को नौकरी प्राप्त हो जाती है। अथवा कोई लाखों रुपये ख़र्च करके नौकरी खरीद लेता है। वर्तमान निजीकरण और उदारीकरण के दौर में स्वार्थ का ही बोलबाला है। अतएव कवि समाज की इस गड़बड़ी की ओर संकेत करता हुआ कहता है, 'भूख से रोता हुआ बच्चा/झुनझुना पाकर हंस रहा है/हंसने के उपकरण तो उदारीकरण के बाज़ारवाद में/बहुलता से उपलब्ध हैं/**आप** किसानों की **आत्महत्या** ख़रीदकर हंस सकते हैं/युवाओं की बेरोज़गारी/और तो और **ग़रीबी** जैसा अमूर्त शब्द ख़रीदकर हंसते हैं/कोई ख़रीद रहा है, कोई बेच रहा है/दिमाग़ से लेकर ईमान तक/उसी में धर्म की ध्वजा है/सांप्रदायिकता की आवाज़ है/जाति की राजनीति है/और सबसे ज़्यादा हमारा **मैं** है।'(पृष्ठ-54-55) बेरोज़गार नौजवान रात-दिन पिस रहा है। इसलिए ज़िंदा रहने के लिए वह कभी बड़ी-बड़ी बातें करता है, और सामूहिक रूप से प्रदर्शन करते हुए चिल्लाता है, '**लाल सलाम, लाल सलाम** और/**हल्ला बोल,हल्ला बोल** चिल्लाते हैं/दाढ़ी बढ़ाकर, बाटा की चप्पल पहनकर/जंतर-मंतर या संसद भवन घेरते हैं/लीकूपर की जीन्स पहने/गले में पेन-ड्राइव टांगे/लंबी चौड़ी शैक्षणिक डिगरियां बटोरे/सिगरेट पीते हुए/दिन में आम आदमी की तरह दिखते हैं/भीतर से बेहद डरे हुए हैं **हम**।'(पृष्ठ-57-58) यह है हमारे बेकार नौजवानों के जीवन की वास्तविकता कि वे स्वार्थ की पूर्ति के लिए भयभीत हैं। वे व्यवस्था से समझौता करने के लिए तैयार हो जाते हैं और एक ही झटके में वे भूल जाते हैं अपने पूर्वजों को। ऐसे बेरोज़गार युवकों में कोई भी नहीं है जो मुक्तिबोध की तरह जीना चाहे। अथवा गोरख पाण्डेय की तरह अथवा चंद्रशेखर की तरह। उनके अमरीका में बसने के सपने ध्वस्त हो जाते हैं और अंततोगत्वा वह छोटी सी नौकरी से समझौता कर लेते हैं। कवि समाज

में आये हुए कुछ और बदलाव की ओर भी संकेत करता है कि लड़कियों की सफलता विस्फोटक समाचार के रूप में बदल रही है: '**हम** कम नहीं हैं आपके बेटों से/इधर **हम** में से ढेर सारों की आंखों में उग आयी थी गब्बर सिंह जैसी एक हिंसक चमक/ढेर सारे लालायित हो उठे थे, उसके कुछ होने के लिए/एक ने तो कह ही दिया/यार मामला गड़बड़ा गया/नहीं तो **वह** भी हमारी **कुछ** होती आज।'(पृष्ठ-62,63)

इस कविता में कवि ने **कुछ** शब्द की व्यंजना स्पष्ट है। इस शब्द के प्रयोग से वर्तमान समाज की वास्तविकता भी उजागर होती है। पुराने कवियों में तुलसीदास ने **कुछ** शब्द का बहुत ही सार्थक प्रयोग किया है, 'तिरछे करि नैन सैन तिन्हैं समुझाय कछु मुसकाय चलीं।' इस पंक्ति में कुछ समझाने का अर्थ यह है कि सांवले रंगवाले हमारे पति हैं। लेकिन कवि निशांत से भाषा प्रयोग के संदर्भ में कुछ भूलें भी की हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने मुहावरे और लोकोक्ति में अंतर समझा ही नहीं है। लोकोक्ति को मुहावरा समझकर लिखा है, 'समय से पहले और भाग्य से अधिक/किसी को कुछ नहीं मिलता।' (पृष्ठ-60) यह लोकोक्ति प्रतिक्रियावादी विचार व्यक्त कर रही है। सामाजिक विषमता के कारण ही लोग भाग्य और भगवान पर अधिक विश्वास करते हैं।

तीसरी कविता का शीर्षक है **फिलहाल सांप कविता**, जो बाबा नागार्जुन को समर्पित है। कविता का शीर्षक बता रहा है कि कविता की अंतर्वस्तु कविता से संबंधित है और ऐसी कविता से संबंधित है जो रिझाने वाली नहीं अपितु सांप के समान डराने वाली है।

सोवियत संघ के विघटन के बाद विश्व में बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं। दुनिया एकध्रुवीय हो गयी है। अमरीकी साम्राज्यवाद की दादागीरी सर्वत्र चल रही है। उदारीकरण और निजीकरण ने व्यक्ति को लोभी और महास्वार्थी बना दिया है। अतएव हमारे सामाजिक जीवन में सबकुछ उलट-पुलट हो गया है, जिससे साहित्य भी अछूता नहीं रहा है। कला भी इससे प्रभावित हुई है। बाज़ारवाद इतना हावी है कि मांग और पूर्ति के सिद्धांत के आधार पर साहित्य की सृष्टि की जा रही है। कीर्ति-अभिलाषी युवा कवि संपादक को पटाकर अपनी कविताएं छपवाया करते हैं। लेकिन स्वाभिमानी कवि ऐसा नहीं करते हैं। निशांत ने साहित्य की वर्तमान दुर्दशा का वर्णन करते हुए कहा है, 'दुनिया के सारे कवियों का भविष्य/गद्य लेखकों के पास सुरक्षित है/साहित्य कला विहीन समाज में **एक** वही है कलावंत, जामवंत, हनुमंत/संपादक ख़ुश हैं, यह हमारा दौर है/दिल्ली कलकत्ता भेपाल बनारस लखनऊ पटना से लेकर/अमेरिका तक बज रही है हमारी डुगडुगी/डुग...डुग...डुगडुग/खलक ख़ुदा का, मुलुक जनतांत्रिक तानाशाह का, हुक्म संपादक का/डुगडुग.....डुगडुग.....डुगडुग/शंकर नाच रहे हैं/पार्वती डमरू बजा रही हैं।' (पृष्ठ-65-66)

इस कविता-संकलन की चौथी कविता का शीर्षक है **कैनवास पर कविता** जिसमें सैयद हैदर रज़ा, यामिनी राय, मंजीत बाबा, वॉनगॉग, के आर सुवन्ना, राजा रवि वर्मा, एम. एफ़. हुसैन, जोगेन्द्र चौधरी, अपर्णा कौर, एफ़.एन. सूजा, ए. रामचन्द्रन, प्राणनाथ मागो, शमशेर बहादुर सिंह, अमित कल्ला, कुमार अनुपम की पेंटिंग देखकर लिखी गयी कविताएं हैं। चित्रकला से कविता का निकट का संबंध है। चित्र को मूक कविता कहा जाता है। रंगों और रेखाओं में कविताएं छिपी रहती हैं और अनेक आकृतियां भी। निशांत की ये कविताएं उनके कवि के चित्रकला-प्रेमी-रूप का निदर्शन हैं। अपर्णा कौर की पेंटिंग देखकर कवि ने अपने भाव इस प्रकार व्यक्त किये हैं, 'कुछ पुरुष/ऊपर देख रहे थे/कुछ स्त्रियां उन्हें देख रही थीं/वे कुछ पुरुष/दिक्-काल में अर्धनारीश्वर थे/अर्धनारीश्वर हैं/अर्धनारीश्वर रहेंगे/बची रहेगी यह दुनिया/बचे रहेंगे अर्धनारीश्वर।' (पृष्ठ-103) चित्रकला में अर्धनारीश्वर की कल्पना पुरातन है। नन्दलाल

बसु ने शंकर और पार्वती को अर्धनारीश्वर के रूप में अंकित किया है। मैथिल कोकिल विद्यापति ने शंकर-पार्वती के इस रूप का चित्रण अपनी कविता में किया है, 'आध धवल तन/आधा गोरा/आध सहज कुच/आध कटोरा/आध हड़माल/आध गज मोती/आधे चानन/आध विभूती।' तात्पर्य यह है कि इस सृष्टि का रहस्य अर्धनारीश्वर रूप में ही छिपा हुआ है। अतएव स्त्री और पुरुष समकक्ष हैं। एक, दूसरे के बिना अधूरा है। दोनों मिलकर सृष्टि की रचना करते हैं।

दोनों संग्रहों के आधार पर कहा जा सकता है कि निशांत में बहुत संभावनाएं हैं। उनसे यह आशा करना अनुचित न होगा कि वे अपनी कविता के केंद्र में उत्पादक वर्गों के प्रतिनिधि व्यक्तियों को उपस्थापित करके उनके जीवन-संघर्ष का निरूपण करें, और साथ ही साथ उनके प्राकृतिक परिवेश का भी। उनका जीवन-संघर्ष ही जनशक्ति के रूप में कविता में उभरेगा। सच है कि कविता क्रांति नहीं कर सकती है। लेकिन क्रांतिकारी नायकों पर रचित कविता पाठक की मानसिकता को तो कुछ हद तक बदल ही सकती है! निशांत से यह भी उम्मीद है वे अपनी कथन-भंगिमा को और अधिक कलात्मक बनाने का प्रयास करेंगे, साथ ही, भाषागत दोषों से बचने के प्रति सजग-सचेष्ट रहेंगे।

मो. : 09897482597

अनहद का शेखर जोशी अंक

हितेश कुमार सिंह

सुप्रसिद्ध कहानीकार और संपादक मार्कंडेय के साथ एक लंबे समय तक संपादन का अनुभव ले चुके संतोष कुमार चतुर्वेदी वर्ष 2011 में *अनहद* नामक नयी पत्रिका लेकर सामने आये। तब से लेकर गुज़रे चार सालों में *अनहद* के कुल जमा चार अंक ही आये हैं, लेकिन चार अंकों के दम पर ही वह हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता में अपनी वह मुकम्मिल जगह और पहचान बना चुकी है। पत्रिका का जनवरी 2014 का अंक विख्यात कहानीकार और नयी कहानी आंदोलन के हस्ताक्षर शेखर जोशी पर केंद्रित है। विदित हो कि पिछले वर्ष ही शेखर जी ने चुपचाप अपने जीवन के अस्सी वर्ष पूरे कर लिये, लेकिन साहित्य जगत में एक चुप्पी छायी रही। संतोष चतुर्वेदी ने *अनहद* के मार्फ़त सफलतापूर्वक यह चुप्पी तोड़ी है और शेखर जी को विशेषांक का यह तोहफ़ा बिल्कुल उचित समय पर पेश किया है।

अनहद का यह 'शेखर जोशी अंक' शेखर जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व, दोनों पहलुओं को क़रीने से उद्घाटित करता है। शेखर जी पर यह अंक क्यों? इसे स्पष्ट करते हुए संतोष अपनी संपादकीय में कहते हैं—'एक तरफ़ जहां आज नया से नया लेखक भी किसी पत्रिका का विशेषांक अपने ऊपर निकलवाने की होड़ में लग जाता है, वहीं शेखर जी में नकार का वह साहस भी है जो लुप्तप्राय हो चला है। वस्तुतः नकार का साहस ही साहित्य की रीढ़ है। इसी के दम पर तो वह उस सत्ता से टकराने का भी साहस रखता है जिसके पक्ष में सब कुछ है।' इसे विडंबना नहीं तो और क्या कहा जाय कि 'दाज्यू', 'कोसी का घटवार', 'नौरंगी बीमार है' और 'बदबू' जैसी कालजयी कहानियां लिखने वाले शेखर जोशी महारथी संपादकों की नज़रों से अनायास या सायास लगातार ओझल रहे। इस क्रम में *अनहद* का यह आयोजन पहला होते हुए भी अनूठा, विशिष्ट और ऐतिहासिक बन पड़ा है।

प्रख्यात कहानीकार सतीश जमाली के संस्मरण 'हमारे शेखर भाई' से इस अंक की शुरुआत होती है जिसमें वे नाजरेथ अस्पताल में भर्ती अपनी पत्नी के संदर्भ में एक दुर्लभ घटना की चर्चा करते हैं। शेखर जी उनकी पत्नी का हाल-चाल लेने अस्पताल गये थे। पांच-छः लोग तथा एक-दो रिश्तेदार पहले से ही कमरे में थे। सतीश जी की सहायता के लिए सबके सामने ब्लैंक चेक न दे कर, वह उन्हें एकांत में नीचे ले जाते हैं और अपनी मुफ़लिसी के बावजूद उन्हें ब्लैंक चेक देने का भरपूर प्रयास करते हैं, जिसे सतीश जमाली अस्वीकार कर देते हैं। यह वृत्तांत ही शेखर जी के व्यक्तित्व की उंचाईयों को बताने के लिए पर्याप्त है। संस्मरण के क्रम में ही युवा कहानीकार भालचंद्र जोशी शेखर जी की संगत में गुज़ारे अपने एक दिन को शिद्दत से याद करते हैं। वहीं 'घर की बात' कॉलम के अंतर्गत शेखर जी के ज्येष्ठ

पुत्र प्रतुल जोशी ने 'यादें लूकरगंज की' आलेख में इलाहाबाद के अपने पुराने दिनों को डूब कर याद किया है।

शेखर जी का इकलौता कविता संग्रह है—*न रोको उन्हें शुभा*। आलोचक-द्वय प्रणय कृष्ण और अमीर चंद वैश्य ने इस संग्रह की पड़ताल गहराई के साथ की है। शेखर जी के कवि व्यक्तित्व को रेखांकित करते हुए प्रणय कृष्ण ने बिल्कुल सही कहा है कि 'एक बड़ा कहानीकार अस्सी वर्ष का जीवन जी लेने के बाद यदि कविताएं लिखता है तो कहीं न कहीं यह बात अवश्य है कि अपने पूरे जीवन काल में वह कुछ ऐसी बातों को कहने से रह गया या अपनी कहानी में नहीं कह सका जिसको वह कहना चाहता था।'

'समालोचन' *अनहद* का सर्वाधिक विशिष्ट कॉलम पहले से रहता आया है। इस अंक में भी यह खण्ड अत्यंत समृद्ध बन पड़ा है। इसके अंतर्गत वरिष्ठ कहानीकार नीलकांत जी ने शेखर जी के कहानी संग्रह *मेरा पहाड़* में दिखायी दे रहे पहाड़ और मैदान के द्वंद को 'दाज्यू' और 'कोसी का घटवार' कहानियों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। वरिष्ठ आलोचक चंचल चौहान अपने आलेख में सुदूर पहाड़ी इलाक़ों के गांवों, कस्बों, खेतों-खलिहानों, जंगलों-नदियों और उन इलाक़ों के इंसानों, पशु-पक्षियों, वहां की सामाजिक विषमताओं, मान्यताओं और अंधविश्वासों के कहानी में अंकन को शेखर जी की कहानियों की विशिष्टता मानते हैं। साथ ही, वे भारत के विभिन्न हिस्सों के महानगरीय यथार्थ और वहां के कल-कारख़ानों एवं कार्यालयों में काम करने वालों की समस्याओं और दुविधाओं को उनकी कहानी में महसूस करते हैं। वे शेखर जी की कहानी 'कोसी के घटवार' को गुलेरी जी की 'उसने कहा था' और रेणु की 'तीसरी क़सम' की तरह ही एक कालजयी रचना मानते हैं। स्वयं प्रकाश अपने आलेख में शेखर जी को एक अतुलनीय कहानीकार मानते हुए लिखते हैं—'हिंदी या विदेशी भाषाओं में ऐसा कोई कहानीकार है ही नहीं जिससे उनकी तुलना की जा सके।' स्वयं प्रकाश जी की यह बात थोड़ी अतिशयोक्तिपूर्ण लगती है। स्वयं प्रकाश जी को संपूर्ण हिंदी साहित्य में तुलना के लिए कोई रचनाकार दिखायी पड़ता है तो वे नरेश सक्सेना हैं। नरेश जी हिंदी के विशिष्ट कवि हैं, इसमें कोई संशय नहीं। फिर भी इस बात से सहमत हो पाना मुश्किल है। अपने आलेख में स्वयं प्रकाश जी ने भी 'कोसी के घटवार' कहानी को हिंदी की श्रेष्ठ तीन कहानियों में शामिल किया है। इस क्रम में आने वाली अन्य कहानियां हैं—गुलेरी जी की 'उसने कहा था', शैलेश मटियानी की 'अद्‌र्धांगिनी' और रांगेय राघव की 'गदल'।

आलोचक सूरज पालीवाल ने अपने आलेख 'अनुभव की चटख आग में पकती कहानियां' में शेखर जी को ऐसा कहानीकार माना है जिसकी प्रतिभा और क्षमता को लगातार अनदेखा किया गया। उनके शब्दों में—'शेखर जोशी अकेले ऐसे कहानीकार हैं जिनकी कहानियों में पहाड़ों की सुंदरता के पीछे छुपी ग़रीबी, बेरोज़गारी तथा जातिगत रूढ़ियों के अनेक स्वर दिखायी देते हैं। वह बहुत शांत एवं मितभाषी कहानीकार हैं, इसलिए बड़ी समस्याओं को निरूपित करते हुए भी उन जुमलों का इस्तेमाल नहीं करते जिन्हें प्रतिबद्धता और जन-सरोकारों के नाम पर अक्सर भुनाया जाता है।' शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार', 'हलवाहा', 'समर्पण', 'दाज्यू', 'नौरंगी बीमार है' इत्यादि कहानियों की विवेचना बड़े ही सारगर्भित एवं सहज ढंग से करने में सफल रहे हैं।

आलोचक चंद्रकला त्रिपाठी एवं श्रीराम त्रिपाठी द्वारा अपने आलेखों में शेखर जी की कहानियों पर की गयी टिप्पणियां महत्वपूर्ण हैं। उपर्युक्त दोनों आलोचकों ने दाज्यू, बदबू, कोसी का घटवार, नौरंगी

बीमार है, मेंटल इत्यादि कहानियों पर लिखा है। श्रीराम त्रिपाठी अपने आलेख में तहकीक़ात करते हुए लिखते हैं कि शेखर जोशी ने उन मज़दूरों-कारीगरों के दोषों को बहुत पहले ही देख लिया था जिनसे तत्कालीन प्रगतिशील विद्वान् क्रांति की आस लगाये बैठे थे। ऐसे मज़दूरों से भला कोई क्रांति हुई है जो होती! शेखर जोशी क्रमशः दूषित होते मज़दूर को कोई नाम नहीं दे पाये थे। इससे तो यही लगता है कि वह प्रवृत्ति अभी पर्याप्त रूप से स्पष्ट नहीं हुई थी, जो आगे चल कर 'नौरंगी बीमार है' में पूर्णतया स्पष्ट हो गयी। तभी तो वे उसका नाम दे सके। क्या 'नौरंगी' जैसे कारीगरों से क्रांति की उम्मीद की जा सकती है? चर्चित कवि हरीश चंद्र पाण्डे शेखर जी के संपूर्ण कृतित्व का वर्णन करते हुए उनके साहित्यिक योगदान को चिह्नित करते हैं। वे शेखर जोशी के कथा-संसार को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित करते हैं। एक, पर्वतीय पृष्ठभूमि की कहानियां; दूसरी, औद्योगिक पृष्ठभूमि की कहानियां। पहले में जन्मभूमि की कहानियां हैं जबकि दूसरे में कर्मभूमि की। हरीश जी शेखर जोशी की कहानियों को बेहतर ढंग से समझ पाये हैं, उसके पीछे यही कारण है कि वे भी पहाड़ी मूल के हैं, साथ ही शेखर जी के अंतरंग भी। इसीलिए वे शेखर जी के कृतित्व में ही उनके व्यक्तित्व को देखते हैं।

'नाटक, सिनेमा और शेखर जोशी की कहानियां' कॉलम के अंतर्गत मशहूर रंगकर्मी अनिल रंजन भौमिक ने शेखर जोशी की 'दाज्यू', 'नौरंगी बीमार है' और 'कोसी का घटवार' कहानी को मंच की दृष्टि से अच्छी कहानी माना है। भौमिक जी के अनुसार, उपर्युक्त कहानियों में शिल्प और संवेदना के अंतर्संबंधों की सुरम्य रचना के साथ जीवन और समाज के सहज उन्नयन एवं परिवर्तनकारी दृष्टि के प्रति दायित्वबोध साफ़ दिखायी देता है। राजीव कटियार, जो कोलकाता दूरदर्शन के फ़िल्म प्रभाग से जुड़े हैं, ने अपने आलेख में सिनेमा और साहित्य के अंतर्संबंधों की बात शेखर जोशी और मणि कौल के बीच हुए पत्राचार के हवाले से की है। इसी आलेख में मणि कौल द्वारा 1973 में शेखर जी को लिखा गया पत्र, जिसमें शेखर जी की कहानियों की रंगमंचीय महत्ता पर बात की गयी है, पत्रिका की एक उपलब्धि कही जा सकती है।

रोहिणी अग्रवाल अपने आलेख में 'कोसी का घटवार' में उपस्थित प्रेम को जहां अज्ञेय की कहानी 'पठार का धीरज' तथा मधु कांकरिया की कहानी 'चिड़िया ऐसे मरती है' से जोड़ती हुई विश्लेषण करती हैं और निष्कर्ष निकालती हैं कि 'स्त्री न होते हुए भी शेखर जोशी स्त्री-मानस को बखूबी पढ़ लेते हैं जबकि स्त्री होने के बावजूद मधु कांकरिया स्त्री मन के अंदेशों, द्वंद्वों, आशंकाओं और भीतर की सिहरनों को कहानी में कहीं भी व्यक्त नहीं कर पातीं।' युवा कहानीकार अल्पना मिश्र उनकी कहानियों को किसी भी बड़बोलेपन से दूर बताती हैं। युवा कथाकार कैलाश बनवासी, राकेश बिहारी एवं दिनेश कर्नाटक ने शेखर जी की कहानियों को अपनी-अपनी कसौटी पर कसा है और शेखर जी की कहानियां इन कहानीकारों की कसौटियों पर खरी उतरती दिखती हैं। युवा आलोचक संजीव कुमार जहां शेखर जी की कहानियों के पात्रों को केंद्र में रख कर उनकी कहानियों के मर्म को जानने का प्रयास करते हैं, वहीं प्रियम अंकित उन्हें 'विस्थापित के स्थापन' का कहानीकार बताते हैं। वैभव सिंह उनकी तीन कहानियों—'समर्पण', 'हलवाहा', 'गलता लोहा' को सामने रख कर गांव, जाति और जनजीवन के विषय में विचार करते हैं, तो पल्लव 'कोसी के घटवार' को संवेदना से परिपूर्ण बताते हैं।

युवा आलोचकों में अपना अलग स्वर रखने वाले संजीव कुमार ने शेखर जोशी के स्वाभिमानी पात्रों का गहराई तक जा कर विश्लेषण किया है। कहना न होगा कि स्वयं कथाकार शेखर जोशी एक

स्वाभिमानी लेखक रहे हैं और एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जब उन्होंने अपने इंसान या लेखक को ताक़ पर रख कर कोई काम किया हो। उनके व्यक्तित्व की यह खूबी उनके पात्रों में भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। युवा कवि शिरीष कुमार मौर्य शेखर जोशी के शब्दचित्रों एवं रिपोर्ताजों को अपने पुरखों के अतीत से जोड़ते हैं। अशोक कुमार पाण्डेय ने शेखर जोशी के कथा-संग्रह *आदमी का डर* पर अपनी टिप्पणी में विस्थापन के दर्द को जिस तरह सपनों में तब्दील किया है, वह एक अच्छा संदर्भ है, हालांकि इसे और बेहतर ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता था। नीलकमल द्वारा 'कोसी के घटवार' कहानी पर आलेख के क्रम में लिखी गयी कविता महत्वपूर्ण बन पड़ी है। बलभद्र ने शेखर जी का मूल्यांकन करते हुए लिखा है—'शेखर जी प्रथमतः और अंततः जनवादी चेतना के कथाकार हैं। इनकी कहानियां जनवाद और जनवादी चेतना और सरोकार और जनवादी सौंदर्य बोध के फलक पर रची गयी हैं।' इन लेखकों के अतिरिक्त पंकज पराशर, रामजी तिवारी, रमाकांत राय जैसे युवा आलोचकों ने भी शेखर जी की कहानियों के विभिन्न पहलुओं पर अपनी लेखनी चलायी है।

'नयी कहानी आंदोलन और शेखर जोशी' स्तंभ के अंतर्गत सरजू प्रसाद मिश्र एवं नलिन रंजन सिंह ने नयी कहानी आंदोलन की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए एक कहानीकार के रूप में शेखर जी के योगदान पर प्रकाश डाला है। महेश चंद्र पुनेठा अपने खुले पत्र में शेखर जी को आज के उत्तराखंड की स्थिति बताते हैं। शेखर जी की कहानियों पर टीप लिखी है राजेश जोशी, योगेंद्र आहूजा और बिमलेश त्रिपाठी ने। *अनहद* के इस अंक का महत्वपूर्ण खण्ड 'पत्र-संवाद' का है जिसके अंतर्गत नागार्जुन, कमलेश्वर, दुष्यंत, भैरव प्रसाद गुप्त, अमरकांत, मार्कंडेय, राजेंद्र यादव, मनोहर श्याम जोशी जैसे दिग्गजों द्वारा शेखर जी के नाम लिखे गये पत्र दिये गये हैं। 'चित्र-वीथिका' में शेखर जी के जीवन से जुड़े दुर्लभ चित्रों ने इस अंक की गरिमा बढ़ा दी है।

कुल मिला कर *अनहद* का यह अंक विशिष्ट और संग्रहणीय बन पड़ा है। हिंदी साहित्य और कहानी से जुड़े लोगों के लिए विशेष तौर पर यह महत्वपूर्ण है।

मो. : 09452790210

स्मृति-शेष

बिपन चन्द्र होने के मायने

आलोक बाजपेयी

प्रोफ़ेसर बिपन चन्द्र (1928-2014) एक संस्था थे। भारत के मार्क्सवादी इतिहासकारों की शृंखला में आधुनिक भारत के सबसे महत्वपूर्ण स्तंभों में से एक। आधुनिक भारत की एक मुकम्मल तस्वीर उन्होंने गहन शोधों और मार्क्सवादी अंतर्दृष्टियों के आधार पर अपनी किताबों और शोध-पत्रों के माध्यम से बनायी और उसे बतौर एक अकेडमिक ऐक्टिविस्ट फैलाया भी। भारतीय राष्ट्रवाद का स्वरूप, उपनिवेशवाद, भारत में सांप्रदायिकता, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन, आज़ादी के बाद के भारत का लेखा-जोखा, सामयिक आसन्न ख़तरे, भारत में मार्क्सवाद की उपलब्धियां व महत्व तथा भारतीय मार्क्सवाद के समक्ष चुनौतियां, महात्मा गांधी व जवाहर लाल नेहरू का ऐतिहासिक मूल्यांकन जैसे कई विषयों पर उन्होंने आधिकारिक ढंग से, मूलभूत मार्क्सवादी अंतर्दृष्टि 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' के आधार पर, लेखन किया। कह सकते हैं कि प्रो. बिपन चन्द्र को पढ़े-समझे बिना आज के हिंदुस्तान को समझना शायद ही संभव है।

व्यक्ति के रूप में देखें तो वे व्यापक अर्थ में उन श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों और संवेदनाओं के वाहक थे जो मानव सभ्यता की अटूट धरोहर हैं। मनुष्यत्व, करुणा और प्रेममय व्यक्तित्व के धनी, आडंबरविहीन, सहज, नीर-क्षीर-विवेक संपन्न, ऊंच-नीच या किसी भी तरह के भेदभाव से परे। वे जिससे भी, जब भी मिलते, वह उनका अपना हो जाता। अहं उन्हें छू तक न गया था। कभी किसी को यह आभास तक न होने देते कि वे वही 'प्रोफ़ेसर बिपन चन्द्र' हैं, जिनका नाम ही काफ़ी है किसी को बौद्धिक रूप से आतंकित करने के लिए। अपने इसी अनूठे व्यक्तित्व के कारण उनको चाहने वालों, मानने वालों, उनका अनुसरण करने वालों की एक फ़ौज बनती चली गयी, जिसे व्यापक संदर्भ में 'बिपन चन्द्र स्कूल' के नाम से जाना जाता है।

इसका यह मतलब नहीं कि आधुनिक भारत के इतिहास से संबंधित बिपन की अवधारणाओं को चुनौती न मिली हो, या कि उनके आलोचकों की कभी कमी रही हो। वस्तुतः बौद्धिक दुनिया में निर्विवाद होने जैसी कोई स्थिति नहीं होती। बिपन भी इसके अपवाद न थे। लेकिन उनके आलोचक भी कभी व्यक्तिगत स्तर पर उन्हें कमतर साबित करने में नहीं लगे, क्योंकि वे जानते थे कि प्रो. बिपन चन्द्र और कुछ भी हों, एक सच्चे और ईमानदार इंसान और प्रखर मेधा संपन्न इतिहासकार अवश्य हैं। पूरे देश में शिक्षित वर्ग, बुद्धिजीवियों और समाज को बेहतरी की दिशा में ले जाने की सोच रखने वाले लोगों में जो दुख बिपन के न रहने से दिखा, वह इस बात का प्रमाण है।

बिपन एक शिक्षक के रूप में साठ वर्षों से ज़्यादा रहे। हज़ारों छात्रों ने उनसे शिक्षा पायी। उनका

एक अध्यापक के रूप में अपने छात्रों के साथ जो बर्ताव था, वह आज के समय में एक अचरज-सा लगता है। उनका अपने छात्रों के साथ हमेशा दोस्ताना रिश्ता रहा। यह इससे ही ज़ाहिर है कि वे अपने छात्रों को लगभग बाध्य करते थे कि उन्हें 'सर' या अन्य उपाधियों से न नवाजें बल्कि नाम लेकर पुकारें। वे छात्रों के बीच स्वयं को भी एक छात्र मानकर घुलते-मिलते थे, अपने छात्रों को निर्भीक बनाते थे, उन्हें सहज रूप से अपना दिमाग बोलने को प्रेरित करते थे और उन्हें अपने विचारों के प्रति भी आलोचनात्मक दृष्टिकोण से सोचना सिखाते थे। गांधी की तरह उनका भी मानना था कि उन्हीं विचारों को सही मानो, जो आपको अपनी सोच अनुसार सही लगे। इसके अलावा उनका छात्रों से रिश्ता पूरा अनौपचारिक था। वह ऐसे शिक्षक नहीं थे जो केवल क्लास-रूम से ही मतलब रखते हों। छात्रों का जीवन प्रायः कठिन होता है। उन्हें बहुत सी परेशानियों का सामना करना पड़ता है। कुछ परेशानियां छात्र अपनी उम्र के कारण स्वयं भी पैदा कर लेते हैं। बिपन को छात्र की हर समस्या से मतलब था और किसी भी समस्या से अपने छात्र को बाहर निकालने के लिए तत्पर रहते थे। बस शर्त यह थी कि उन्हें उस छात्र में कोई एक भी गुण दिख भर जाये। प्रायः हम देखते हैं कि विश्वविद्यालयी शैक्षिक माहौल सारी बौद्धिकताओं के बावजूद सामंती मूल्यों को बहुत तवज्जो देता है। शिक्षक इसी उम्मीद में रहते हैं कि उनका छात्र उनके झण्डे को स्वीकार करे और एक तरह से उनकी हां में हां मिलाये। बिपन इसके अपवाद थे। छात्रों से बराबरी के स्तर पर मिलना, उनकी बातों को (चाहे वो कितनी भी बेवकूफी भरी क्यों न हों) पूरे ध्यान से सुनना और छात्र के साथ तादात्म्य स्थापित कर उसमें सुधार (विचारधारा के स्तर पर और व्यक्तिगत जीवन में भी) करने की कोशिश करना उनकी ख़ास शैली थी। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि वे कोई 'उदार' टाइप के शिक्षक थे। वे अपने छात्रों से शोध कार्यों में उसी मानक की उम्मीद करते थे जो उन्होंने अपने लिए बनाये थे। **किसी भी विषय पर कलम चलाने से पहले सारे पूर्व लेखनों का अध्ययन और उनका आत्मसातीकरण, सारे प्रारंभिक स्रोतों का अवलोकन और इस गहन द्वंद्वात्मक प्रक्रिया के दौरान ही अपनी मौलिक अवधारणाओं का निरूपण तथा उन अवधारणाओं को लगातार सत्य और तटस्थता की कसौटी पर आजमाते रहना और अपने हृदय के भीतर सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना से संचालित होना--यह थी उनकी शोध प्रक्रिया, जिससे उनके छात्र को गुज़रना ही पड़ता।** भाषाई आडंबरों, जार्गन या अस्पष्ट, घालमेल वाले लेखन से उनका कोई वास्ता नहीं था। उन्होंने छात्रों को सतत अंतःसंघर्ष (जो किसी भी बुद्धिजीवी के लिए अनिवार्य है) के लिए भी प्रेरित किया। ख़ास बात यह है कि उनका स्वयं का व्यक्तित्व एक शिक्षक के रूप में इतना बहुआयामी था कि वे अपनी पैनी नज़र से छात्र की क्षमता और रुचि को पहचान लेते और उसी के अनुरूप उसे सलाहें देते, ताकि छात्र मौलिक योगदान कर सके। उनका स्पष्ट मानना था कि मौलिक लेखन और चिंतन के लिए यह अनिवार्य है कि व्यक्ति अपनी सोच में कहीं से भी बनतू न हो।

इसी संदर्भ में बिपन के अपने लेखन की ऊंचाइयों को भी समझा जा सकता है। जब उन्होंने अपना सबसे शुरुआती शोध कार्य शुरू किया तो उसका विषय आरंभिक राष्ट्रवादियों (दादाभाई नौरोजी, रानाडे आदि) के विचारों को भारतीय राष्ट्रवाद के संदर्भ में जांचना-परखना था। बिपन की शुरुआती सोच वही थी जो रजनी पामदत्त की थी, कि आरंभिक राष्ट्रवादी अंग्रेज़ी शासन के समर्थन में खड़े याचिकाकर्ता मात्र थे। बिपन ने बताया कि जैसे-जैसे मैंने आरंभिक राष्ट्रवादियों को पढ़ना शुरू किया, वैसे-वैसे मेरी आंखें खुलती गयीं और मैंने अपने ही ख़िलाफ़ सोचना शुरू कर दिया। उनका यह शोध कार्य जब दुनिया के

सामने आया तो उसने भारतीय राष्ट्रवाद के आधार को समझने के लिए एक बुनियादी ढांचा तैयार कर दिया। यानी उनकी किताब *राइज़ एण्ड ग्रोथ ऑफ़ इकोनॉमिक नेशनलिज़्म इन इंडिया* जहां एक ओर विश्व स्तरीय मौलिक शोध कार्य का नतीजा थी, वहीं दूसरी ओर उनके स्वयं के विरुद्ध आत्मसंघर्ष कर सकने की क्षमता की भी द्योतक। बिपन ने दुनिया को दिखाया कि दादाभाई नौरोजी आदि आरंभिक राष्ट्रवादी विश्व फलक पर पहले बुद्धिजीवी थे जिन्होंने उपनिवेशवाद के वास्तविक चेहरे को पहचाना, समझा और वैज्ञानिक तर्कवादी नज़रिये से उसका विवेचन भी किया। बिपन ने बताया कि जब उनकी यह किताब पूरी हो गयी तो वे पत्नी के सामने फूट-फूट कर रोने लगे। पत्नी समझीं कि वे किताब पूरी होने की ख़ुशी में रो रहे हैं, लेकिन बिपन ने जवाब दिया कि मैं इसलिए रो रहा हूं कि अब यह किताब पूरी होने के बाद मेरा उन महान राष्ट्रवादियों से साथ छूट जायेगा जिनसे मेरी गहरी दोस्ती हो गयी थी। यह थे बिपन।

इतिहास मात्र एक कोरा विषय नहीं है जो किसी विशुद्ध ज्ञान की बुनियाद पर लिखा जाता हो। हर इतिहास किन्हीं न किन्हीं अर्थों में सामयिक व राजनीतिक भी होता है। लंबे ब्रिटिश शासन के दौरान जो उपनिवेशवादी व्यवस्था भारत में क़ायम हुई, उसे सही साबित करने के लिए एक ख़ास तरह के साम्राज्यवादी लेखन का सहारा आज़ादी के पहले ब्रिटिश शासकों ने लिया और बाद में भी साम्राज्यवादी इतिहास लेखन अपने प्रभाव के रूप में क़ायम रहा, जो हाल के वर्षों में पुनः जीवित हुआ है। बिपन चन्द्र ने 60 और 70 के दशक में उस साम्राज्यवादी इतिहास लेखन (जो बिपन की तुलना में तमाम संसाधनों से लैस था) से लोहा लिया और विश्व स्तरीय शोध कार्य करके यह साबित कर दिया कि उपनिवेशवाद हमेशा बुरा ही होता है। 'अंग्रेज़ी शासन की देन' जैसी कोई सकारात्मक चीज़ कभी नहीं रही और उपनिवेशवाद उस देश के लिए बर्बादी ही लाता है जो उसके चंगुल में फंस जाता है। उन्होंने साम्राज्यवादी इतिहास लेखन के धुरंधरों—अनिल सील, गलाघर, मॉरिस डी. मॉरिस जैसों—से सघन वैचारिक युद्ध किये और उन्हें निरुत्तर कर उनकी मान्यताओं के खोखलेपन को बौद्धिक जगत में उजागर किया। उनकी यह बौद्धिक जंग हमारे सामने *नेशनलिज़्म एण्ड कोलोनियलिज़्म इन मॉडर्न इंडिया* और *एस्सेज़ आन कोलोनियलिज़्म* जैसी क्लासिक रचनाओं के रूप में है।

दरअसल, भारत में इतिहास लेखन की एक समृद्ध परंपरा आज़ादी की लड़ाई के दौरान ही विकसित हो गयी थी। आज़ादी के बाद यह मशाल उन प्रखर मेधा संपन्न उत्साही इतिहासकारों के हाथ में आयी जो कि एक ओर शोध उत्कृष्टता और गहन अध्ययनशीलता की मूलभूत चेतना से संपन्न थे, वहीं दूसरी ओर सामाजिक उत्तरदायित्व और भारतीय समाज को एक बेहतर समाज बनाने के संकल्प से भी संचालित थे। प्रो. डी.डी. कौशांबी के बाद आर.एस. शर्मा, रोमिला थापर (प्राचीन भारत), इरफान हबीब (मध्यकालीन भारत) और बिपन चन्द्र (आधुनिक भारत) ने सामूहिक रूप से यह ठाना कि हमें भारतीय इतिहास को न केवल औपनिवेशिक वर्चस्ववाद से मुक्त करना है बल्कि भारतीय समाज के भीतर मौजूद कमज़ोरियों और नकारात्मक प्रवृत्तियों की भी ऐतिहासिक पड़ताल करनी है। इसी क्रम में बिपन 50-60 के दशकों में ही इस नतीजे पर पहुंच गये कि सांप्रदायिकता भारतीय समाज को खोखला करने वाली एक राजनीतिक विचारधारा है, जिसकी जड़ें इतिहास के प्रति कुछ धार्मिक पूर्वाग्रहों और ग़लतफ़हमियों में हैं। उन्होंने समझा कि सांप्रदायिकता का मूल आधार सांप्रदायिक इतिहास लेखन है। इसी क्रम में उन्होंने लेखकत्रयी पुस्तिका *कम्युनलिज़्म एण्ड राइटिंग ऑफ़ इंडियन हिस्ट्री* में आधुनिक भारत के इतिहास लेखन

में सांप्रदायिक पूर्वाग्रहों को रेखांकित किया। सांप्रदायिकता के मुद्दे पर वह लगातार सोचते और शोध करते रहे, जो बाद में उनकी किताब *कम्युनलिज़्म इन मॉडर्न इंडिया* के रूप में सामने आया। भारत में सांप्रदायिकता को समझने के लिए यह किताब एक मील का पत्थर है और इस विषय पर लिखी शायद सबसे महत्वपूर्ण विचारधारात्मक किताब भी। बाद में जब आज से 10 साल पहले उनकी आंखें ख़राब हो रही थीं और लिखना-पढ़ना कठिन होता जा रहा था, तब भी उन्होंने 2004 के चुनाव को भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण बिंदु मानते हुए पुनः सांप्रदायिकता की समस्या को रेखांकित किया और आम जनता को ध्यान में रखते हुए एक पुस्तिका लिखी, *कम्युनलिज़्म ए प्राइमर*। बताते हैं कि बिपन ने इस पुस्तिका को बढ़ती उम्र और शुरू होती शारीरिक परेशानियों के बाद भी सड़कों पर 20 रुपए में बेचा। यह थे बिपन।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन था क्या? बिपन से पहले राष्ट्रवादी इतिहासकार भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को सर्वथा अतिरंजित, महिमामंडित करने की दृष्टि से लिखते थे। वहीं दूसरी ओर परंपरागत वामपंथी इतिहास लेखन रजनी पामदत्त की समझ को आगे विस्तारित करने या अतिक्रमित करने से झिझकता था। वे राष्ट्रीय आंदोलन को एक सकारात्मक क़दम तो मानते थे, लेकिन वर्गीय विश्लेषण को यांत्रिक तरीक़े से लागू कर आंदोलन की सीमाओं को अधिक रेखांकित करते हुए उसे विश्व की अन्य महान क्रांतियों के समकक्ष रखने में झिझकते भी थे। बिपन भारत में ही नहीं बल्कि दुनिया में पहले इतिहासकार हुए जिन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का विश्लेषण एक नये अंदाज़ में किया और पाया कि इसका लगभग वही महत्व है जो संसार की अन्य महान क्रांतियों का है। उन्होंने सिद्ध किया कि हमें एक जागरूक नागरिक होने के नाते अपनी राष्ट्रीय आंदोलन की ऐतिहासिक विरासत को न केवल जानने बल्कि आत्मसात करने की भी आवश्यकता है। इस क्रम में उनकी कालजयी किताब *इंडियाज़ स्ट्रगल फ़ॉर इंडिपेंडेंस* सामने आयी। यहां यह जानना ज़रूरी है कि उन्होंने इस किताब को केवल पुस्तकालयों में उपलब्ध शोध सामग्रियों के आधार पर ही नहीं लिखा बल्कि पूरे देश में घूम-घूम कर हज़ारों स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों के अनुभव साक्षात्कार के रूप में इकट्ठे किये और उनके अनुभवों को अपने इतिहास लेखन का मुख्य आधार बनाया। बाद में जब उन्होंने देखा कि लोगों में आज़ादी के बाद के भारत के बनने की तस्वीर की समझ लगभग नगण्य है तो फिर एक दूसरी बुनियादी पथप्रदर्शक किताब सामने आयी। वह थी *इंडिया आफ़्टर इंडिपेंडेंस*। यह किताब उनकी आज़ादी की लड़ाई की किताब की शृंखला में ही है और अत्यंत लोकप्रिय है। इस तरह से हम कह सकते हैं कि उन्होंने 1850 से लेकर आज तक के हिंदुस्तान की एक मुकम्मल तस्वीर देश और दुनिया के सामने रखी, जो कि एक ओर तो औपनिवेशिक बौद्धिक बंधनों से मुक्त है, वहीं दूसरी ओर भारतीय समाज की नकारात्मक प्रवृत्तियों के प्रति लगातार आगाह भी करती चलती है।

एक लोकतांत्रिक समाज में जन आंदोलनों की भूमिका क्या है? यह एक महत्वपूर्ण बौद्धिक सवाल है जिसका उत्तर तलाशने के लिए बिपन ने स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति के सबसे विवादास्पद समय, आपातकाल को अपने अध्ययन का बिंदु बनाया और गहन आत्ममंथन एवं इतिहासपरक समझ के आधार पर एक किताब और लिखी, *इन दि नेम ऑफ़ डेमोक्रेसी : जेपी मूवमेन्ट एण्ड इमर्जेन्सी*। बिपन पर आपातकाल के दौरान और बाद में भी यह मनगढ़ंत आरोप लगाया गया कि वे इमर्जेन्सी के समर्थक थे। इस किताब के माध्यम से उन्होंने यह आरोप ख़ारिज किया और बताने की कोशिश की कि जयप्रकाश

नारायण की राजनीतिक समझ, एक व्यक्ति के रूप में उनकी सारी महानताओं के बावजूद, ग़लत, भ्रमपूर्ण और अदूरदर्शी थी। वहीं इंदिरा गांधी द्वारा जेपी आंदोलन को रोकने के लिए जो क़दम उठाये गये, वे भी ग़लत थे। साथ ही, उन्होंने उस ख़तरे को भी भांप लिया जिसके कारण सांप्रदायिक राजनीति भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में फिर से इज़्ज़तदार ओहदा पाने की ओर बढ़ी और इसका बहुत बड़ा कारण जेपी के द्वारा सांप्रदायिकों को अपने आंदोलन में शामिल कर खुली छूट देना था।

बिपन इतिहास को केवल इतिहासकारों के मध्य होने वाली बौद्धिक बहसों तक सीमित नहीं मानते थे। उनकी स्पष्ट सोच थी कि यदि किसी देश की जनता की इतिहास संबंधी समझ अविवेकपूर्ण है तो उसकी राजनीति भी भटकाव वाली होगी। इसीलिए एक इतिहासकार को व्यापक अर्थों में आसान भाषा में न केवल विशाल जनसमुदाय को ध्यान में रखकर लिखना चाहिए बल्कि उससे भी आगे जाकर स्कूली शिक्षा के लिए भी लिखना उसकी महती ज़िम्मेदारी है, क्योंकि यदि बच्चों को ग़लत इतिहास पढ़ाया जायेगा तो वे आगे चलकर या तो ग़लत राजनीति करेंगे या ग़लत राजनीति के शिकार होंगे। इसी दिशा में उन्होंने एनसीईआरटी की *आधुनिक भारत* लिखी। न केवल विद्यार्थियों के लिए बल्कि किसी भी सामान्य पढ़े-लिखे व्यक्ति के लिए उनकी यह किताब एक मानक रचना है, जिससे पढ़ने वालों को आधुनिक भारतीय इतिहास की एक जागरूक समझ प्राप्त हो सकती है।

बिपन से पहले समसामयिक घटनाओं और समस्याओं पर इतिहासकार प्रायः नहीं लिखते थे। यह ज़िम्मा राजनीतिक विश्लेषकों, समाजशास्त्रियों या पत्रकारों पर था। बिपन ने महसूस किया कि हम आज जिन समस्याओं से जूझ रहे हैं, उन समस्याओं की जड़ों को जाने बिना हम उनसे निबटने की तजबीज नहीं खोज पायेंगे और उन्होंने प्रचुर मात्रा में तमाम ज्वलंत विषयों पर एक प्रखर इतिहासकार की दृष्टि से प्रकाश डाला। उनके ये तमाम लेख दो किताबों *एस्सेज़ ऑन कन्टंपररी इंडिया* और *आइडियालॉजी एण्ड पॉलिटिक्स इन मॉडर्न इंडिया* में संकलित हैं। राजनीतिक और सामाजिक सुधार की चेतना से संपन्न किसी भी व्यक्ति के लिए इन किताबों का महत्व असंदिग्ध है।

और अंत में यह सवाल कि बिपन का मार्क्सवाद क्या था? बाद के वर्षों में कुछ लोगों ने एक अभियान-सा चलाया कि बिपन अब मार्क्सवादी नहीं रहे बल्कि कांग्रेस समर्थक हो गये हैं। बिपन ने हमेशा माना कि मार्क्सवाद कोई एक जड़, पूर्व निर्धारित पोजीशनिंग नहीं है बल्कि वैज्ञानिक तरीक़े से समाज को जानने और उसे बदलने के उपायों की ओर हमारा मार्ग प्रशस्त करने वाला एक सबसे महत्वपूर्ण औज़ार है। एक मार्क्सवादी होने का यह मतलब कतई नहीं कि हम ज्ञान-विज्ञान की दूसरी धाराओं और प्रवृत्तियों से मुंह मोड़ लें और उन्हें हमेशा ख़ारिज करने के अभियान को ही क्रांति का रास्ता समझ लें। लेखक को याद है कि दिसंबर 1998 में पटियाला की भारतीय इतिहास कांग्रेस में हज़ारों इतिहासकारों के बीच उन्होंने अपने ख़ास अंदाज़ में हंसते हुए कहा था कि मुझे उम्मीद है कि मैं अंत में एक मार्क्सवादी इतिहासकार मान ही लिया जाऊंगा। यह थे बिपन और यह है हमारे लिए बिपन होने के मायने।

(लेखक प्रो. बिपन चन्द्र के विद्यार्थी रहे हैं।)

नवगठित कार्यकारिणी की पहली बैठक (नवंबर 2014) में पारित सम्मेलन* में पेश की गयी केंद्र की रिपोर्ट

1.1 हमें ख़ुशी हो रही है कि एक अरसे के बाद जनवादी लेखक संघ का आठवां राष्ट्रीय सम्मेलन आज इलाहाबाद जैसी जगह में हो रहा है जो हिंदी-उर्दू के अज़ीमतर अदीबों, रचनाकारों की रचनास्थली रही है जिन्होंने अपने अपने अदब को बेहतरीन रचनाएं दे कर मालामाल किया और हमारे लिए वे प्रेरणा के स्रोत बने। आज उन्हीं रचनाकारों और अदीबों का विरसा अपने साथ संजो कर यहां की नयी पीढ़ी आगे बढ़ कर अपनी सामाजिक साहित्यिक ज़िम्मेदारी का पालन कर रही है, इस सम्मेलन की मेज़बानी करके उन्होंने यही संदेश भारत के कोने कोने तक पहुंचाया है कि वे हमारी गंगा-जमुनी तहज़ीब की उस महान परंपरा को पूरी पुख़्तगी से क़ायम रखेंगे।

1.2 जलेस का सातवां राष्ट्रीय सम्मेलन 2-3-4 नवंबर 2007 को डिगुवाडीह, धनबाद के सेंट्रल इंस्टीट्यूट आफ़् फ्यूल एंड माइनिंग रिसर्च के सभागार में हुआ था, तब से ले कर अब तक की अवधि के दौरान देश दुनिया के सामाजिक यथार्थ में जो तब्दीलियां आयी हैं, उन पर विचार करना ज़रूरी है। आप जानते ही हैं कि रचनाकार, अदीब, कलाकार भी आम इंसानों की ही तरह सामाजिक प्राणी होते हैं और उन्हें भी जगत गति व्यापती है, उन्हें अपने देशकाल का सामाजिक यथार्थ भी अपने तईं जानना और विश्लेषित करना होता है। एक संगठन के नाते भी यह ज़रूरी है कि हम इस यथार्थ की पड़ताल करें, जैसे कि हम हमेशा पिछले सम्मेलनों में भी करते आये हैं, हम सामाजिक यथार्थ का अपना पाठविश्लेषण करते हैं, और उस पर बहस करके उसे समझने की गंभीर कोशिश संगठन के स्तर पर होती है जिससे हमारा संवेदनात्मक ज्ञान परिपुष्ट होता है जिसके बग़ैर रचना की धार कुंद रह जाती है। अरुण कमल की काव्यपंक्ति में कहें तो 'सारा लोहा उनका, अपनी केवल धार'।

1.3 पिछले सम्मेलन से अब तक की अवधि में विश्वस्तर पर वर्गीय संतुलन में कोई बड़ा बदलाव नहीं आया है, आज भी दुनिया पर अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी का वर्चस्व बरक़रार है। मगर विश्वपूंजीवाद की फ़ितरत ऐसी है कि वह आर्थिक संकट ख़ुद ही पैदा करता है और सारी दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं पर नकारात्मक असर डालता है। हमने पिछले सम्मेलन में संकेत दिया था कि विश्वपूंजीवाद लगातार संकट की ओर बढ़ रहा है और 2008 में उस संकट की गहरी छाया सारे पूंजीवादी देशों में दिखायी देने लगी

* जनवादी लेखक संघ का आठवां राष्ट्रीय सम्मेलन, 14-15 फ़रवरी 2014, इलाहाबाद

थी, जिसे सरकारों द्वारा दिये गये धन से फ़ौरी तौर पर प्राणवायु मिल गयी थी। मगर अभी तक संकट की वह काली छाया ग़ायब नहीं हुई, संकट से मुक्ति के रास्ते तलाश किये जा रहे हैं, अभी तो विकासशील देशों और अपने अपने देशों की जनता पर आर्थिक बोझ डाल कर और समाज कल्याण व नयी नियुक्तियों पर रोक आदि मितव्यय के उपायों के ज़रिये सरकारें संकट से निपटने की कोशिश कर रही हैं जिससे दुनिया के सभी देशों में प्रतिरोध की लहरें उठ रही हैं, भूमंडलीकरण और आर्थिक उदारीकरण की साम्राज्यवादी कारगुज़ारियों से अवाम पीड़ित हैं, किसान आत्महत्याएं कर रहे हैं, अब तो मध्यवर्ग भी जगह जगह इस संकट की चपेट में आ रहा है और अपने अपने देशों में आंदोलनों में शरीक होने लगा है। इस अवधि में इस तरह के आंदोलन दुनिया के तमाम देशों में देखे गये जिन पर हम समय समय पर अपनी कार्यकारिणी के बैठकों में पेश की गयी रिपोर्टों में अपना विश्लेषण पेश करते आये हैं, उसे यहां दुहराने की ज़रूरत नहीं। हमने अपने विश्लेषण को सर्कुलर के माध्यम से सभी इकाइयों तक पहुंचाने की कोशिश लगातार की ही है।

1.4 देश के स्तर पर इस बीच जो सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन हुए उनमें 2009 के लोकसभा चुनाव का उल्लेख हमने अपनी पहली केंद्रीय कार्यकारिणी की बैठक में पेश की गयी रिपोर्ट में किया था। इस चुनाव का सबसे अध्कि नकारात्मक पहलू यह था कि इसमें वामपंथी ताक़तों को काफ़ी बड़ा धक्का लगा था। प. बंगाल में किसान अवाम के नाराज़ हो जाने और प्रतिक्रियावादी ताक़तों के महागठजोड़ के रूप में लामबंद हो जाने तथा माओवादियों व बहुत से बुद्धिजीवियों और कलाकारों के द्वारा वामविरोध में खड़े हो जाने से प्रतिक्रियावादी 'परिवर्तन' की लहर बलवती हो गयी और वाममोर्चे को हार का सामना करना पड़ा। आज वहां पूरी तरह से जनवादविरोधी ताक़तों का बोलबाला है, जम्हूरियत का क़त्ल हो रहा है और वहां के लेखक कलाकार भी इसे महसूस कर रहे हैं।

1.5 हमने अपने पिछले राष्ट्रीय सम्मेलन में भी देश और दुनिया के पैमाने पर होने वाले परिवर्तनों का लेखा जोखा प्रभात पटनायक और पी साइनाथ के भाषणों, सेमिनार में पेश किये गये वक्ताओं के विचारों और अंत में प्रतिनिधियों के सामने पेश की गयी केंद्र की रिपोर्ट में लिया था, जिसे *नया पथ* के जनवरी-मार्च 2008 के अंक में हमने छापा था, वह विश्लेषण हमारे मौजूदा सामाजिक यथार्थ को समझने के लिए आज भी प्रासंगिक है। दिसंबर 2008 में जब हमारी कार्यकारिणी की बैठक हुई थी, उस वक़्त विश्वपूंजीवाद आर्थिक संकट के नये दौर में दाख़िल हो चुका था, हालांकि उसे एक 'बुलबुला' फूटने की तरह लिया गया था, सरकारों द्वारा दिवालियों को धन देने के उपाय से उस संकट पर क़ाबू पा लिया गया था। अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी तमाम देशों में उन आर्थिक नीतियों को लागू करवाने में पूरी तरह लगी हुई है जिन्हें हम ग्लोबलाइज़ेशन और लिबरलाइज़ेशन के नाम से जानते हैं और जिनका सारतत्व है : देशी विदेशी इज़ारेदारों को अवाम और देश को लूटने के लिए खुला छोड़ने का उदारतावाद, सरकारी क्षेत्र का चोर दरवाज़े से निजीकरण करके देशी विदेशी इज़ारेदारों को सौंपने की उदार नीति, विदेशी निजी पूंजी की कई क्षेत्रों में घुसपैठ को सरकार के द्वारा छूट देने में पूरी उदारता, उदारवादी नीतियों के तहत मज़दूरों की छंटनी और उन्हें असंगठित क्षेत्र में धकेलना आदि। हमने पिछले राष्ट्रीय सम्मेलन में पेश गयी रिपोर्ट में यह ज़िक्र भी किया था कि हमारे देश के शोषकशासकवर्ग पूंजी अर्जन के आदिम तौरतरीक़ों से ले कर नये से नये तरीक़े अपना कर मालामाल हो रहे हैं। आज वे तरीक़े जैसे अवैध खनन, कोयला ब्लाकों

का अवैध आवंटन और रिश्वत दे कर टेलीकम्युनिकेशन जैसे नये क्षेत्र के सस्ते में लाइसेंस हासिल करना आदि घोटालों के रूप में रोज़ सामने आ रहे हैं। यहां इस संक्षिप्त रिपोर्ट में देशविदेश के हालात की विस्तृत पड़ताल न संभव है और न उसकी ज़रूरत है। हमारी ओर से इस बदलते यथार्थ की ओर इशारा करना इसलिए ज़रूरी है क्योंकि साहित्य की दुनिया में सक्रिय हम अदीबों और दानिशवरों के लिए संगठित स्तर पर अपने विश्वबोध को भी समृद्ध करना होता है जिसे मुक्तिबोध ने 'होता है भान जग का' या 'विश्वचेतस्' होना कहा था।

1.6 अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी का यह खेल हमारी अर्थव्यवस्था पर तो हावी है ही, तभी तो भारत के प्रधानमंत्री से ले कर योजना आयोग के आलिया कमांडर और रिज़र्व बैंक के मौजूदा गवर्नर विश्वबैंक और आइ एम एफ़ के भूतपूर्व अधिकारी के रूप में काम कर चुके अर्थशास्त्री भारत सरकार को नियंत्रित संचालित कर रहे हैं। अब साहित्य के क्षेत्र में भी इनका खेल शुरू हो चुका है, जिसे सामसुंग कंपनी के साथ साहित्य अकादमी के समझौते और रवींद्र नाथ टैगोर के नाम से स्थापित पुरस्कार, सार्क लेखक सम्मेलन, जयपुर लिटरेरी फ़ेस्ट, कई विदेशी प्रकाशकों की भारत में घुसपैठ आदि घटनाक्रमों में हम देख सकते हैं। जैसा कि हम कार्यकारिणी और परिषद की बैठकों में पेश की गयी पहले की रिपोर्टों में भी कह चुके हैं कि उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन के अंबार भारतीय बाज़ार में लगे हुए हैं, उनकी खपत के लिए मध्यवर्ग के एक हिस्से को, जो ख़ासा बड़ा हिस्सा है पूंजीवाद ने को-आप्ट कर लिया है और उन्हें सस्ती दरों पर कर्ज़ दे कर उन वस्तुओं को बिकवाया जा रहा है जिससे पूंजी निवेश लाभ के साथ कंपनियों को मिल रहा है जो कि पूंजीवाद की फ़ितरत है। अब मध्यवर्ग के निचले हिस्सों की ख़रीदारी की ताक़त भी पेट्रोल, डीज़ल, रसोई गैस, बिजली, दूध आदि के बढ़ते दामों और रोज़मर्रा की चीज़ों में दामों की बढ़ोतरी की वजह से कम होती जा रही है जिसकी परिणति आर्थिक मंदी में होनी ही है। बाक़ी समाज के ग़रीब हिस्से तो पहले से ही बदतर ज़िंदगी जीने को मजबूर हैं। यह हालत और ज़्यादा बिगड़ेगी क्योंकि धीरे धीरे राज्य की ओर से सामाजिक कल्याण कार्यों के तहत मिलने वाली इमदाद में आगे और कटौती की जायेगी, उन हिस्सों को इस समय भी दवा, हवा, पानी आदि हर चीज़ के लिए भुगतान करना पड़ रहा है। ये तमाम तथाकथित 'आर्थिक सुधार' देश को बदहाली की ओर धकेल रहे हैं, इसी से पूंजीवादी आर्थिक संकट भी गहरा रहा है। मुद्रास्फीति बढ़ रही है, बोझ ग़रीबों के सिर पर ही डाला जाता रहा है और डाला जाता रहेगा।

1.7 मगर एक सच्चाई और भी है जिसे हमने अपनी पिछली कार्यकारिणी की बैठक में रेखांकित किया था। साम्राज्यवाद की तमाम घिनौनी कारगुज़ारियों के बावजूद अभी अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वर्गसंतुलन साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के पक्ष में ही है जिसकी वजह से मध्यवर्गीय मिथ्याचेतना से दुनिया के घटनाक्रम को देखने वाले बुद्धिजीवियों के भीतर साम्राज्यवादविरोध अभी पूरी तरह मुखर नहीं है। साथ ही अभी विश्वपूंजीवाद के अपने प्रसार के लिए नये चरागाहों की संभावना भी ख़त्म नहीं हुई है, वह नित नये लुभावने गैजेट और उनके नये संस्करण बाज़ार में ला कर अपने गतिरोध को तोड़ने की काफ़ी क्षमता बनाये हुए है। हमारे अपने देश में भी यह प्रक्रिया चल रही है। इसका हवाला हमने अपनी कार्यकारिणी की बैठकों में समय समय पर दिया था। मसलन, टेलिविज़न के लिए 'सेट टाप बाक्स' जैसे उपकरण को ख़रीदना क़ानूनी तौर पर पहले महानगरों में अनिवार्य बनाया गया। फिर देश के लगभग सभी शहरों

में उसे लागू करवाया गया। उसके बाद गांव देहात की भी बारी आयेगी। इससे करोड़ों की संख्या में इन बक्सों का उत्पादन खप जायेगा और पूंजीपतिवर्ग को मंदी से उबरने में थोड़ी बहुत मदद मिलेगी ही। किसानों की फ़सलों की पैदावार अगर अच्छी बारिश की वजह से बेहतर हो गयी तो उनकी उस आमदनी में से पूंजीपतिवर्ग अपने लिए काफ़ी कुछ हासिल कर लेगा।

1.8 हमने अपने सातवें सम्मेलन में पेश की गयी रिपोर्ट में उल्लेख किया था कि पूंजीवाद में, नित नयी टैक्नोलाजी विकसित करके और उत्पादन के साधनों में विज्ञान की मदद से क्रांतिकारी तब्दीली करके, उत्पादक शक्तियों को विकसित करने की क्षमता अभी बनी हुई है। इसलिए उसे हम आज 'लकड़ी का बना रावण' या 'क्षयग्रस्त पूंजीवाद' नहीं कह सकते जैसा कि 1960 के दिनों में बहुत से दस्तावेज़ों में और हमारे रचनात्मक साहित्य में भी चित्रित किया जाता था। इसी वजह से आज हम 'समय है साम्यवादी' जैसी उद्घोषणाएं करने की हालत में नहीं है। मार्क्स ने *कम्युनिस्ट मैनिफ़ैस्टो* में स्पष्ट कहा भी था कि पूंजीवाद उत्पादन के साधनों में लगातार क्रांतिकारी परिवर्तन करके अपने संकट से उबरने की कोशिश करता है, वही हम आज भी देख रहे हैं। हमने केंद्रीय कार्यकारिणी की अपनी एक बैठक की रिपोर्ट में इस यथार्थ को रेखांकित किया था कि 'हर उद्योग में रोज़ नयी टैक्नोलाजी काम में लायी जा रही है जिससे पुराने ढंग का सर्वहारावर्ग धीरे धीरे घट रहा है और उसकी जगह नयी ट्रेनिंग हासिल किये युवक युवतियां जो ख़ुद को सर्विस सेक्टर का और मध्यवर्ग का हिस्सा मानते हैं रोज़गार पा रहे हैं, इससे संगठित सर्वहारावर्ग की तादाद भी कम हो रही है, और असंगठित क्षेत्र में लाखों लोग काम कर रहे हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियों में ट्रेड यूनियनों का गठन लगभग नामुमकिन है जो कि एक समय जनवादी आंदोलन की धुरी होती थीं, और वैज्ञानिक सामाजिक चेतना विकसित करने की नर्सरी। इसलिए पूंजीवाद को आज के समय में कोई बड़ी चुनौती का सामना नहीं करना पड़ रहा क्योंकि वह अभी उत्पादक शक्तियों के विकास की अपनी क्षमता पूरी तरह नहीं खो पाया है।' यही वजह है कि आज समाज के क्रांतिकारी वर्ग के नेतृत्व में जनवादी बदलाव की चेतना उसी तरह भारत में भी अभी नहीं उभर रही, जैसे कि पश्चिम के विकसित पूंजीवादी देशों की स्थिति है। क्रांतिकारी चेतना उन इक्के दुक्के देशों में ज़रूर पनप रही है जो पूंजीवाद की सबसे कमज़ोर कड़ी हैं जैसे नेपाल या लैटिन अमेरिकी देश।

1.9 दुनिया के पैमाने पर एक और अहम तब्दीली आयी है जिसे रेखांकित करना ज़रूरी है क्योंकि इस तब्दीली पर अभी समाजवैज्ञानिकों ने भी तर्कसंगत तरीक़े विचार नहीं किया है, यहां तक कि मार्क्सवादी चिंतकों ने भी नहीं। वह तब्दीली यह है कि लगभग सभी देशों के निम्नमध्यवर्ग में, अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी से पैदा हुई समस्याओं की वजह से, अपने अपने देशों के शोषकशासकवर्गीय निज़ाम से बेहद असंतोष दिखायी दिया है और उसने राजनीतिक उदासीनता की अपनी पुरानी आदत छोड़ कर किसी न किसी तरह के जनआंदोलनों को जन्म दिया है, उनकी राजनीतिक अगुआई की है। इससे पहले यह वर्ग 'कोउ नृप होउ हमहिं का हानी' की मंथरा चेतना में मशगूल रहता था। ख़ुद अमेरिका में 'आक्यूपाइ वॉल स्ट्रीट' जैसा आंदोलन हो या मिस्र में हुए घटनाक्रम या भारत में अन्ना हज़ारे का आंदोलन और उससे विकसित 'आम आदमी पार्टी' का गठन, या इन दिनों थाइलैंड या यूक्रेन में चलने वाला आंदोलन हो— ये सब इसी नयी हक़ीक़त का बयान करते हैं। अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी ने दुनिया के स्तर पर काफ़ी बड़ी तादाद में कंज़्यूमर के रूप में जिस मध्यवर्ग को पैदा किया है, अब उसकी आमदनी पर चोट करने लगा

है, उसका निचला हिस्सा अब अपने शोषण को बुरी तरह महसूस कर रहा है। उसके भीतर अब हर जगह असंतोष उमड़ रहा है और इसीलिए वह पहली बार दुनिया में राजनीतिक हस्तक्षेप की पहलक़दमी करने के लिए मैदान में उतर रहा है जब कि इससे पहले या तो यह पहलक़दमी आधुनिक दौर के सबसे क्रांतिकारी वर्ग यानी सर्वहारावर्ग की अगुआई में होती थी या नवोदित पूंजीवाद के नेतृत्व में। शोषण की मार महसूस करने पर हमारे यहां भी यह वर्ग राजनीति में उतर रहा है जैसा कि 'आम आदमी पार्टी' के गठन की प्रक्रिया में इसे देखा जा सकता है जो खुले तौर पर इज़ारेदारों की दोनों बड़ी पार्टियों को चुनौती दे रही है और सर्वहारावर्ग की पार्टियों से भी कोई लेना देना नहीं रखना चाहती।

1.10 इसी तरह के आर्थिक दबावों से उपजे असंतोष का फ़ायदा उठा कर सीरिया में अमेरिका ने सेकुलर असद निज़ाम के ख़िलाफ़ तालिबाननुमा मज़हबी आतंकवादियों को शह दे कर तख़्तापलट की कोशिश की, उस पर हमला करने की योजना भी बनायी थी, जिससे इराक़ की तरह वहां भी तेलक्षेत्र उसके कब्ज़े में आ जायें, रूस व चीन के हस्तक्षेप से और विश्वजनमत के पक्ष में न होने से वहां जंग के हालात पैदा होने से बच गये। मगर आर्थिक संकट के दबाव में साम्राज्यवादियों की यह कोशिश जारी रहेगी कि वे सभी विकासशील देशों में हस्तक्षेप करके अपने निहित स्वार्थों की रक्षा करते हुए शोषण की परंपरा अबाध रूप से चलाते रहें। सीरिया, ईरान और उत्तरी कोरिया व क्यूबा, लैटिन अमेरिकी देश उसके निशाने पर अभी बने हुए हैं, भले ही शांतिवार्ताओं की प्रक्रिया में इस समय साम्राज्यवादियों के मंसूबे दुनिया के अवाम को साफ़ न दिख रहे हों।

1.11 दुनिया के पैमाने पर होने वाली इन तब्दीलियों का सकारातमक पहलू यह है कि साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ अवाम में रोष बढ़ रहा है। मगर इस रोष का इज़हार वैज्ञानिक समाजवाद के विकल्प की तलाश में अवाम को नहीं ले जा रहा। सारे देशों का निम्नमध्यवर्ग पूंजीवादी व्यवस्था के भीतर ही सुख, शांति और समृद्धि व ख़ुशहाली का सपना संजोये बैठा है। भारत का निम्नमध्यवर्ग भी इसी चेतना की जकड़बंदी का शिकार है, जिसकी झलक हम 'आम आदमी पार्टी' की रीतिनीति में देखते हैं। इस रीतिनीति के समर्थन में सुधीर चंद्र का *जनसत्ता* के 26 जनवरी 2014 के अंक में प्रकाशित लेख, 'आप' का-हमारा भविष्य' देखा जा सकता है जो आमतौर पर भारत के निम्नमध्यवर्ग की प्रतिरोधी चेतना का ही अक्स है। सुधीर चंद्र ने इस समझ का वर्ग-आधर छिपाया नहीं, उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि 'हम' से उनकी मुराद क्या है। उन्होंने लिखा, ' 'आप' को समझने और उसका साथ देने की एक बुनियादी शर्त है कि हम स्थापित व्यवस्था के नियमों और दावपेंचों को प्रश्नांकित कर नये तरीक़ों से सोचें। यहां 'हम' से मेरी मुराद अपने जैसे पढ़े लिखे मध्यवर्ग से है, जो अपनी समझ के जाल में फंसा रह कर, वैकल्पिक समझ की तह में जाना ही नहीं चाहता।' इस परिवर्तन का जहां सकारात्मक लोकतांत्रिक पहलू यह है कि निम्नमध्यवर्ग अपनी जड़ता तोड़कर आदर्शवादी राजनीति में दाख़िल हुआ है, वहीं उसकी विचारधारात्मक सीमा भी है जो कि इसी दौर में उभरने वाली उत्तरआधुनिकतावाद की विचारधारा से मेल खाती है क्योंकि उसमें परिवर्तन की ललक पूंजीवादी व्यवस्था के भीतर ही रह कर सब को सुखी कर देने की मृगमरीचिका से जुड़ी है। सुधीर चंद्र को इस 'वैकल्पिक समझ' की तह में छिपी ये सीमाएं अभी नज़र नहीं आ रहीं। उन्होंने अपने दूसरे लेख में, *जनसत्ता* के 2 फ़रवरी 2014 के अंक में लिखा, 'नैतिकता के लोप ने पैदा किया 'आप' को'। वे यह नहीं बताते कि 'नैतिकता का लोप' किसने पैदा किया? आख़िर आधारभूत

व्यवस्था की अनदेखी करके और आर्थिक कारणों में न जा कर 'आम आदमी पार्टी' के उदय को 'नैतिकता' की नज़र से नहीं समझा जा सकता। नैतिकता के आधर पर तो यह नवोदित पार्टी निम्नमध्यवर्ग के बहुत से अवगुणों को अपने में समाहित किये हुए है जैसा कि उसके कई नेताओं और प्रवक्ताओं के बयानों से ज़ाहिर होता है। योगेंद्र यादव को सामंती मानसिकता से परिचालित 'खाप' पंचायतों में सकारात्मक पहलू नज़र आते हैं, उसके क़ानून मंत्री को अफ्रीकी लड़के लड़कियां पतित दिखायी देते हैं और वे उन पर ग़ैरक़ानूनी तरीके से मनगढ़ंत आरोपों की बुनियाद पर धावा बोल देते हैं। उनके प्रवक्ता दिल्ली में ख़ुदरा व्यापार में विदेशी कंपनियों के निवेश पर पाबंदी के क़दम को सही बताते हैं, मगर पूरे देश के पैमाने पर उसके स्वागत की वकालत करते हैं, वग़ैरह वग़ैरह।

फिर भी, इन इक्का दुक्का नकारात्मक पहलुओं के आधार पर इस नये उभार को अवांछनीय तत्व क़रार देना भी भूल होगी। इस नये उभार ने जाति, अस्मिता, धर्म आदि पर टिकी राजनीति को पीछे धकेल दिया है। यह नया फ़ार्मेशन इज़ारेदार पूंजी को भी चुनौती दे रहा है, इज़ारेदार घरानों से जुड़ी दोनों बड़ी पार्टियों के शोषणपरक व भ्रष्ट कारनामों की कलई खोल रहा है, उनकी बारी बारी से सत्ता की दावेदारी को कामयाब न होने देने की राह पर चल रहा है। विश्वपूंजीवाद जैसे जैसे आर्थिक संकट के नये दौर में दाख़िल होगा, वैसे वैसे बेचैनी का यह आलम और ज़्यादा गहरायेगा। निम्नमध्यवर्ग के इस आंदोलन की अपनी वर्गीय सीमाएं तो होंगी ही, मगर यह नहीं भूलना चाहिए कि 'आम आदमी पार्टी' के रूप में यह वर्ग इज़ारेदार घरानों से और साम्राज्यवाद से टकरा रहा है, दिल्ली में वह ख़ुदरा व्यापार में विदेशी पूंजी के निवेश पर रोक लगा चुका है, टाटा, अंबानी के बिजली सप्लाई के कारोबार में कमाये गये मुनाफ़े का वह सी ए जी से ऑडिट कराने पर तुला हुआ है। इस तरह यह उभार न केवल आदर्शवादी निम्नमध्यवर्ग को, उस वर्ग से आये छात्रों, युवकों और टेक्नोक्रेट्स को भी अपनी ओर खींच रहा है, शहरी सर्वहारावर्ग का भी लाड़ला बना जा रहा है। इसलिए इस आंदोलन का चरित्र अपने सारतत्व में लोकतांत्रिक है। समाज के जनवादी हिस्से और सर्वहारावर्ग यदि सही तरीक़े से धैर्य के साथ इसके सारतत्व को समझें और अपनी कार्यनीति तय करें तो यह आगे चल कर एक साझे जनवादी आंदोलन की शक्ल भी अख़्तियार कर सकता है क्योंकि इज़ारेदारों की दोनों बड़ी पार्टियां उसके प्रति अब दुश्मनीभरा रुख़ अख़्तियार कर चुकी हैं और उसे सत्ता से बाहर रखने की पूरी कोशिश में हैं।

1.12 इस बेचैनी की व्याख्या अभी समाजवैज्ञानिक भी तर्कसंगत तरीक़े से नहीं कर पा रहे क्योंकि पूंजीवादी चेतना का दवाब बुद्धिजीवी समुदाय पर भी बहुत ज़्यादा है। अवाम में भी पूंजीवाद ने मिथ्याचेतना फैला कर ख़ुशहाली के सपने पैदा कर दिये हैं। आपको याद होगा कि हमारे पिछले सम्मेलन के समय मनमोहनसिंह सरकार अमेरिका के साथ नाभिकीय समझौता करने की ताबड़तोड़ कोशिश में लगी थी और यह सपना दिखा रही थी कि उस समझौते से हर गांव में बिजली होगी, ख़ुशहाली फैलेगी, वामपंथी ताक़तों को इस रास्ते में बाधक के रूप में पेश किया गया था, इसका असर 2009 के चुनावी परिणाम में देखने को आया जिसमें वाम को गहरा धक्का लगा। इस मिथ्या-चेतना को फैलाने में पूंजीवादी साम्राज्यवादी प्रचारतंत्र, अख़बार, टेलीविज़न आदि भी पूरी तरह सक्रिय हैं। अंधविश्वास फैलाने वाले अनगिनत चैनल हैं, समाचार चैनल सैक्स, बलात्कार, हिंसा और सस्ते मनोरंजन को ही दर्शकों के सामने परोस रहे हैं, सीरियलों में भी गढ़ा हुआ सामाजिक यथार्थ दिखाया जा रहा है, व्यापारी घरानों के सास

बहू पात्र रच कर दिखाये जा रहे हैं। अख़बारों की हालत भी बहुत अच्छी नहीं है। भारतीय भाषाओं के अख़बारों का बुरा हाल है, एक पूंजीवादी घराना हिंदी में तो सांप्रदायिक प्रचार के लिए बदनाम था ही, अब वह उर्दू के अख़बारों का स्वामित्व ख़रीद रहा है। आज उसी के नये स्वामित्व के तहत 'इन्क़लाब' जैसे जदीद अख़बार को फ़िरक़ावाराना नफ़रत फैलाने और मज़हबी जनून पैदा करने के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है। हिंदी के ज़्यादातर अख़बारों की तरह उर्दू के भी कुछ अख़बार पहले ही इस काम में लगे थे। हिंदी-उर्दू के इस तरह के अख़बार सांप्रदायिक ज़हर और धार्मिक उन्माद फैलाने में लगे हैं और अपने मूल कर्तव्य और प्रेस संहिता के नियमों का उल्लंघन करते हुए प्रेस के लोकतांत्रिक उसूलों के ठीक विपरीत काम कर रहे हैं। सर्वनिषेधवादी विचारधारा फैलाने वाली छोटी से छोटी मुहिम को टी वी चैनल जंतर मंतर से सीधे प्रसारित करते हैं और मज़दूरवर्ग की तीन लाख से भी ज़्यादा शोषित उत्पीड़ित जनता की रामलीला मैदान में हुई एक विशाल रैली किसी चैनल या किसी अख़बार में नहीं दिखी, क्योंकि इसमें न कोई पुतला जलाया गया, न आगज़नी हुई, न कोई हिंसा और न कोई तनाव। सब कुछ शांतिपूर्ण तरीक़े से अनुशासित ढंग से हुआ। यह रैली देश के कोने कोने से चले जत्थों के अंतिम पड़ाव के तौर पर नयी दिल्ली में आयोजित हुई थी। यही रवैया जनवादी ताक़तों, ट्रेड यूनियनों की विशाल रैलियों के प्रति भी देखा गया जिसकी शिकायत भी आयोजकों ने दर्ज करायी।

1.13 जिस तरह जनवादी आंदोलनों के प्रति इज़ारेदार मीडिया तंत्र और अख़बारों का उदासीनता और उपेक्षा का रवैया है, रचनात्मक साहित्य के लिए भी वही रवैया है। उसमें भी साहित्य के लिए जगह नहीं, उसका तो ज़िक्र भी नहीं। हां, इज़ारेदार पूंजी की मदद से आयोजित 'लिटरेरी फ़ेस्ट' इस मीडिया में अच्छा कवरेज हासिल करते हैं, वहां भी जो वितंडावाद होता है वही सुर्ख़ियां हासिल करता है, साहित्य की विभिन्न विधाओं का या किन्हीं नये रुझानों की मीमांसा या 'क्रिटीक' सामने नहीं आता। इसीलिए हिंदी और उर्दू में लघु पत्रिकाओं की ज़रूरत लगातार महसूस की गयी और अच्छा साहित्य आज उन्हीं पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रहा है। ग़नीमत यह है कि आज के प्रतिकूल माहौल में भी युवा रचनाकारों में व्यवस्था के प्रति आलोचनात्मक रुख़ और जनवादी विचारधारा का सारतत्व देखा जा सकता है, सांप्रदायिक ताक़तों की हिंसा की वारदातें हों या किसानों की आत्महत्याएं या दलितों और महिलाओं की समानता हासिल करने की इच्छाओं के दमन और उनके उत्पीड़न की वारदातें, ये स्थितियां युवा रचनाकारों की संवेदना को छू रही हैं, भ्रष्टाचार और बेरोज़गारी या दहेज, नारी उत्पीड़न आदि सामाजिक बुराइयां भी नयी रचनाशीलता के दायरे में हैं। अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी की सेवा में लगे शोषकशासकवर्गों ने जो उदारवादी आर्थिक नीतियां अपनायी हैं उन से अमीर ग़रीब के बीच की गहराती खाई भी रचनाओं में अभिव्यक्ति पा रही है। यह संकेत तो मिल रहा है कि लेखक समुदाय में व्यवस्था के प्रति एक आक्रोश पनप रहा है। यह आक्रोश निम्नमध्यवर्ग समेत अवाम के व्यापक हिस्सों में व्याप्त तो है मगर यह प्रतिकार-प्रतिरोध विशाल साझा जनवादी आंदोलन में अभी तब्दील नहीं हो पा रहा। बेचैनी को पढ़े लिखे निम्नमध्यवर्ग ने राजनीतिक हस्तक्षेप में भले ही तब्दील किया हो, मगर अभी भी उसके विशाल हिस्से में सर्वसंशयवादी निम्नपूंजीवादी चेतना का असर बहुत गहरा है। वर्गीय चेतना के अभाव की वजह से पहले से चली आ रही संगठित राजनीतिमात्र के प्रति नफ़रत का भाव चेतना के भीतर समाया हुआ है। इसी चेतना की वजह से ग़ैरराजनीतिक स्वतःस्फूर्त आंदोलनों का विस्फोट हो रहा है जिसे पूंजीवादी प्रचारतंत्र हवा दे रहा

है जिससे कि यह विस्फोट साझा संगठित जनवादी आंदोलन न बन जाये। यह असर इस दौर के लेखकों और अन्य बुद्धिजीवियों के एक हिस्से में भी देखा जा सकता है जिसकी वजह से वे लेखक संगठनों का हिस्सा बनने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाते। उनकी इस सर्वनिषेधवादी चेतना को संगठनों पर हमले बोल कर अक्सर हिंदी के कुछ अख़बार और लघु पत्रिकाओं के इक्का दुक्का संपादक भी बल पहुंचा देते हैं जिसका हमें समय समय पर प्रतिकार भी करना पड़ता है। हमने अपनी कार्यकारिणी की एक बैठक की रिपोर्ट में भी कहा था कि 'सर्वनिषेधवाद लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए घातक सिद्ध होता है और तानाशाही के लिए उर्वर ज़मीन तैयार करता है, इसलिए लेखक समुदाय को इस ख़तरे से आगाह करना भी ज़रूरी है।'

1.14 मगर यथार्थ का एक दूसरा पहलू भी है जिसका उल्लेख हमने अपनी कार्यकारिणी की एक बैठक में भी किया था जिसे यहां दोहराना ज़रूरी है। हालांकि वर्गीय संतुलन अभी भी विश्वपूंजीवाद के पक्ष में ही बना हुआ है, फिर भी विकासशील देशों ने अपने अपने देश के हितों को बचाये रखने के लिए 'ब्रिक्स' नामक नया संगठन 2009 में बनाया, भारत भी उसमें शामिल है, मगर भारत की समझौतापरस्त नीतियों के कारण उस संगठन की जीवंत हस्तक्षेपकारी भूमिका अभी नहीं उभर पा रही। उम्मीद की जा सकती है, आने वाले दिनों में विश्व में साम्राज्यवादविरोधी लहर के उभार में इस संगठन का कुछ योगदान हो सकेगा।

1.15 हमारे देश के स्तर पर शोषितदमित वर्गों के वैज्ञानिक और तर्कसंगत विचारधारा के साथ संगठित होने की दिशा में एक धीमापन देखा जा सकता है। इसके वस्तुगत कारण हैं। पढ़े लिखे तबक़ों के युवाओं में आदर्शवादी सोच तो है, मगर उनमें वैज्ञानिक आलोचनात्मक विवेक नहीं पनप पा रहा। सामराजी उदारवादी नीतियों के तहत अब स्थायी नौकरियों की जगह ठेके पर काम देने की चालाकी बरती जा रही है। अपनी कार्यकारिणी की एक बैठक की रिपोर्ट में हमने लिखा था कि 'हर जगह नौकरियों में अस्थायी बने रहने से लोग असंगठित ही रहते हैं, उन्हें ट्रेड यूनियन गठित करने का संवैधानिक अधिकार हासिल नहीं, इसलिए उनमें जनवादी चेतना का विकास नहीं हो पाता। सर्विस सेक्टर या बी पी ओ सेक्टर और बहुराष्ट्रीय निगमों में काम करने वाले युवा तो पहले से ही असंगठित हैं, उन्हें भी ट्रेड यूनियन बनाने का संवैधानिक अधिकार नहीं, वे संगठित होने की शायद ज़रूरत भी महसूस नहीं करते, अच्छी तनख़्वाहें पाते हुए ख़ुद को अपनी कंपनी का ही एक अंग समझने लगते हैं, वहां किसी तरह के वैचारिक विमर्श या सांस्कृतिक सवालों पर बातचीत का अवसर ही नहीं, वहां की 'वर्क कल्चर' में इस सबकी कोई जगह ही नहीं है। इन कंपनियों ने प्रतिभाशील युवा बुद्धिजीवी की चेतना में एक आकर्षण पैदा कर रखा है, सबकी टकटकी उधर ही लगी है, और हमारी शिक्षा दीक्षा भी उसी ढांचे में ढाली जा रही है। एम बी ए की डिग्री देने वाली शिक्षा संस्थाएं और प्राइवेट देशी विदेशी यूनिवर्सिटियां भारतभूमि पर चप्पे चप्पे पर क़ायम हो चुकी हैं। ये कंपनियां अनेक ख्यातलब्ध विश्वविद्यालयों में जा जा कर पहले से ही प्रतिभावान छात्रों को प्लेसमेंट का लालच दे कर आकर्षित कर रही हैं। इसलिए अब शिक्षा का ढांचा भी साहित्य और संस्कृति के लिए किसी तरह का आकर्षण पैदा नहीं करता, वह तो बस 'हारे को हरिनाम' की तरह है। पूंजीवाद के इस भयानक, मगर चकाचौंध और चमक दमक से लकदक दौर ने व्यक्ति को पूंजी संचयन की प्रक्रिया का एक पुर्जा बना दिया है।' हमने पहले भी इस तथ्य की ओर इशारा किया था

कि इस अंधीदौड़ ने समाज में आक्रामक व्यक्तिवाद व अवसरवाद को जन्म दिया है। इन प्रवृत्तियों का शिकार हमारे बहुत से लेखक और बुद्धिजीवी भी हैं। वे संगठित शक्ति में कोई यक़ीन नहीं रखते, और यदि संगठनों में शामिल हो भी जायें तो सांगठनिक कामकाज में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाते।

1.16 हमारा समाज आज भी आधुनिक मूल्यव्यवस्था व मानवतावादी सोचविचार से काफ़ी दूर है, उसके भीतर पुराने सामंती और रूढ़िवादी, नस्लवादी, मर्दवादी मूल्य अभी तक जड़ जमाये बैठे हैं जिसकी वजह से दलितों, आदिवासियों और महिलाओं व बच्चों तक पर अत्याचार हो रहे हैं। अपराधीकरण बढ़ रहा है। गैंगरेप की घटनाएं आम हो गयी हैं। हम सबने देखा कि किस तरह 16 दिसंबर 2012 की घटना से पूरा आदर्शवादी युवासमाज आज के सभ्य समाज के पीछे छिपे वहशीपन को देख कर आक्रोश से भर उठा था। मगर यह भी विडंबना ही है कि मानवमूल्यों की इस पतनगाथा के मूल में जाने और एक बेहतर समाज बनाने की कठिन प्रक्रिया में शामिल होने के बजाय सिर्फ़ मोमबत्ती जलाने जैसे प्रतीकात्मक इज़हार तक ही वह दिशाहीन आक्रोश ठहर गया था, या कठोर क़ानूनों की मांग में उसकी परिणति होती रही जिसे मानने में शोषकशासकवर्गों को कोई हिचक नहीं होती क्योंकि पूंजीवादी-सामंती प्रशासन के दमनतंत्र को मज़बूत करने की हर मांग उनके अपने हित में जाती है।

1.17 तो, साथियो, हम इस तरह की विषम परिस्थितियों के बीच समाज के एक बहुत ही छोटे से समुदाय यानी हिंदी-उर्दू लेखक समुदाय के संगठित हिस्से के रूप में सक्रिय हैं। हमें अपनी कमज़ोरियों और सीमाओं का पूरा एहसास है। फिर भी केंद्र के स्तर पर हम इस बीच जो कुछ काम कर पाये हैं, उसका संक्षिप्त विवरण हम पेश कर रहे हैं। नवंबर 2007 में हुए धनबाद सम्मेलन के बाद के काम का लेखाजोखा 7 दिसंबर 2008 की केंद्रीय कार्यकारिणी की रिपोर्ट में हमने पेश किया था और उस बैठक की कार्रवाई परिषद के सभी सदस्यों को भी भेजी थी। उसके बाद 9 मार्च 2011 को दोनों बैठकों के बीच की अवधि में किये कामों का ब्योरा पेश किया था और उसकी कार्रवाई भी परिषद के सदस्यों को भेजी गयी थी। फिर भी हम विस्तार में न जा कर सिर्फ़ एक सूची के बतौर उन कामों का भी उल्लेख यहां एक बार फिर कर रहे हैं जिन्हें कार्यकारिणी की दो बैठकों में पेश किया गया थाः

1. 28 नवंबर 2007:	प्रो. गोपीचंद नारंग की दुबारा साहित्य अकादमी अध्यक्ष बनने की चालबाज़ी के ख़िलाफ़ लेखकों के हस्ताक्षरों सहित प्रधानमंत्री को ज्ञापन
2. 12 दिसंबर 2007:	त्रिलोचन शास्त्री के निधन पर श्रद्धांजलि सभा का आयोजन
3. 24 दिसंबर 2007:	श्रीमती अंबिका सोनी को प्रो. गोपीचंद नारंग की चालबाज़ी और घोटालों के बारे में लेखकों का हस्ताक्षरित ज्ञापन
4. जनवरी-मार्च 2008:	धनबाद सम्मेलन के आदेश के मुताबिक़ *नया पथ* के नियमित प्रकाशन की शुरुआत, वर्ष 2008 के इस पहले अंक में सम्मेलन के दस्तावेज़ प्रकाशित
5. 12 अप्रैल 2008:	केंद्रीय कार्यकारी मंडल की बैठक
6. अप्रैल-जून 2008:	*नया पथ* का 'हिंदी-उर्दू साझा संस्कृति' विशेषांक प्रकाशित
7. 2 अगस्त 2008 :	केंद्रीय कार्यकारी मंडल की बैठक

8. 14 अगस्त 2008:	जलेस की वेबसाइट *www.jlsinindia.org* की और उसी से जुड़े एक ब्लाग *janwadilekhaksangh.blogspot.com* की शुरुआत
9. जुलाई-सितंबर 2008:	*नया पथ* का 'हिंदी-उर्दू साझा संस्कृति' विशेषांक-2 प्रकाशित
10. 7 दिसंबर 2008:	केंद्रीय कार्यकारिणी की बैठक
11. अक्टूबर-दिसंबर 2008:	*नया पथ* का नया अंक प्रकाशित
12. जनवरी 2009:	ग़ाज़ा में इस्रायली हमले के ख़िलाफ़ मंडी हाउस पर एक संयुक्त प्रदर्शन और धरना
13. जनवरी-मार्च 2009:	*नया पथ* का अंक प्रकाशित
14. अप्रैल-जून 2009:	*नया पथ* का अंक प्रकाशित
15. 15 जून 2009:	केंद्रीय कार्यालय ख़ाली करना पड़ा।
16. जुलाई-सितंबर 2009:	42 अशोक रोड पर आफ़िस शिफ़्ट, *नया पथ* का अंक प्रकाशित
17. अगस्त 2009:	कृष्ण बलदेव वैद को पुरस्कार देने के लोकतांत्रिक प्रक्रिया से लिये फ़ैसले को पलटने की दिल्ली अकादमी की कार्रवाई का विरोध
18. अगस्त 2009:	छत्तीसगढ़ सरकार के द्वारा हबीब तनवीर के *चरनदास चोर* पर लगाये प्रतिबंध का साझा विरोध
19. जुलाई-सितंबर 2009:	*नया पथ* का अंक प्रकाशित
20. अक्टूबर-दिसंबर 2009:	*नया पथ* का 'कला विशेषांक' प्रकाशित
21. 9 अक्टूबर 2009:	हरीश भादानी की स्मृति में श्रद्धांजलि सभा
21. 17 नवंबर 2009:	डा. कुंवरपाल सिंह की स्मृति में श्रद्धांजलि सभा
22. जनवरी-मार्च 2010:	*नया पथ* का समीक्षा केंद्रित अंक प्रकाशित
23. 24 जनवरी 2010:	सामसुंग कंपनी की साहित्य अकादमी के साथ साझीदारी के ख़िलाफ़ बयान
24. अप्रैल-जून 2010:	*नया पथ* का अंक प्रकाशित
25. जुलाई-सितंबर 2010:	*नया पथ* का त्रिपुरा विशेषांक प्रकाशित
26. 2 अगस्त 2010:	विभूतिनारायण राय व रवींद्र कालिया के महिला लेखक विरोधी प्रकरण पर पहलक़दमी
27. सितंबर 2010:	नारी लेखन पर दस्तावेज़ जारी
28. 25 अक्टूबर 2010:	प्रलेस व जसम के साथ एक साझा बयान इलाहाबाद हाई कोर्ट की लखनऊ बेंच के फ़ैसले के विरोध में।
29. अक्टूबर-दिसंबर 2010:	*नया पथ* का बहुचर्चित फ़ैज़ विशेषांक, 1 जनवरी 2011 को लोकार्पण
30. 9 मार्च 2011:	केंद्रीय कार्यकारिणी की बैठक
31. 8 अप्रैल 2011:	केंद्रीय कार्यकारीमंडल की बैठक, इंदौर इकाई को *जलेस ख़बर* प्रकाशित करने की स्वीकृति
32. 29 मई 2011:	चंद्रबली सिंह की स्मृति में श्रद्धांजलि सभा
33. जनवरी-जून 2011:	*नया पथ* का बाबा नागार्जुन विशेषांक

34. 15 जून 2011: नागार्जुन जन्मशती उत्सव, विशेषांक का लोकार्पण
35. जुलाई-सितंबर 2011: *नया पथ* का केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर व मजाज़ विशेषांक
36. 7 अक्टूबर 2011: कुबेर दत्त की स्मृति में श्रद्धांजलि सभा
37. अक्टूबर-दिसंबर 2011: *नया पथ* का अंक, *तीन सौ रामायणें* विवाद पर केंद्रित विशेष सामग्री
38. 8 नवंबर 2011: श्रीलाल शुक्ल की स्मृति में तीनों लेखक संगठनों व राजकमल प्रकाशन के संयुक्त तत्वावधान में श्रद्धांजलि सभा
39. जनवरी-जून 2012: *नया पथ* का 'प्रगतिशील सांस्कृतिक आंदोलन के 75 बरस' पर बहुचर्चित विशेषांक
40. 30 अगस्त 2012: प्रगतिशील सांस्कृतिक आंदोलन के 75 बरस पर सेमिनार और *नया पथ* विशेषांक का लोकार्पण
41. अगस्त 2012: ओमप्रकाश वाल्मीकि के इलाज के लिए वित्तीय सहायता हेतु विभिन्न स्तरों पर सक्रिय पहलक़दमी
42. 27 सितंबर 2012: इब्बार रब्बी के इलाज के लिए वित्तीय सहायता के लिए दिल्ली हिंदी अकादमी से संपर्क
43. 26 अक्टूबर 2012: रामसागर पांडेय की स्मृति में श्रद्धांजलि सभा
44. जुलाई-दिसंबर 2012: *नया पथ* का संयुक्तांक प्रकाशित, *बालाबोधिनी* पर विशेष सामग्री
45. 20 अप्रैल 2013 : केंद्रीय कार्यकारिणी व परिषद की बैठकें
46. जनवरी-जून 2013 : 'हिंदी सिनेमा के सौ बरस' पर *नया पथ* विशेषांक
47. 28 जून 2013 : डा. शिवकुमार मिश्र की स्मृति में श्रद्धांजलि सभा
48. 24 अगस्त 2013 : केंद्रीय कार्यकारी मंडल की बैठक
49. 12 अक्टूबर 2013 : केंद्रीय कार्यकारीमंडल की बैठक, सांप्रदायिक फ़ासीवाद के उभार पर बात
50. 8 नंवबर 2013 : राजेंद्र यादव की स्मृति में संयुक्त श्रद्धांजलि सभा
51. 19 नवंबर 2013 : ओमप्रकाश वाल्मीकि की स्मृति में साझा श्रद्धांजलि सभा
52. 1 दिसंबर 2013 : केंद्रीय कार्यकारिणी की बैठक और राष्ट्रीय सम्मेलन का फ़ैसला
53. दिसंबर 2013-जनवरी 2014 : राष्ट्रीय सम्मेलन की तैयारी

1.18 साथियो, यहां हमने अपनी सीमित गतिविधियों और सक्रियता का संक्षिप्त सा ब्योरा दिया है। हमें अपनी सीमाओं का अहसास है और यह भी जानते हैं कि जो हो सका, उससे भी बेहतर हो सकता था। फिर भी फ़ख्र के साथ आपके सामने यह सच्चाई हम रख सकते हैं कि केंद्र के सीमित संसाधनों के बावजूद हम अन्य लेखक संगठनों की तरह एक 'बैनर' की तरह या एक 'काग़ज़ी संगठन' की तरह काम करने में यक़ीन नहीं रखते। हमें यह बताने में संकोच नहीं कि हमारे पास रोज़मर्रा का काम करने के लिए मानव संसाधन भी न होने के बराबर हैं, फिर भी हम एक जनसंगठन की तरह नियमित रूप से कार्यालय चलाने की कोशिश करते रहे हैं, अन्य किसी लेखक संगठन के पास शायद ही ऐसी व्यवस्था हो। देश के कोने कोने से आये लेखक केंद्र में आते और हम से संपर्क करने की स्थिति में होते हैं।

1.19 इसके बावजूद हम समय समय पर अपनी सीमाओं को कार्यकारिणी और परिषद के सामने रखते रहे हैं। मसलन, हमने कार्यकारिणी और परिषद को यह बताया कि कि *नया पथ* के नियमित प्रकाशन, वितरण और उससे जुड़े अन्य कामों के कारण हम पूरे देश में संगठन को चुस्तदुरुस्त करने के काम में समय नहीं दे पाये। हमने अपनी कार्यकारिणी की एक बैठक में यह भी कहा था कि 'हर राज्य का दौरा करके और वहां बैठकें आयोजित करके कुछ आयोजन कराने की दिशा में जो पहल हमें करनी चाहिए थी उसमें हम नाकाम रहे, यह कमज़ोरी स्वीकारने में हमें कोई हिचक नहीं, केंद्र का राज्यों से जिस स्तर का संवाद बना रहना चाहिए था, उसमें भी कमी रही, जिसकी वजह से पूरे संगठन में आये अवरोध और निष्क्रियता की हालत से उबरना संभव नहीं हो पाया।' पिछले सम्मेलन में *नया पथ* को नियमित करने का जो फ़ैसला लिया गया था उसका हमने मुस्तैदी से पालन किया, मगर सांगठनिक कमज़ोरी की इसी वजह से इसकी कोई देश के स्तर पर नेटवर्किंग नहीं हो पायी। *नया पथ* की एक साहित्यिक पत्रिका के रूप में देश में ही नहीं विदेश में भी एक प्रतिष्ठा बनी है। इसके कई ऐतिहासिक विशेषांक निकले और उन पर जितनी चर्चा हुई और जितना पाठकों का स्नेह मिला, वह शायद ही किसी लघुपत्रिका को हासिल हुआ हो। मगर हमारे संगठन की ज़्यादातर इकाइयां अपने ही संगठन की केंद्रीय पत्रिका के प्रति ज़्यादातर उदासीनता का रुख़ अख़्तियार किये रहीं, यह स्थिति अफ़सोसनाक है।

1.20 तमाम वस्तुगत और निजगत कारणों से कई राज्यों में इस सूरतेहाल में कोई ख़ास तब्दीली नहीं आ पायी। हमारी मध्य प्रदेश इकाई लगभग मृतप्राय हो गयी। यही हाल प. बंगाल, महाराष्ट्र, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश इकाइयों का है जिनमें न तो राज्य कार्यकारिणी की बैठकें ही बुलायी जाती रहीं और न कोई गतिविधि होती हुई नज़र आयी क्योंकि ये राज्य जलेस केंद्र के पास अपनी रिपोर्ट ही नहीं भेजते। छत्तीसगढ़ और उत्तराखंड जैसे नवगठित राज्यों में भी तमाम वस्तुगत परिस्थितियां संगठन बनाने के लिए अनुकूल हैं, मगर जिन साथियों पर ज़िम्मेदारी थी, उनके निष्क्रिय हो जाने से वहां इकाइयां बन ही नहीं सकीं। हमारे पास जिस भी राज्य इकाई का अनुरोध आता है हम वहां उनकी चिंता में शरीक होने को तैयार रहते हैं। राजस्थान राज्य इकाई के आमंत्रण पर उनकी कार्यकारिणी और परिषद की बैठक में 11 नवंबर 2012 को जयपुर गये और वहां राज्य स्तर की सक्रियता बढ़ाने के उनके प्रयास में शरीक हुए, मगर वहां स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। बिहार से, ख़ासकर बेगूसराय की ज़िला इकाई की सक्रियता की सूचना केंद्र के पास ज़रूर आती है, मगर बाक़ी ज़िला इकाइयों या राज्यस्तर के किसी आयोजन की सूचना केंद्र के पास नहीं आयी।

वस्तुगत हालात में जो तब्दीली आयी है, उसमें उत्तर प्रदेश के युवा लेखकों ने अपनी पहलक़दमी से जनवादी लेखक संघ के विस्तार और सक्रियता की जो मिसाल क़ायम की है वह पूरे संगठन के लिए उत्साहवर्धक और प्रेरणादायी है। संगठन को इसी तरह की सक्रियता से विकसित और विस्तारित किया जा सकता है, यह सम्मेलन इसी दिशा का संकेत दे रहा है।

अन्य राज्यों में झारखंड और हरियाणा को छोड़ कर किसी तरह की सक्रियता की कोई सूचना केंद्र के पास नहीं, राज्यों से सदस्यता अभियान, सदस्यता नवीकरण, आयोजनों आदि की सूचना या जानकारी भी हमें नहीं मिलती। इससे लगता है कि ज़्यादातर राज्यों में संगठन में एक ठहराव आ गया है। केंद्र की कार्यकारिणी की ओर से जो फ़ैसले होते हैं जिनमें राज्य सचिव भी शामिल होते हैं, मगर उन पर अमल करने की दिशा में कोई पहल नहीं की जाती। राष्ट्रीय सम्मेलन से पहले 31 दिसंबर 2013 तक

राज्य सम्मेलन करने के कार्यकारिणी के फ़ैसले पर भी ज़्यादातर राज्यों ने अमल नहीं किया, हमने अपनी कार्यकारिणी की एक बैठक में दुख व्यक्त करते हुए कहा था कि जब कोई धारा 'बहता नीर' की तरह रहती है तभी वह सौंदर्य हासिल करती है, ठहर जाने पर वह 'धारा' कहे जाने योग्य नहीं रहती।

1.21 हमारे संगठन के संविधान में इसी वजह से जनवरी-मार्च के बीच नवीकरण का प्रावधान रखा गया था, मगर किसी राज्य से नवीकरण की कोई ख़बर या उसका शुल्क केंद्र के पास नहीं आता। हमने कार्यकारिणी की एक बैठक में भी यह रेखांकित किया था कि 'अब तो राज्यसम्मेलन के वक़्त भी राज्य के नेतृत्वकारी साथी केंद्र का हिस्सा देना भूल जाते हैं।' सांगठनिक स्तर पर यह भयंकर कमज़ोरी बनी हुई है कि हम राज्य और ज़िलों में संगठन की जनवादी कार्यप्रणाली और संगठन को एक जीवंत संगठन की तरह चलाने की आदत विकसित कर ही नहीं पाये। आज जबकि युवा रचनाकार संगठन को मज़बूती प्रदान करने के लिए आगे आ रहे हैं, हर स्तर पर हमारे नेतृत्वकारी साथियों को अपनी कार्यप्रणाली चुस्त दुरुस्त करनी पड़ेगी जिससे यह संगठन 'बहता नीर' की तरह अपनी आभा क़ायम रख सके। आने वाले दिनों में अगर सभी इकाइयां अपनी पूरी ज़िम्मेदारी के साथ संचालित नहीं होंगी तो हमारे इतने बड़े संगठन के लिए यह एक शर्मनाक स्थिति ही होगी। पिछली कार्यकारिणी की बैठक में हमने कहा था कि 'इस सूरतेहाल को बदलने में पूरे संगठन को अपनी इच्छाशक्ति के साथ लगना होगा। यह काम राज्य इकाइयों के सक्रिय सहयोग के बग़ैर संभव नहीं।' आज वस्तुगत हालात हमें आगे बढ़ने के लिए ललकार रहे हैं, अगर हम अपनी सक्रियता से इस आवाहन पर आगे नहीं बढ़ते, जनवादी तरीक़े से अपना कामकाज नहीं करते तो इस संगठन की छवि को गंदला ही कर देंगे। इस राष्ट्रीय सम्मेलन में हम पूरी संजीदगी से यह संकल्प ले कर जायें कि अपने संगठन का अभूतपूर्व विस्तार करेंगे, सारी लेखकीय प्रतिभा के साथ एकजुटता क़ायम करेंगे जिससे कि यह संगठित आंदोलन बन सके। और यह मुमकिन है, मगर इसे मुमकिन बनाना आप सब का सामूहिक दायित्व होगा।

1.22 साथियो, आने वाले दिनों में हमें तमाम कठिन परिस्थितियों और प्रतिकूल माहौल का सामना करना पड़ सकता है, मगर संसार के सभी बड़े रचनाकारों, कलाकारों की तरह प्रतिकूल हालात से वैचारिक संघर्ष के लिए एक लेखक संगठन के रूप में हमें अपना दायित्व निभाना ही होगा और इस संघर्ष से ही हमारा लेखन और हमारा संगठन एक चमक हासिल करेगा जैसा कि दुनिया के पैमाने पर अतीत में हम देख चुके हैं।

1.23 आज सबसे बड़ा ख़तरा सांप्रदायिक फ़ासीवाद के सहस्रबाहु का है जो कारपोरेट जगत के हितों की रक्षा के लिए केंद्र की सत्ता हासिल करने की ताबड़तोड़ कोशिश कर रहा है। इज़ारेदार पूंजीपति किस तरह इस सांप्रदायिक फ़ासीवादी विचारधारा पर आधरित आर एस एस जैसे संगठन के द्वारा मनोनीत नेता को भावी प्रधानमंत्री के रूप में अपना चुके हैं, उसे मीडिया पर उभार रहे हैं, यह सत्य किसी से छिपा नहीं है। इंटरनेट की दुनिया में यह छल छिपाया भी नहीं जा सकता। *रायटर* नामक एक विदेशी न्यूज़ एजेंसी ने इस नेता की प्रधानमंत्री पद की दावेदारी की घोषणा से पहले ही 7 सितंबर, 2013 को संजय मिगलानी की एक रिपोर्ट छापी जो इंटरनेट पर भी उपलब्ध है, जिसमें कहा गया है कि भारत के तीन चौथाई इज़ारेदार पूंजीपति इस भाजपायी नेता को प्रधानमंत्री पद पर आसीन देखना चाहते हैं। इन

पूंजीपतियों के इंटरव्यू भी टीवी चैनलों पर आये हैं जो बिना लागलपेट इस नेता के प्रति अपने प्यार का इज़हार कर चुके हैं।

1.24 सांप्रदायिक फ़ासीवाद की विचारधारा का उभार, भारत की आज़ादी के दौर में विकसित मानवीय मूल्यों के विनाश का कारण बन सकता है। भारत की सदियों की साझा संस्कृति के भावी विकास से ही हम एक आधुनिक सभ्य समाज की रचना कर सकते हैं। हमारे इस अभियान को ऐसी ताक़तों से कहीं ज़्यादा ख़तरा है जिनका जनवाद में विश्वास ही नहीं। सांप्रदायिक ध्रुवीकरण करने के इरादे से राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ जगह जगह सांप्रदायिक सदभाव की हत्या करने में अभी से लग गया है। यूपी जैसे हिंदी-उर्दूभाषी क्षेत्र में जहां उनकी सरकार नहीं हैं, और जहां पिछले चुनावों में उनको कामयाबी नहीं हासिल हो पायी, यह फ़ासीवादी संगठन पूरी ताक़त से सांप्रदायिक ज़हर फैलाने की कोशिश कर रहा है क्योंकि लोकसभा की अस्सी सीटों वाले इस राज्य में कामयाबी हासिल किये बग़ैर इस नेता को प्रधनमंत्री की कुर्सी तक पहुंचा पाना सांप्रदायिक फ़ासीवादी ताक़तों के लिए मुमकिन नहीं, लालकृष्ण आडवाणी की तरह वह 'प्रतीक्षारत प्रधानमंत्री' ही रह जायेगा। इसलिए संघ और इज़ारेदार घरानों का मीडियातंत्र अवाम के दिलोदिमाग़ में सांप्रदायिक ज़हर भर कर सत्ता हथियाने की जीतोड़ कोशिश कर रहा है। आज ये तत्व अचानक फिर से धर्मधुरंधर हो उठे हैं, फिर से मंदिर की अचानक याद आ गयी है, राममंदिर के नाम से करोड़ों रुपये डकार जाने के बाद भूली बिसरी बेचारी अयोध्या की चिंता एक बार फिर से सताने लगी है, उसकी चौरासी कोसी यात्रा के बहाने धार्मिक भावनाओं का दोहन करने की योजना आदि उसी मक़सद के अक्स हैं। इसीलिए आज देश के हर नागरिक, हर देशप्रेमी और भारतीय समाज को प्रगति के रास्ते पर ले जाने के स्वप्न संजोये रचनाकार, बुद्धिजीवी का यह सामाजिक दायित्व है कि वह इन समाज-विरोधी ताक़तों के इरादों को कामयाब न होने देने के हर संगठित और असंगठित प्रयास को बल पहुंचाये।

1.25 इतिहास गवाह है कि फ़ासीवादी ताक़तों ने हमेशा लेखकों, कलाकारों की अभिव्यक्ति की आज़ादी पर हमला बोला, मगर उन ताक़तों के ख़िलाफ़ प्रतिरोध की आवाज़ भी हमेशा संगठित लेखक समुदाय की ओर से उठी। इसीलिए आज यह सबसे बड़ी ज़रूरत है कि हम तमाम सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक मसलों पर और जनवादी मूल्यों के विकास के लिए मिलजुल कर काम करें, रचनारत भी रहें और अपने संगठन के विकास और उसकी प्रतिष्ठा को क़ायम रखने की दिशा में भी सोचें। हमने अपनी कार्यकारिणी की बैठकों में कहा था कि कई ओर से संगठन पर हमले हो रहे हैं। राष्ट्रीय अख़बार ही नहीं, एक दो लघुपत्रिकाओं के संपादक भी संगठन के ख़िलाफ़ झूठ पर आधारित स्टोरीज़ छापते रहते हैं, हमें विनम्रता के साथ उनके झूठ का प्रतिवाद करना पड़ा। फ़ेसबुक पर भी कभी कभार संगठनविरोधी कुछ टिप्पणियां आ ही जाती हैं, हमारे जागरूक साथी उनका जवाब भी देते हैं। यह क्यों होता है, इस पर हमें अचरज ही होता है। हमारा संगठन लेखकों का या अख़बारों के संपादकों का कोई अहित तो करता नहीं, बल्कि जहां कहीं संभव हुआ, लेखकों की सहायता ही की है। इसलिए यह समझ से परे है कि जलेस के विरोध में कुछ लेखक पत्रकार क्यों कुप्रचार करते हैं। आज हम अपने सम्मेलन से एक नया संकल्प ले कर जायेंगे। हम अपने संगठन की जीवंतता किसी भी स्तर पर कमज़ोर नहीं होने देंगे। हम पूरे संगठन की इच्छाशक्ति के साथ और एकजुट हो कर आने वाली चुनौतियों का मुक़ाबला करेंगे। हमें इस सम्मेलन में इसके लिए कुछ फ़ैसले लेने होंगे।

2.1 *एक* : जिन राज्यों में राज्य सम्मेलन अभी नहीं हो पाये हैं वे आने वाले दो महीनों के भीतर अपने राज्य सम्मेलन कर लेंगे। इन राज्य सम्मेलनों में विचार के केंद्र में किसी न किसी रूप में सांप्रदायिक फ़ासीवाद की ख़तरनाक मुहिम ही रहनी चाहिए जो अभिव्यक्ति के लिए सबसे बड़ा ख़तरा बन सकती है, इस मुहिम के ख़िलाफ़ हमारा वैचारिक संघर्ष हमारी प्राथमिकता हो।

2.2 *दो* : आने वाले समय में किसी न किसी विधा पर युवा लेखकों की रचनाओं की एक अखिल भारतीय स्तर की वर्कशाप हर राज्य आयोजित करे और उसकी रूपरेखा केंद्र के सहयोग से हर राज्य में नवनिर्वाचित कार्यकारिणी बनाये जिससे राज्यों में आयोजन का दोहराव न हो। उसी के साथ नये सदस्यों को संगठन से जोड़ा जाये, उर्दू लेखकों, महिला लेखकों और दलित व आदिवासी लेखकों को विशेष रूप से शामिल करने की योजना बनायी जाये, इसके लिए राज्यस्तर की वर्कशाप आयोजित की जा सकती है। अखिल भारतीय स्तर के आयोजन के अवसर पर राज्य इकाई फ़ंड संग्रह के अलावा एक स्मारिका प्रकाशित करने की योजना ज़रूर बनाये जिसके लिए सभी ज़िला इकाइयां स्थानीय स्तर के विज्ञापन जुटायें और इतनी अधिक धनराशि जमा कर लें जिससे आने वाले दिनों में राज्य स्तर के आयोजन करने में किसी तरह की आर्थिक कठिनाई का सामना न करना पड़े और किसी एक व्यक्ति को निजी तौर पर संगठन के ख़र्च का बोझ न उठाना पड़े जैसाकि कई जगह हो रहा है।

2.3 *तीन* : संगठन के नये घोषणापत्र और संविधान के मसौदों पर हर स्तर पर बातचीत आयोजित की जाये और संशोधन के सुझाव केंद्र के पास भेजे जायें।

2.4 *चार* : नयी सदस्यता और नवीकरण की पूरी सूचना, सदस्यों के पते, मोबाइल नं. ईमेल और केंद्र की धनराशि एकत्रित करके राज्यसम्मेलन के समय पर केंद्र को हर हालत में भेजी जाये।

2.5 *पांच* : सारी इकाइयां नियमित तौर पर अपनी कार्यकारिणी व परिषद की बैठकें करके अपने अपने यहां के आयोजन के फ़ैसले लें और उन पर अमल करें।

2.6 *छह* : *नया पथ* की बिक्री, प्रचार-प्रसार को हर इकाई अपना सांगठनिक दायित्व समझे और केंद्र के साथ सहयोग करे। नयी प्रतिभाओं की स्तरीय रचनाएं व लेख स्थानीय स्तर पर बहस के लिए रखे जायें और उन्हें प्रकाशन के लिए *नया पथ* या अन्य लघुपत्रिकाओं को भेजा जाये जिससे प्रतिभावान रचनाकार देश में अपनी अभिव्यक्ति के कारण जाने जायें, जलेस इकाइयों को यह दायित्व भी निभाना चाहिए।

2.7 *सात* : केंद्रीय स्तर पर नवनिर्वाचित केंद्रीय नेतृत्व अन्य समानविचारधर्मा संगठनों के साथ तालमेल के किसी ढांचे की पहलक़दमी करे जिससे एक सांस्कृतिक आंदोलन के विकास की संभावना को बल मिले।

इस तरह इस सात सूत्री कार्यक्रम पर अमल करके सुनियोजित तरीक़े से हम अपने इस आठवें राष्ट्रीय सम्मेलन में आगे बढ़ने का संकल्प यदि आज लें तो जनवादी लेखक संघ अपनी सही सामाजिक भूमिका निभाने में कामयाब होगा।

जनवादी लेखक संघ (दिल्ली राज्य) का आठवां राज्य सम्मलेन

अरविन्द मिश्र

जनवादी लेखक संघ (दिल्ली राज्य) का आठवां राज्य सम्मलेन गांधी शांति प्रतिष्ठान में 1 नवंबर 2014 को संपन्न हुआ। वरिष्ठ लेखक एवं चिन्तक तुलसीराम ने सम्मलेन का उद्घाटन भाषण दिया। समकालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन के सन्दर्भ में 'साहित्य और विचारधारा' विषय पर अपना वक्तव्य देते हुए उन्होंने कहा कि हमारे दौर में लेखकों एवं कलाकारों को वैचारिक संघर्ष के लिए फिर से तैयार होना होगा। सत्तावादी राजनीति जनाकांक्षा तथा जनांदोलनों को दबाने के लिए नये राजनीतिक एवं सांस्कृतिक हथियारों से लैस होकर आयी है। आज वह कहीं ज्यादा संगठित और सशक्त है। इसका सामना करने के लिए ज़रूरी है कि लेखक बिरादरी अधिक प्रतिबद्ध और संगठित होकर सामने आये। आज मिथकीय लेखन के ख़िलाफ़ प्रगतिशील लेखन की ज़रूरत है। वित्तीय पूंजी तथा धार्मिक उन्माद के गठजोड़ के ख़िलाफ़ साझा मोर्चा बनाकर संघर्ष करने की ज़रूरत है। उन्होंने कहा कि इस समय जो राष्ट्रवाद हमारे यहां विकसित हो रहा है, वह यूरोपीय फ़ासीवाद का प्रतिरूप है। यह संकुचित विचारधारा पर आधारित अवधारणा है।

अपने वक्तव्य में तुलसीराम जी ने कहा कि देश ख़तरनाक दौर से गुज़र रहा है। देश में विचारधारा का भारी संकट है। चुनावों के दौरान और उसके बाद हिंदूवादी ध्रुवीकरण की कोशिशों का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा की ध्रुवीकरण कि यह कोशिश आज़ादी से पहले से चल रही है। समय रहते इसका वैचारिक विरोध नहीं किया गया तो भारत मध्ययुग के अंधकार में प्रवेश कर जायेगा। इस समय हमारे देश में सीधे सीधे फ़ाइनेंस कैपिटल को आमंत्रित किया जा रहा है। इसके लिए तमाम क़ानून बदले जा रहे हैं। ऐसी धारणा बनायी जा रही है कि तमाम क़ानूनों के कारण ही विकास नहीं हो पा रहा है। डिजिटल डिवाइड का ज़िक्र करते हुए उन्होंने कहा कि इस समय लोगों के बीच एक ख़ास तरह का बंटवारा सामने आया है—कुछ लोग और राष्ट्र सूचना समृद्ध हैं, कुछ और सूचना दरिद्र। उन्होंने लेखकों से आगे आने के लिए आह्वान करते हुए कहा कि वे मिलकर एक सशक्त वैकल्पिक विचारधारा विकसित करने की कोशिश करें। उन्होंने अफ़सोस जताया कि मिथकों का प्रचार जिस तरह से किया जा रहा है, इसके माध्यम से समाज को जिस तरह से सांप्रदायिक और उन्मादी बनाने की कोशिश चल रही है, उसका जवाब देने के लिए लेखकों के तरफ़ कुछ नहीं किया जा रहा है। उन्होंने अंधविश्वासों के ख़िलाफ़ लड़ाई

को हमारे समय की सबसे बड़ी ज़रूरत के रूप में रेखांकित किया। इलेक्ट्रोनिक माध्यम का पूरा तंत्र इस अन्धविश्वास के प्रचार प्रसार में लगा हुआ है। इतिहास को तोड़ने मरोड़ने के ख़िलाफ़ भी कलम चलाने की ज़रूरत है। उन्होंने कहा कि अगर लेखक और बुद्धिजीवी समुदाय ने इन साज़िशों के ख़िलाफ़ संघर्ष नहीं किया तो देश में तार्किकता के लिए जगह नहीं रह जाएगी।

उद्घाटन सत्र की विशिष्ट अतिथि रमणिका गुप्ता ने वंचित समाज के लोगों के वर्ण व्यवस्था की ओर आकर्षित होने का उल्लेख करते हुए कहा कि यह ऐसा ही है जैसे बहेलिये के पास कबूतर ख़ुद चला जाये। उन्होंने हिंदुत्व की विचारधारा को भेद भाव पर आधारित बताते हुए यह प्रश्न किया कि हम लेखक बुद्धिजीवी इसके ख़िलाफ़ क्या कर रहे हैं? उन्होंने माना कि आज लड़ाई आस्था और तर्क के बीच है। हिंदुत्ववादी साहित्य आस्था की बात करता है जबकि दलित, आदिवासी, प्रगतिशील साहित्य तर्क की बात करता है। सभी प्रगतिशील संगठनो को फिर से एकजुट होकर आस्था के ख़िलाफ़ तर्क की लड़ाई को आगे बढ़ाना चाहिए।

उद्घाटन सत्र के बाद पहले सत्र में 'साहित्य और विचाधारा : नये सदर्भ' विषय पर बीज वक्तव्य देते हुए विश्वनाथ त्रिपाठी ने कहा कि आज की व्यवस्था सब कुछ पैसे के लिए करती है। पैसे के लिए ज़रूरी चीज़ों को अनुपलब्ध बनाया जा रहा है। जो चीज़ें जितना ज़रूरी है उन्हें उतना अनुपलब्ध बनाया जा रहा है। इस संदर्भ में उन्होंने जीवन रक्षक दवाओ का हवाला दिया जिनकी क़ीमत बेतहाशा बढ़ी है। सूचना तंत्र का इस्तेमाल लोगों को गलत सूचना देने तथा अज्ञानी बनाये रखने के लिए किया जा रहा है। सभी तरह के उन्माद फैलाने के लिए इसी सूचना तंत्र का इस्तेमाल किया जा रहा है। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि वर्तमान तकनीक में सृजनात्मकता के लिए भी अवकाश है। ज़रूरत है इस तकनीक को सकारात्मक बदलाव का माध्यम बनाने की। नयी तकनीक अगर शोषण का माध्यम है तो वह क्रांति का माध्यम भी बन सकती है।

कवि पत्रकार विष्णु नागर ने विचारधारा के अंत की बात को मूर्खतापूर्ण करार देते हुए कहा कि 1991 से जो आर्थिक उदारवाद चल रहा है, उससे हिंदुत्ववाद के प्रचार-प्रसार को बहुत बढ़ावा मिला है। लेकिन उसी पैमाने पर वामपंथी हस्तक्षेप में कमी आई है। यह बात लगातार चिंता का विषय बनी हुई है। उन्होंने मज़दूर, किसान और आदिवासी आंदोलनों और संगठनों के पस्त होने पर भी चिंता ज़ाहिर की। लेखक कलाकार बुद्धिजीवियों के लिए यह अमूर्तन में जाने का दौर नहीं है। विचारहीन लेखन किसी समय के लिए किसी काम की नहीं होती।

प्रसिद्ध कथाकार असग़र वजाहत ने वामपंथी लेखन के इतिहास को याद करते हुए उसे और धारदार तरीक़े से आगे बढ़ने पर बल दिया। उन्होंने माना कि वामपंथी आंदोलनों का कमज़ोर पड़ना लेखक बुद्धिजीवी बिरादरी की बड़ी असफलता है। दलित-आदिवासी लेखक हरिराम मीणा तथा केदार मीणा ने आदिवासी दलितों के संघर्ष को याद किया और वामपंथी बुद्धिजीवियों से कहा कि वे उनकी आलोचना करने की जगह उनके संघर्ष में साथ दे। इस बात पर चिंता जताई कि आज आदिवासियों को हर जगह पीछे धकेला जा रहा है। उर्दू लेखक खालिद अशरफ़ ने उर्दू को अल्पसंख्यकों की भाषा के रूप में स्थापित किये जाने तथा उसे भाषाई अलगाव का शिकार बनाने पर अपनी गहरी चिंता ज़ाहिर की। दलित लेखिका अनीता भारती ने स्त्रियों के मुद्दे पर कई महत्वपूर्ण सवाल उठाये। सत्र की अध्यक्षता करते हुए लेखिका मैत्रयी पुष्पा ने बहस को स्त्रियों के मुद्दे पर केन्द्रित करते हुए कहा कि जिस तरह का परम्परावादी उन्मादी

समाज बनाने की कोशिश चल रही है, कोई इस मुग़ालते में नहीं रहे कि वह सुरक्षित रहेगा। इसमें स्त्री, दलित और आदिवासियों के लिए और बुरे दिन आने वाले हैं। दोनों सत्रों का संचालन संजीव कुमार ने किया।

भोजनावकाश के बाद के दो सत्र संगठन-सत्र तथा काव्यगोष्ठी के थे। इसमें क्रमशः जनवादी लेखक संघ के संगठन पदाधिकारियों का चुनाव तथा अनेक गणमान्य कवियों द्वारा काव्य पाठ किया गया। इस अवसर पर डॉ बली सिंह के नए काव्य संग्रह 'अभी बाकी है' का लोकार्पण भी हुआ।

संगठन सत्र में जिस पदाधिकारी मंडल का चुनाव हुआ, वह इस प्रकार है :

परामर्श मंडल : श्री अतीकुल्ला, असलम परवेज़, असग़र वजाहत, इब्बार रब्बी, विष्णु नागर, प्रो. नित्यानंद तिवारी, कन्तिमोहन सोज़

अध्यक्ष : मैत्रेयी पुष्पा

कार्यकारी अध्यक्ष : रहमान मुसव्विर

उपाध्यक्ष : रेखा अवस्थी, प्रो. हरिमोहन शर्मा, गोबिंद प्रसाद, ख़ालिद अशरफ़, हरियश रॉय, देवेन्द्र चौबे, बली सिंह, हीरालाल नागर

सचिव : प्रेम तिवारी

उपसचिव : बजरंग बिहारी तिवारी, अरविन्द मिश्र, शम्भू यादव, अंजना बख्शी, संजीव कौशल, बलवंत कौर, जफ़र इक़बाल

कोषाध्यक्ष : महेंद्र बेनीवाल

उत्तर प्रदेश जनवादी लेखक संघ का सातवां राज्य सम्मलेन मुरादाबाद में संपन्न

नलिन रंजन सिंह

उत्तर प्रदेश जनवादी लेखक संघ का सातवां राज्य सम्मलेन 13 दिसम्बर को मुरादाबाद में संपन्न हुआ। सम्मलेन में भाग लेने के लिए ठण्ड और बूंदाबादी के बावजूद तमाम लेखक विभिन्न जिलों से एक दिन पहले से ही पहुंचना शुरू हो गए थे। एक जगह एक साथ रुकने की व्यवस्था ने लेखकों का आनंद दुगुना कर दिया। अरसे बाद सब एक जगह मिलने का अवसर पाकर प्रसन्न थे। 13 दिसम्बर की दोपहर तक लोगों का आना लगा रहा। उद्घाटन सत्र में जनवादी लेखक संघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष दूधनाथ सिंह, उपाध्यक्ष चंचल चौहान, उपमहासचिव संजीव कुमार, प्रदेश अध्यक्ष नमिता सिंह, प्रदेश सचिव प्रदीप सक्सेना, गीतकार माहेश्वर तिवारी, आयोजन सचिव मुशर्रफ अली और स्वागत समिति से ओंकार सिंह मंच पर

मौजूद थे। स्वागत समिति की ओर से स्वागत भाषण करते हुए ओंकार सिंह ने आये हुए लेखकों का स्वागत किया और वर्तमान समय के ख़तरों से आगाह किया। उसके बाद राष्ट्रीय उपाध्यक्ष चंचल चौहान ने वक्तव्य देते हुए कहा कि फरवरी 1982 में जलेस की स्थापना हुई और तब से जलेस सक्रिय है। आज समय की मांग है कि इस सक्रियता को और आगे बढ़ाया जाए।

सम्मलेन का उद्घाटन करते हुए जलेस के राष्ट्रीय अध्यक्ष प्रख्यात साहित्यकार दूधनाथ सिंह ने कहा कि दक्षिणपंथ ने कभी भी कोई बड़ा लेखक, कलाकार, संस्कृतिकर्मी नहीं पैदा किया और न ही कर सकता है। हमारी जनता प्रायः मिथ्या चेतना की शिकार हुई है और इसी के चलते दक्षिणपन्थ का यह दौर-दौरा आया है जो ज्यादा दिनों तक नहीं चलेगा। भारतीय गौरव का झूठा बखान करना संघ का एज़ेण्डा है। यह एक सारहीन किस्म का प्रचार है। वे साहित्य और संस्कृति को अलग-अलग चीजें मानते हैं। संस्कृति के धरातल पर वे पुरातनता और अंधत्व के पक्षधर हैं। साहित्य के सम्बन्ध में उनकी कोई जानकारी नहीं है और न उनके पास कोई लेखक है। प्रेमचंद के ज़माने के लेखक उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ लड़ रहे थे। उस समय भारत गुलाम था। मौजूदा समय में परिस्थितियां बदली हैं। भारतीय भाषाओं के लेखक देशी शासकों का प्रतिपक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। देशी शासक एक नहीं, कई तरह की गुलामी जनता पर थोप रहे हैं। लूट-खसोट, दलाली, मारकाट, क़त्ल-ए-आम को प्रश्रय दे रहे हैं। उन्होंने यह भी कहा कि भोजपुरी, अवधी आदि बोलियों को भाषा की तरह दर्जा नहीं दिया जा सकता। केदार नाथ सिंह भोजपुरी की बड़ी वकालत करते हैं लेकिन वो भोजपुरी में एक अच्छी कविता लिख कर दिखाएं।

गीतकार माहेश्वर तिवारी ने कहा कि 1966 में वाराणसी में भोजपुरी प्रदेश की बात उठी थी। तब से जब तब बोलियों को खड़ी बोली हिंदी के ख़िलाफ़ खड़ा करने का प्रयास किया जाता रहा है। जलेस के उपमहासचिव और युवा आलोचक संजीव कुमार ने 'संगीनों से आप सब कुछ कर सकते हैं सिवा उन पर बैठने के'—इस कथन से शुरू करके मौजूदा हालात के बारे में प्रासंगिक बातें जलेस के उत्तर प्रदेश राज्य सम्मेलन में कहीं । उन्होंने प्रो. बत्रा की भी क्लास ली और उनके विचारों से आने वाले समय में शिक्षा पर पड़ने जा रहे प्रभावों से सचेत किया। उन्होंने दीनानाथ बत्रा की पुस्तक का उल्लेख करते हुए कहा कि बत्रा का मानना है कि 'शिक्षा मोक्ष का साधन है'। बत्रा की पुस्तक में आये सन्दर्भों को झूठ का पुलिंदा बताते हुए उन्होंने बत्रा के प्रिय शब्दों का बार-बार किसी अन्य नाम से उल्लेख का शोधपरक उदहारण भी प्रस्तुत किया। मौजूदा हालात की खोजखबर लेते हुए उन्होंने सतर्क रहने के लिए लेखकों को आगाह किया। अध्यक्षीय वक्तव्य देते हुए कथाकार नमिता सिंह ने मौजूद परिस्थितियों पर प्रकाश डाला और लेखक के उत्तरदायित्व का सवाल भी उठाया। उन्होंने प्रतिनिधियों का स्वागत करते हुए सम्मलेन की सफलता की कामना की और लेखकों का आह्वान किया कि कठिन समय में फ़ासीवादी ताकतों से मुकाबले के लिए तैयार हो जाएं। उद्घाटन सत्र का कुशल संचालन राज्य सचिव प्रदीप सक्सेना ने किया। उन्होंने संचालन के साथ-साथ जलेस के लेखकों की महत्वपूर्ण उपलब्धियों की भी चर्चा की और सक्रियता बनाये रखने पर जोर दिया।

दूसरे सत्र में 'मौजूदा हालात में साहित्य के सरोकार और लेखक की भूमिका' विषय पर चर्चा हुई। चर्चा में उपमहासचिव संजीव कुमार ने लेखक की भूमिका को रेखांकित करते हुए उसके कर्तव्यों और समय के सरोकारों से उसके जुड़ावों को चिन्हित किया और कहा कि लेखक वक्त की मांग को समझें और अपनी भूमिका निभाएं। इसी सत्र में बोलते हुए लखनऊ जलेस के सचिव नलिन रंजन सिंह ने

कहा कि आज साहित्य और राजनीति का अंतर्संबंध बदल गया है। प्रेमचंद ने कहा था कि साहित्य राजनीति के आगे-आगे चलने वाली मशाल है जबकि आज स्थिति उल्टी है। आज दीनानाथ बत्रा जैसे लोग राजनीति के हिसाब से साहित्य, इतिहास और संस्कृति को पीछे-पीछे चला रहे हैं। प्रेमचंद को याद करते हुए उन्होंने कहा कि प्रेमचंद ने कहा था कि जो वंचित है, दलित है, कमजोर है, उसकी हिमायत करना साहित्यकार का फ़र्ज़ है। आज वंचितों, दलितों को पहचान की राजनीति से जोड़ कर सांप्रदायिक और जातिवादी शक्तियां अपना उल्लू सीधा कर रही हैं। मिथक और इतिहास के घालमेल से इसे और पुख्ता करने की कोशिश की जा रही है। अच्छे दिनों की आड़ में एक ऐब्सर्ड माहौल बनाया जा रहा है जहां लफ्फाजी पर झूमते लोगों को कॉर्पोरेट घराने मीडिया के इशारों पर नचा रहे हैं और अपना घर भर रहे हैं। यह हम लेखकों के लिए चुनौती है और दायित्व भी कि जिस तरह हम देख रहे हैं उस तरह लिखें। हमें अपना रास्ता बनाना होगा जो जनवाद का रास्ता होगा। सत्र की अध्यक्षता करते हुए चंचल चौहान ने इस दौर में कबीर के विचारों से लेखकों को अनुप्राणित होने का आह्वान किया। कबीर के तमाम दोहों की चर्चा करते हुए उन्होंने लेखकों के दायित्व को परिभाषित किया। इस सत्र का संचालन प्रदेश उपसचिव रमेश कुमार ने किया।

तीसरा सत्र सांगठनिक सत्र था जिसमें सबसे पहले सचिव प्रदीप सक्सेना ने रिपोर्ट प्रस्तुत की। रिपोर्ट पर कई जिलों के प्रतिनिधियों ने चर्चा की और उसे अंतिम रूप देने हेतु सुझाव दिए। सांगठनिक सत्र में लेखकों के नए नेतृत्व का चुनाव भी हुआ। चुनाव में नमिता सिंह (अलीगढ़) को अध्यक्ष, प्रदीप सक्सेना (अलीगढ़) को सचिव और नलिन रंजन सिंह (लखनऊ) को कार्यकारी सचिव चुना गया। कुल छः उपाध्यक्ष चुने गए जिनके नाम इस प्रकार हैं : हरीश चन्द्र पाण्डेय (इलाहाबाद), सुधीर सिंह (इलाहाबाद), अनिल कुमार सिंह (फैजाबाद), शौक अमरोहवी (अमरोहा), मुनीश त्यागी (मेरठ) और प्रमोद कुमार (गोरखपुर)। इस अवसर पर चुने गए चार उप सचिव इस प्रकार हैं : रमेश कुमार (अलीगढ़), संतोष चतुर्वेदी (इलाहाबाद), उमा शंकर परमार (बांदा) और तारिक छतारी (अलीगढ़)। मुशर्रफ़ अली (मुरादाबाद) को कोषाध्यक्ष चुना गया। नए संरक्षक मंडल में शेखर जोशी, दूधनाथ सिंह, काजी अब्दुल सत्तार, गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव, विनोद दत्ता और माहेश्वर तिवारी को चुना गया। केशव तिवारी (बांदा), टिकेन्द्र शाद (मथुरा), वेद प्रकाश (गोरखपुर), प्रियंवद (नॉएडा), अजय बिसारिया (अलीगढ़), अली बाकर जैदी (लखनऊ), ओंकार सिंह (मुरादाबाद), एम.पी सिंह (वाराणसी) अता रहीम और के.के. नाज़ को कार्यकारिणी में और संध्या सिंह, अजित प्रियदर्शी, ज्ञान प्रकाश चौबे (लखनऊ), रामवीर सिंह, तस्लीम सुहैल, हनीफ मदार, धर्मराज (मथुरा), प्रेमनंदन (फतेहपुर), रामपाल सिंह (मुरादाबाद), सुरेश चन्द्र, पी.के. सिंह (बांदा) और अमरनाथ मधुर को राज्य पार्षद चुना गया।

शाम को काव्य संध्या का आयोजन किया गया जिसमें नलिन रंजन सिंह, ज्ञान प्रकाश चौबे, के.पी.सिंह, संतोष चतुर्वेदी, अजित प्रियदर्शी, महेंद्र प्रताप, संध्या सिंह, सुजीत कुमार सिंह, शिवानन्द मिश्रा, अजय कुमार पाण्डेय आदि ने भागीदारी की।